भारतीय तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञान धारा 9)

Indian Facts : Beyond Modern Science

ब्रह्माण्ड-आकाश-काल एवं जीव : अनन्त

Infinite of universe-space-time & soul

(परम परतंत्रता से परम स्वतंत्रता)

पावन -स्मरण
8 वीं जैन एकता संगोष्ठी (11-2-07)
तेरापंथी सभा भवन नाईयों की तलाई उदयपुर
आयोजक(1) धर्म दर्शन सेवा संस्थान उदयपुर
(आचार्य श्री कनकनन्दी ससंघ आशीर्वाद प्राप्त)
(2)श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, उदयपुर

लेखक :- वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

-:प्रकाशक:-

(1)धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत)
(2)धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)
धर्म दर्शन विज्ञान शोध एवं सेवा संस्थान की शाखा- मुजफ्फरनगर, गाजियाबाद, कोटा, सलुम्बर, प्रतापगढ, मुंबई, अमेरिका, सागवाडा

भारतीय तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञान धारा-9)

Indian Facts : Beyond Modern Science

ब्रह्माण्ड-आकाश-काल एवं जीव : अनन्त

Infinite of universe-space-time & soul

(परम परतंत्रता से परम स्वतंत्रता)

सूचना- इस कृति का छोटा रूप भी उपलब्ध है

लेखक :- वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव

ग्रंथाङ्क-165 प्रथम संस्करण -2007 प्रतियाँ-1000
मूल्य -201/-रुपये (पुन: प्रकाशनार्थे)
द्रव्य दाता-आजीवन सदस्य
(1)Lataji w/o Nirmal Kumar Dosi
Jaina scholar`s visitor programme
22 Addington city.
E. Brunswick N. J. 08816
Tel. 001-732-390-0296
(2) सेठ धनराज जी पन्नालालजी चीतरी (3) सेठ हुकम चन्दजी मंगल जी चीतरी (4) ब्र. केसर बाई

मुखपृष्ठ एवं मुद्रांकन :- मुनि तीर्थनन्दी

मुद्रक शोधन एवं लेखन सहायक:- मुनि श्रुतनंदी जी, मुनि चिन्मयानंद जी, मुनि आध्यात्मनन्दी जी, ब्र. सोहनलाल, प्रो. प्रभात कुमार गाजियाबाद, प्रियंका भोजावत, प्रियंका जैन-उदयपुर, मोनम जैन, उर्वी कोठारी,नेहा पालवीया-सागवाड़ा, विजय लक्ष्मी गोदावत, दिपीका शाह, हेमलता- शाह, शर्मीला जैन, इतिक्षा जैन, आँचल जैन, पायल जैन, धवल शाह, खूशबू जैन, अखिल शाह, रिया शाह, किमी शाह, अल्का जैन, टीना जैन, रूपल जैन, जयदीप जैन, (पुर्नवास कॉलोनी सागवाडा)

मुद्रक : **सीमा प्रिन्टर्स**, उदयपुर फोन : 0294-3295406

विषय-अनुक्रमणिका

I. विज्ञान एवं आध्यात्मिक के समन्वय के प्रतीक — **पृ.सं.**

आ. कनकनन्दी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व — 7-10

II. प्राक् कथन, — **11-21**

(1) **करें परम-सत्य की खोज वैज्ञानिकाध्यात्मिकता से** — 11

(2) वैज्ञानिकों द्वारा अनुत्तरीत प्रश्न- (3) वैज्ञानिकों को आह्वान — 15,16

(4) धार्मिक जनों को आह्वान (5) इस कृति के प्रेरणा स्रोत — 19,20

III.**अध्याय**-1 — **22-46**

(1) **परम सत्य की खोज एवं उपलब्धि के विविध आयाम** — 22

(2) सत्य की महिमा (3) आत्मा के अशुद्ध एवं शुद्ध रूप — 22,26

(4) आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से ब्रह्माण्ड एवं जीव — 28

(5) विश्व का स्वरूप : केवल तरंगों से निर्मित — 30

(6) विश्व के मूल संघटक परमाणु यानी परमाणुओं का विश्व — 31

(7) अंतरिक्ष की वक्रता पदार्थ के कारण (8) बुलबुले जैसा विश्व — 32,33

(9) कितने तारे दिखते हैं (10) ब्रह्माण्ड और जीव सृष्टि — 33

(11) जीवन और उसके प्रादुर्भाव के बारे में वैज्ञानिकों की परिकल्पना — 36

(12) ब्रह्मांड के कितने ग्रह जीवन के अनुकूल हैं ? — 37

(13) ब्रह्माण्ड एवं जीव का विनाश (14) मानव का क्रम विकास — 38

(15) उपर्युक्त वैज्ञानिक परिकल्पनाओं की समीक्षा — 39

(16) आधुनिक वैज्ञानिक खोजों एवं
जैन सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में-विश्व तथा गति — 42

(17) ब्रह्माण्ड के विनाश की समीक्षा — 46

IV.**अध्याय-2** — **47-193**

(1) **वैश्विक-सार्वभौम-परतंत्रता एवं स्वतंत्रता** — 47

(2) ब्रह्माण्डीय परिवर्तन के मूलभूत कार्य-कारण — 51

(3) DOOM OF THE UNIVERSE — 67

(4) अनन्त पंच परिवर्तन (5) द्रव्य संसार (6) क्षेत्र-संसार — 74-76

(7) क्षेत्रसंसार रूपी स्पन्दन संसार (8) लोक (ब्रह्माण्ड) की परिभाषा — 78

(9) ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्ड (10) परिणमनशील ब्रह्माण्ड — 78,80

(11) स्थावर और त्रस लोक (12) काल संसार (13) भाव संसार — 81,84

(14) भव संसार (15) चारों गतियों के स्वरूप एवं संख्या — 116,127

(16) गोम्मटसार में वर्णित पंच परिवर्तन — 132

(17) अनाथ (पराधीन) एवं सनाथ (स्वाधीन) — 152

(18) विभिन्न शरीर धारी जीव (19) बादर एवं सूक्ष्म — 156,157

(20) साधारण शरीर : वनस्पति जीव — 160

(21) साधारण जीव की परिभाषा — 161

(22) बादर निगोद शरीरों का आधार — 162

(23) वनस्पति की तरह (अन्य जीवों के भी प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित भेद) — 166

(24) स्थावर कायिकों और त्रसकायिकों के शरीर का आकार — 166

(25) पृथ्वीकायिक आदि जीवों की संख्या- — 167

(26) औदारिक आदि पाँच शरीरों की उत्कृष्ट शरीरों की स्थिति का प्रमाण — 170

(27) तीनों वेदों की अपेक्षा जीवों की संख्या — 172

(28) श्वेताम्बर जैन साहित्य में वर्णित संसार परिवर्तन — 173

(29) बादर जीवों के अन्तर (30) जीवों के अल्पबहुत्व — 182

V**अध्याय**-3 — **194-267**

(1) **वैदिक धर्म में वर्णित जीवों के परिवर्तन** (2) काल गणना — 194

(3) अनन्त है काल एवं परिवर्तन — 197

(4) वैदिक धर्म में वर्णित कर्म सिद्धान्त एवं जीवों के परिवर्तन — 201

(5) दु:ख एवं दु:ख निवृत्ति के उपाय (6) आध्यात्मिक दु:ख — 208

(7) आधि भौतिक दु:ख (8) आधि दैविक दु:ख — 209

(9) योग वशिष्ठ में विर्णित विविध ब्रह्माण्ड (10)द्वितीय द्वादश सूर्य — 213

(10) ब्रह्माण्ड में जीवों की स्थिति — 217

(11) ब्रह्माण्ड के वैश्विक स्वरूप (12) असंख्य परिर्वतन — 217,221

(13) योग दर्शन में वर्णित परम स्वतन्त्रता के उपाय — 224

(14) ब्रह्माण्ड के मूल तत्त्व (15) विभिन्न सृष्टि — 226,227

(16) अनन्त काल एवं अनन्त परिवर्तन (17) भूगोल — 231,239

(18) सप्त पाताल (19) पापियों के नरककुण्डों का निर्णय — 242,246

(20) विभिन्न प्रलय (21) नैमित्तिक प्रलय — 254,256

(22) मनुष्यगति के दुःख (23) नरक गति के दुःख 260,262
(24) आत्यान्तिक प्रलय (मुक्ति) 262

VI.**अध्याय-4** **268-285**

(1) **विज्ञानानुसार ब्रह्माण्ड विज्ञान** (2) महा विस्फोट सिद्धान्त 268,269
(3) स्थायी दशा सिद्धान्त (4) स्पंदमान सिद्धान्त 270
(5) ब्रह्माण्ड का विश्ववैचित्र्य (6) ताराविश्व: वितरण और वेग 273
(7) पृथ्वी का इतिहास (8) महाकल्प पृथ्वी की दशा 274,275
(9) विज्ञान के अनुसार जीवन के तत्त्व (10) जीवों की उत्पत्ति 276,277
(11) विकास-वाद (12) विभिन्न प्राणियों का विकास 278,279
(13) वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी पर मानव की उत्पत्ति 280
(14) मनोविज्ञानुसार जीवों की विभिन्न वृत्तियाँ 281

VII.**अध्याय-5** **286-310**

(1) **परम सार्वभौम स्वतंत्रता के कारण** (2) संसार में उत्तरोत्तर दुर्लभ 286,303
(3) त्रस पर्याय की दुर्लभता (4) मनुष्य की दुर्लभता 306,307

VIII.**अध्याय-6** **311-337**

(1) **ब्रह्माण्डीय- परिज्ञानार्थ गणितीय आयाम** 311
(2) ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों की संख्या (3) विज्ञानानुसार खगोलीय-गणित 330

IX.अध्याय-7 **338-348**

(1) **विश्व के प्रत्येक जीवों के प्रति योग्य-**
भाव एवं व्यवहार से मुक्ति तथा विश्व-शान्ति संभव 338

X.अध्याय-8 **349-381**

(1) **ब्रह्माण्ड के एकीकृत सिद्धान्त** 349
(2) जीवादि द्रव्यों के सामान्य और विशेष गुण 353
(3) ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त 23 वर्गणायें (4) ग्रहणीय 8 वर्गणायें 263,370
(5) एकीकृत सिद्धान्त : धार्मिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से 374

XI.ifjf'k"V–I fo'o x: Hkkjr dk oKkfud fiNMkiu dkj.k&
ifj.ke ,o fuokj.k **382-386**

XII.ifjf'k"V–II f'k{kk&ijh{kk e@l J"Brk ikIr dju d mik; 387

परम आध्यात्म-विज्ञान तथा परम स्वतंत्रता

स्वातन्त्रात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम् ।
स्वातन्त्र्यान्निवृतिं गच्छेत् स्वातन्त्र्यात्परमं पदम् ।।

परम-आध्यात्मविज्ञानी स्व-आत्म पुरूषार्थ से परम स्वतंत्रता से परम सुख को प्राप्त होता है, स्वतंत्रता से मोक्ष/ मुक्ति को प्राप्त होता है और स्वतंन्त्रता से परम पद को प्राप्त होता है । स्व-आत्मतत्त्व का सम्यक्-विज्ञान ही आध्यात्म-विज्ञान है। इस विज्ञान के माध्यम से विज्ञानी समस्त अन्धविश्वास, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, तृष्णा, पक्षपात, भेद-भाव, संकीर्णता, अपना-पराया, शत्रुता-मित्रता, आकर्षण-विकर्षण को नष्ट करने रूप आत्म-पुरूषार्थ (ध्यान, समता, आत्मलीनता) से समस्त उपर्युक्त बन्धनों (अन्धविश्वास, क्रोधादि ...) को पूर्णतः नष्ट करके परम स्वातंत्र्य होकर शाश्वतिक परम सुख को प्राप्त होता है। उस अवस्था में आध्यात्म विज्ञानी केवल अनन्त अमूर्तिक, चैतन्य/ज्ञान, सुख, शक्ति स्वरूप होता है।

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।
एषां साक्षिणमात्मानं चिन्द्रूपं विद्धिः मुक्तये ।।
(अष्टा. गीता)

मुक्त अवस्था में जीव न पृथ्वी, न जल, न अग्नि, न वायु, न आकाश स्वरूप होता है । मुक्ति के लिए इन सब का केवल साक्षी/ समता/ निर्लिप्त स्वरूप ज्ञान विधेय है तथा मुक्ति में भी इन सब का ज्ञान भी पूर्णतः होता है परन्तु साक्षी रूप में होता है । अर्थात् मुक्तावस्था में केवल पर की अधीनता ही अंसभव नहीं है परन्तु स्वशरीर, इन्द्रियाँ, मन, अज्ञान, राग-द्वेष, दुःख, संक्लेश, जन्म, मृत्यु, रोग, शत्रु, मित्रादि भाव से भी सर्वथा अनन्त काल तक मुक्त होकर सच्चिदानन्द, सत्यं-शिवं-सुन्दरं, परम-सत्य- सुख-शक्ति स्वरूप हो जाता है ।

विज्ञान एवं आध्यात्मिक के समन्वय के प्रतीक आ. कनकनन्दी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. नारायण लाल कच्छारा (पूर्व निदेशक-कमला नेहरु प्रोद्योगिकी संस्थान)

विश्व में सबसे बडा आश्चर्य क्या है ? क्या यह सुपर कम्प्यूटर, अंतरिक्ष स्टेशन तक आने जाने वाली स्पेस सटल, मानव निर्मित कृत्रिम हृदय या मानव कृत ऐसी कोई अन्य मशीन या संरचना है? नहीं, विश्व में सबसे बडा आश्चर्य है मानव शरीर। मानव शरीर एक ऐसी मशीन है जो मानव द्वारा निर्मित किसी भी मशीन से कई गुना अधिक जटिल और विस्मयकारी है। हमारे शरीर में दिखाई देने वाले अंग अवयव का कार्य शरीर के भीतर स्थित विभिन्न प्रकार के तंत्रों द्वारा सम्पन्न होता है। अस्थि तंत्र, मांसपेशी तंत्र, रक्त संचालन तंत्र, श्वास तंत्र, स्नायु तंत्र आदि अपना कार्य इस निपुणता से करते हैं कि यह शरीर एक इकाई के रूप में मनवांछित गतिविधियाँ बिना किसी विशेष प्रयास के सहजता से करने में सफल हो जाता है। किसी भी भौतिक कार्य को करने के पीछे शरीर के अंग अवयवों, इन्द्रियों, मस्तिष्क और विभिन्न तंत्रों को कितना कुछ करना पडता है इसका हमें ज्ञान ही नहीं होता और भान भी नहीं होता। वस्तुतः शरीर के किसी भी कार्य का प्रारम्भ कोशिका स्तर पर होता है। हमारे शरीर में लगभग 600 खरब कोशिकाएँ होती हैं और प्रत्येक कोशिका में प्रति सैकण्ड लाखों क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। ये सब क्रियाएँ सही प्रकार से सम्पन्न हों और कोशिकाएँ अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करें तभी हमारा शरीर इच्छित कार्य सही रूप में कर सकता है। इसके लिए कोशिकाओं का सही रूप में कार्य करना ही आवश्यक नहीं, यह भी आवश्यक है कि उनके बीच सही तालमेल भी हो। इन सबका लेखा, जोखा, नियंत्रण और निर्देश का कार्य मस्तिष्क द्वारा होता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मस्तिष्क कितना शक्तिशाली होना चाहिए । मानव निर्मित सबसे बडा सुपर कम्प्यूटर भी मस्तिष्क की तुलना में बौना पड जाता है। कोशिकाओं के कार्यों में तालमेल के लिए आवश्यक है कि उनके बीच सूचना का आदान-प्रदान हो। हमारे शरीर में एक सुपर इंटरनेट प्रणाली कार्य करती है जो कोशिकाओं के बीच आपस में सूचनाओं का प्रसारण करती है। यह तो एक झलक है मानव शरीर की क्षमता की, वस्तुतः हमने आज तक पूर्ण रूप से नहीं जाना कि हमारा शरीर कैसे कार्य करता है। विश्व में हजारों वैज्ञानिक इसे समझने के लिए लगातार अनुसंधान कर रहे हैं। प्रश्न उठता है शरीर का यह सब कार्य कौन करता है, कौन वह शक्ति है जो ऐसे जटिल कार्य को संभव बनाती है ? यह शक्ति आत्मा है। अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा की ही यह सामर्थ्य है कि वह मानव शरीर जैसी मशीन का निर्माण करता है और वांछित कार्यों हेतु उसका उपयोग करता है। आत्मा जब तक शरीर में है शरीर कार्य करता है, आत्मा के निकल जाने पर यह शरीर मृत हो जाता

है फिर यह कोई कार्य नहीं कर सकता। आत्मा से अधिक शक्तिशाली इस विश्व में कोई नहीं है, अनन्त शक्तिशाली आत्मा ही शरीर को धारण कर सकती है। आत्मा में ही परमात्मा बनने की क्षमता है। मनुष्य की तरह अन्य प्राणियों के शरीर भी अपने-अपने तरीके से कार्य करते हैं परन्तु उनकी क्षमता मानव शरीर से कम होती है। उनके शरीर की जटिलता भी कम होती है। एकेन्द्रिय जीवों का शरीर सबसे कम जटिल होता है, इंद्रिय विकास के साथ शरीर की जटिलता भी बढती जाती है। एकेन्द्रिय रूप में जीवात्मा की शक्ति सबसे अधिक आवृत होती है और उसकी उपलब्ध शक्ति सबसे कम स्तर पर होती है। कर्मों के क्षयोपशम के साथ जैसे-जैसे आवरण कम होता है आत्मा की अधिक शक्ति प्रकट होती है और जीवात्मा अधिक जटिल शरीर धारण करने में सक्षम हो जाता है। यह जीव की विकास प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में जीव क्रम से भिन्न-भिन्न प्रकार के अनन्त शरीर धारण करता है। यह प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है और जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता तब तक चलती रहेगी। इस लोक में अनन्त जीव हैं। जिन्होंने विकास प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं की है, अनन्त जीव विकास प्रक्रिया के मध्य में हैं और अनन्त जीवों ने विकास प्रक्रिया समाप्त कर मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली है।

हम इस पृथ्वी पर निवास करते हैं। हमें यह तो मालूम है कि यह पृथ्वी कितनी बडी है परन्तु आज भी हमारे पास पृथ्वी की सम्पूर्ण जानकारी नहीं है। पृथ्वी कैसे बनी, इसके गर्भ में क्या है, पृथ्वी पर परिवर्तन कैसे होते हैं, मौसम कैसे बदलता है आदि विषयों के बारे में हमारा ज्ञान अभी अपूर्ण है। पृथ्वी से परे क्षेत्र के बारे में तो हम बहुत कम जानते हैं। हमारी पृथ्वी सौर परिवार का एक छोटा सा सदस्य है, इसका द्रव्यमान सम्पूर्ण सौर परिवार के द्रव्यमान का एक प्रतिशत के दसवें भाग का भी बहुत छोटा अंश है। हमारा सौर परिवार आकाशगंगा नामक नीहारिका का एक सदस्य है। एक लाख प्रकाश वर्ष विस्तार वाली इस आकाशगंगा में हमारे सूर्य जैसे करोडों तारे हैं। यदि आकाशगंगा को 130 कि.मी. व्यास की मानी जाय तो हमारा सौर परिवार मात्र दो मिमी बिन्दु के बराबर होगा। ब्रह्माण्ड में ऐसी अरबों नीहारिकाएँ हैं। जैन दर्शन के अनुसार मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और सागर हैं। नीहारिकाओं की तुलना द्वीपों से की जा सकती है। एक राजू विस्तार वाले मध्यलोक में इस प्रकार असंख्य नीहारिकाएँ हैं। सम्पूर्ण लोक का विस्तार तो (343 घनराजू है जिसमें अनन्त जीव और अनन्तानन्त पुद्गल स्थित हैं। इतना बडा यह लोक अनन्त आकाश में एक बिन्दु के बराबर है। आकाश के परिमाण की कल्पना करना मनुष्य की क्षमता से परे है । सम्पूर्ण लोक पुद्गल से ठसा-ठस भरा है। लोक में जितना भी दृश्य पदार्थ है वह सब पुद्गल है। अदृश्य पुद्गल इससे भी कई गुणा अधिक है। यह पदार्थ किस से

बना है इसके बारे में विज्ञान ने बहुत खोज की है। विज्ञान के अनुसार पदार्थ अणुओं से बना है, अणु प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन नामक छोटे कणों से बना है और प्रोटोन, न्यूट्रोन, क्वार्क नामक और छोटे कणों से बने हैं। क्वार्क किससे बना है यह विज्ञान अभी नहीं जान पाया है। जैन दर्शन के अनुसार क्वार्क कण भी अनन्त परमाणुओं का सूक्ष्म स्कंध है। आईन्स्टीन ने सिद्ध किया कि पदार्थ और ऊर्जा परस्पर परिवर्तनशील है। जैन दर्शन के लिए यह सिद्धान्त कोई नया नहीं है, भगवान् महावीर ने इनका प्रतिपादन 2600 वर्ष पूर्व एक अलग रूप में कर दिया था। आईन्स्टीन ने बताया कि नाभिकीय प्रक्रिया में अत्यन्त अल्प मात्रा के पदार्थ से भी प्रचण्ड ऊर्जा उत्पन्न हो जाती है। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त ऊर्जा परमाणुओं के बंध से एक सूक्ष्म स्कन्ध बनाता है। दोनों ही कथन एक ही तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। सूक्ष्म स्कन्धों के बंध से बादर स्कंध बनते हैं और विभिन्न प्रकार के स्थूल पदार्थ के आकारों का निर्माण होता है। इस प्रकार लोक में स्थित अनन्तानन्त परमाणु पुद्गल अपने स्वभाव से विभिन्न प्रकार की रचना करते हैं। जीव भी कई प्रकार की पुद्गल रचनाओं में प्रेरणा प्रदान करता है जिससे शरीर का निर्माण होता है।

हम अपने जीवन काल में कई घटनाएँ देखते हैं। ये घटनाएँ अनवरत चलती रहती हैं। अरिहंतों का जन्म भी एक घटना है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म लाखों वर्ष पूर्व माना जाता है। चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर लगभग 2600 वर्ष पूर्व हुए। जैन दर्शन के अनुसार कालचक्र के अवसर्पिणी भाग के चौथे आरे में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है। अभी पाँचवां आरा चल रहा है। जैन दर्शन का यह भी मत है कि इससे पहले अनन्त काल-चक्र व्यतीत हो चुके हैं और इस प्रकार लोक में पूर्व में अनन्त चौबीसी हो गई हैं। यह प्रवाह निरंतर चलता रहेगा और भविष्य में भी अनन्त काल-चक्र होगें और अनंत चौबीसी होगीं। इस प्रकार काल का न आदि है और न अन्त अनन्तानन्तकाल से यह प्रवाह चल रहा है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। हमारा ज्ञान कितना अल्प है यह हम जानते हैं। हमारे ज्ञान की संख्या, क्षेत्र, समय आदि बहुत ही सीमित है। बडे से बडे विद्वान का ज्ञान भी बहुत सीमित है और यही कारण है हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते। आईन्स्टीन को बहुत बडा वैज्ञानिक माना जाता है, उन्होंने भौतिक जगत् में सापेक्षता के सिद्धान्त की खोज की। यह एक बहुत बडी उपलब्धि है परन्तु इसे भी पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि सापेक्ष बुद्धि से सापेक्ष सत्य की ही खोज हो सकती है, निरपेक्ष सत्य की नहीं। हमारी बुद्धि संचित कर्म संस्कारों से प्रभावित होती है और इसलिए यह सापेक्ष है। जब बन्ध कर्मों का क्षय हो जाता है तब आत्मा का अनन्त ज्ञान प्रकट होता है और वस्तु का निरपेक्ष ज्ञान होता है। घातियाँ कर्मों के क्षय होने पर आत्मा का निज

स्वरूप प्रकट होने से जीव अरिहंत बन जाता है। इस अवस्था में अनन्तज्ञान से जीव न केवल वस्तु के निरपेक्ष स्वरूप को जानता है बल्कि लोक में स्थित समस्त जीव और पुद्गल का भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान भी रखता है। मुक्त आत्मा अपने निरपेक्ष स्वरूप में स्थित होता है और अपने अनन्त ज्ञान से लोकालोक को निरपेक्ष रूप से जानता है, वहाँ क्षेत्र, समय और द्रव्य की सीमा नहीं होती। मुक्त जीव को अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, और अनन्त वीर्य की अनुभूति होती है।

अनन्त ज्ञान के धारी अरिहंत भगवान् लोक कल्याण की भावना से समस्त प्राणियों को उपदेश देते हैं। ज्ञान जीव की अपनी निधि है और इसे पूर्णतया दूसरों को प्रसारित नहीं किया जा सकता। प्रसारण प्रक्रिया में मन, वचन, भाषा की सीमा आरोपित हो जाती है। भगवान् महावीर ने भी जो उपदेश दिया उससे उनके अनन्त ज्ञान का एक छोटा अंश ही गणधरों द्वारा ग्रहण किया गया। जो भी ज्ञान गणधरों द्वारा ग्रहण किया गया उसका एक छोटा अंश ही भाषाबद्ध हुआ। सैकडों वर्षों तक इस ज्ञान को स्मृति के माध्यम से क्षमतानुसार जीवित रखा गया और फिर शनैः-शनैः लिपिबद्ध किया गया। इस प्रकार भगवान् के ज्ञान का एक बहुत छोटा अंश ही हमें आज प्राप्त होता है। वस्तुतः ज्ञान का प्रसारण हो ही नहीं सकता। ज्ञान आत्मा का गुण है और हमारे अंदर विद्यमान है। उस ज्ञान पर कर्मों का आवरण है जिसको हटाने से वह ज्ञान प्रकट होता है। भगवान् के उपदेश या अन्य कोई शिक्षा हमें इस आवरण को हटाने में सहायता करती है। ज्ञान हमारे अंदर है आवश्यकता है उसे प्रकट करने की। सम्यक् पुरूषार्थ से हम उस अनंत ज्ञान अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं और लोक में निरपेक्ष सत्य को जान सकते हैं।

महापुरुषों, विद्वानों और वैज्ञानिकों का हम पर बहुत उपकार है कि वे अरिहंतों, ऋषियों और योगियों द्वारा उद्भूत ज्ञान को हम तक पहुचाते हैं। इस दिशा में आचार्यों की भी महान् परंपरा रही है, उन्होंने अरिहंत प्रदत्त ज्ञान को हमारे समक्ष सहज सरल रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य श्री कनकनंदी जी का पूर्ण जीवन इस ज्ञान साधना में व्यतीत हुआ है। वे निरंतर साहित्य का सृजन कर प्राचीन ज्ञान को अर्वाचीन शैली में, विशेष तौर पर वैज्ञानिक संदर्भ में, प्रस्तुत करते रहे हैं। वर्तमान अनेक ग्रंथ इसी क्रम में एक महत्वपूर्ण कडी है। आचार्य श्री ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से ज्ञान के जो सूक्ष्म तत्त्व अपने ग्रंथ में प्रकाशित किए हैं वे ज्ञानपिपासुओं की ज्ञान वृद्धि में अवश्य सहायक होंगे और जिज्ञासु जन की आकांक्षाओं को तृप्त करेंगे ऐसा मेरा विश्वास है। मैं आचार्य श्री के प्रति नतमस्तक होकर यही कामना करता हूँ कि उनकी लेखनी इसी प्रकार निरन्तर चलती रहे और अनन्त गुण सम्पन्न इस लोक में श्रद्धावान् को प्रेरणा प्रदान कर उनका जीवन आलोकित करता रहे।

प्राक् कथन

करें परम-सत्य की खोज वैज्ञानिक-आध्यात्मिकता से

कोऽहं किदृग्गुणोऽहं कोयेत्य किंनिमित्तम्।
इत्यहं प्रत्यनवेक्षते कुपथे मतिर्जायते॥

अर्थात् मैं कौन हूँ ? मेरे में कौन से गुण हैं? कहाँ से आया हूँ? किस निमित्त से आया हूँ? इत्यादि के बारे में यदि मैं रोज सतत नहीं सोचता हूँ तो मेरी बुद्धि कुपथ में जायेगी। कुपथगामी बुद्धि से मानव से स्वपर अहित ही होता है और ऐसा मानव यथार्थ से दानव है, ऐसा नर अन्तरंग रूप से वानर है, नरपिशाच है। ऐसा मानव भले भौतिक-शारीरिक रूप से उच्चश्रेणीय प्राणी है, विकसित प्राणी है तथापि I.Q-, E.Q., S. Q.की दृष्टि से निम्न श्रेणीय-अविकसित प्राणी है। अतः स्वार्थ की क्षुद्र परिधि को उल्लंघन करके हमें विश्व परिवार में पदार्पण करना चाहिये। केवल शरीर की चिन्ता, स्वार्थ की चिन्ता तो निम्न श्रेणीय पशुओं की चिन्ता है। मनुष्यों का जन्म पेट (भोजन) पेटी (धन, संग्रह) प्रजनन (भोग विलासिता) के लिए नहीं हुआ है। मनुष्य का जन्म तो आत्म कल्याण के लिये, महानता के लिए, विश्व कल्याण के लिए एवं अमृत तत्त्व को प्राप्त करने के लिए हुआ है। ऐसा जीवन जो जीता है तो उसका जीवन ही सार्थक है, नहीं तो अन्य का जीवन चलता-फिरता शव का जीवन है। हमारे जीवन में मूलभूत दो तत्त्व है - (1) शिव (भगवान्, मंगल, पवित्र, अमृत, आत्मा) (2) शव (शरीर, भौतिक वस्तु)। जब हम शिव तत्त्व को छोडकर केवल शरीरादि भौतिक तत्त्व के लिये काम करेंगे तो हम शव बन जायेंगे। इसलिए हमें सतत आत्म चिन्तन, आत्म-विश्लेषण, आत्मोन्नति करना चाहिये और विचार-करना चाहिए कि मेरे अन्दर कितने अंश में शिव तत्त्व प्रकट हुए हैं और कितने अंश में शव तत्त्व हैं, मुझ से कितने आत्मकल्याण के, जन कल्याण के, कितने विश्व कल्याण के कार्य हुए हैं और कितने स्वार्थ के काम हुए हैं। ऐसे व्यक्ति ही बुद्धिमान् हैं, प्राज्ञ हैं, चतुर हैं, अन्य सब तो मनुष्याकार पशु या चलते-फिरते शव के बराबर हैं। किसी ने कहा भी है-

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नुमे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति॥ (सा. धर्मा.)

मनुष्यों को हमेशा अपने आचरित कार्यों का अवलोकन करना चाहिए और फिर विचार करना चाहिये कि आज मैंने कौन-कौन से कार्य तो पशु के समान किये हैं और

कौन-कौन से कार्य मनुष्यों के समान किये। इस प्रकार हिताहितकर विचार करने वाले को प्राज्ञः कहते हैं।

यस्य त्रिवर्गशून्यायानि दिनान्यायान्ति याति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥

परस्पर में अविरोध भाव से धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों के सेवन करने के बिना ही जिस के दिन आते हैं और जाते हैं वह पुरुष लुहार की धौंकनी के समान श्वासोच्छ्वास लेता हुआ भी मरे हुए के समान है अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के सेवन के बिना मनुष्य का जीवन पशु के समान निरर्थक है और उसका जीना और नहीं जीना दोनों बराबर है। अतः हमारा परम लक्ष्य निम्न प्रकार से होना चाहिए ।

असतो मा सद्गमय । तमसो र्मा ज्योतिर्गमय। मृत्यो र्मा अमृतंगमय।

हे करुणामय, पतित पावन, भगवान् ! मुझे असत् (मिथ्या) से सत् (सम्यक्) की ओर ले चलो, अज्ञान रूपी मोहान्धकार से ज्ञानरूपी ज्योति की ओर ले चलो, संसार रूपी मृत्युलोक से मोक्ष रूपी अमृत लोक की ओर ले चलो।

विश्व शान्ति भावना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥(य. च.)

हे करुणामय भगवान्! विश्व के सर्व जी व सुखी रहें, निरोगी रहें, जीव सच्चरित्रमय, सज्जनमय दृष्टिगोचर होवें, कोई भी दुःख को प्राप्त न होवें।

शिवमस्तु सर्व जगतः, परहित निरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्रसुखी भवतु लोकः॥

सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो, सम्पूर्ण जीव-जगत् परहित में रत रहे, सम्पूर्ण दोषों का नाश हो, सदा सर्वदा सब जीव-जगत् सुखी रहें।

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतः दिवि।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छत्त्यैरूपभुज्यते॥ 33

धर्म ही मनुष्यों की योनी है। वही स्वर्ग में देवताओं का अमृत है। धर्मात्मा मनुष्य मरने के पश्चात् धर्म के ही बल से सदा सुख भोगते हैं।

जो उपर्युक्त भाव एवं व्यवहार से संयुक्त होकर सतत पवित्र भावना से ध्यान-अध्ययन, मनन-चिन्तन, शोध-बोध द्वारा स्वयं में निहित अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि को प्राप्त कर लेते हैं तब वे स्व-पर से लेकर ब्रह्माण्ड के समस्त चेतन-अचेतन, मूर्तिक-अमूर्तिक, सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों की त्रिकालवर्ति

समस्त अवस्थाओं का पूर्णतः परिज्ञान कर लेते हैं। इस अवस्था को जीवन मुक्त परमात्मा, केवली, सर्वज्ञ आदि नाम से अभिहित किया जाता है। वे विश्व कल्याण के लिए अणु से लेकर ब्रह्माण्ड, परम परतंत्रता से लेकर परम-स्वतंत्रता के बारे में उपदेश श्रोताओं को देते हैं। अन्त में शरीर से भी सर्वथा पृथक् होकर सिद्ध, बुद्ध, परमात्मा, अमृत स्वरूप परम स्वतंत्र हो जाते हैं। तब वे पंचपरिवर्तन रूपी संसार में परिभ्रमण नहीं करते हैं। इससे विपरीत जो अज्ञान-मोह, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-लालसा, अहंकार-ममकार, भेद-भाव, ईर्ष्या-घृणा, आकर्षण-विकर्षण आदि से आवेशित होते हैं वे कर्म-परतंत्र होकर पंच-विध परिवर्तन रूपी संसार परिभ्रमण करते हुए दुःखों को भोगते रहते हैं।

राग द्वेष-द्वयी-दीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ (11)

इष्ट वस्तु के प्रति राग और अनिष्ट वस्तु के प्रति द्वेष करता हुआ यह जीव दुःख के कारणभूत कष्ट से पार होने योग्य द्रव्यादि पंच प्रकार के भवरूपी समुद्र में सुदीर्घ काल तक परिभ्रमण करता है। शक्ति-व्यक्ति रूप से दोनों राग-द्वेष की प्रवृत्ति बताने के लिए द्वयी ग्रहण किया गया है और शेष इन दोनों दोषों से प्रतिबद्ध है। कहा भी है-

जहाँ राग अपने पद को धारण करता है वहाँ निश्चय से द्वेष होगा ही। दोनों मिलकर मन को अत्यधिक विकार युक्त कर देते हैं। और कहा भी-

आत्मनि सति परसंज्ञा स्व-पर-विभागात्परिग्रहद्वैषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते॥

क्योंकि जहाँ आत्मा में अपनेपन की कल्पना है वहाँ पर संज्ञा रहती ही है। यह मेरा है और यह दूसरे का है इस तरह का स्व और पर का विभाव है तो वहाँ पर नियम से राग-द्वेष है और जहाँ पर दोनों रहते हैं वहाँ पर अन्य दोष अनायास ही उग जाते हैं, क्योंकि अन्य दोषों की उत्पत्ति का मूल कारण राग-द्वेष है, सभी दोष राग और द्वेष से परिपूर्ण हैं। जीव की यह राग-द्वेष परम्परा ही संसार परिभ्रमण का कारण है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने संसार भ्रमण के कारण राग-द्वेष ही बतलाए हैं। जैसा कि पंचास्तिकाय के निम्न पद्यों से प्रकट है-

''जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदिसु लंगदी॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायंते।
ते हदु विसय गहणं तत्तो रागो वा दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेकं भावो संसार-चक्क- वालम्मि।

इदि जिणवरेहिं भणियं अणाइणिहणे सणिहणे वा॥

जो जीव संसार परिभ्रमण करता है उसके राग-द्वेषादि परिणामों की उत्पत्ति होती रहती है और उनके द्वारा अशुभ कर्मों का आस्रव होता रहता है, अशुभ कर्मास्रव से कुगति तथा शुभ कर्मास्रव से सुगति मिलती है। गतियों में जाने के बाद शरीर की प्राप्ति होती है और उनसे इन्द्रियों के स्पर्शादि विषयों का ग्रहण होता है और विषय ग्रहण से उनमें अच्छे-बुरे पन की कल्पना जाग्रत होती है अर्थात् राग-द्वेष होने लगते हैं और राग-द्वेष होने से संसार में भ्रमण करना पडता है। इसी तरह यह जीव अनादिकाल से सदा संसार में रुलता और दुःख उठाता रहता है। कभी उसे आत्मा के वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती अतएव राग-द्वेष सर्वथा हेय ही हैं।

उपर्युक्त समस्त रहस्यों को भारतीय आध्यात्मिक महान् वैज्ञानिकों ने स्व अनन्त केवलज्ञान से बिना बाह्य यंत्रादि की सहायता से जानकर दिव्यध्वनि के माध्यम से श्रोताओं को बताया था। उस रहस्यों को अन्य आचार्यों ने संक्षिप्त से अपने शिष्यों को समझाया एवं कुछ आचार्यों ने ग्रंथों में लिपिबद्ध किया। हजारों वर्ष पहले लिखित ऐसे ग्रन्थों के सूक्ष्म, गहन, व्यापक-निष्पक्ष, सत्यग्राही दृष्टिकोण से अध्ययन से तथा आधुनिक विभिन्न वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है **वैज्ञानिक शोध-जितना-जितना आगे बढता जा रहा है उतना-उतना वैज्ञानिक अपूर्णता एवं गलतियाँ कम होती जा रही हैं और भारतीय प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की निकटता को प्राप्त करता जा रहा है। इस के साथ-साथ विज्ञान में भी आध्यात्मिकता प्रवेश करती जा रही है तो धर्म भी वैज्ञानिक बनता जा रहा है। यह विश्व के लिए शुभकारी, लाभकारी है। यह प्रक्रिया और भी जितनी व्यापक एवं तीव्र होगी उसका प्रतिफल उतना ही शुभ एवं लाभ रूप में विश्व को प्राप्त होगा। क्योंकि इस प्रक्रिया में विज्ञान की भौतिकता, संकीर्णता, अपूर्णता, गलतियाँ, इन्द्रिय-यांत्रिक-प्रामाणिकता आदि दूर होगी एवं तथा-कथित धार्मिक जनों की अन्धश्रद्धा, अनुदारता, कट्टरता, जडता, रुढिवादिता, क्रिया-काण्ड की प्रधानता दूर होगी। दोनों के सम्यक् समन्वय से 1+1 मिलाकर केवल 2 न बनकर 11 भी बनेगा। इस कृति के निष्पक्ष, गहन अध्ययन से अनेक धार्मिक जिज्ञासाओं के समाधान के साथ-साथ अनेक वैज्ञानिक शंकाओं के समाधान के अतिरिक्त वैज्ञानिकों के द्वारा अनुत्तरीत प्रश्नों के उत्तर और नहीं खोजे गये विषयों का भी ज्ञान प्राप्त होगा।** वैज्ञानिकों के द्वारा अनुत्तरीत कुछ निम्नोक्त प्रश्न जिसका वर्णन इस कृति में संदर्भ के अनुसार किया गया है-तो कुछ मेरी अन्यकृतियों में किया गया है तथा कुछ के समाधान के लिए प्रयासरत हूँ।

वैज्ञानिकों द्वारा अनुत्तरीत प्रश्न-

1) हमारा ब्रह्माण्ड कितना बडा है? इसका आकार-प्रकार क्या है?
2) समय क्या है और कब से है ?
3)यह ब्रह्माण्ड निश्चित रूप से कब से है और कब तक रहेगा ?
4) ब्रह्माण्ड में वह पदार्थ (Matter)कहाँ है जिससे हम बने हैं ?
5) बिग बेंग में किस प्रकार पदार्थ पैदा हुआ ?
6) पृथ्वी पर जीवन का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ ?
7) ब्रह्माण्ड के इस पृथ्वी ग्रह पर जीवन है या अन्यत्र भी जीवन है?
8) क्या प्रकाश की गति परम एवं अपरिर्वनशील है? क्या प्रकाश से तेजगति संभव है?
9) सब से पहले आकाश गंगाओं का निर्माण कैसे हुआ ?
10) महा विस्फोट निश्चित रूप से कौन से समय में हुआ ?
11) महाविस्फोट के पहले और कितने बार महाविस्फोट हुआ ?
12) ब्रह्माण्ड का अन्तिम सिद्धान्त क्या है? क्या गणित के माध्यम से ब्रह्माण्ड को समझा जा सकता है ?
13) क्या हम ब्रह्माण्ड के उच्च आयाम में जीते हैं ?
14) प्रकृति के आधार भूत बल क्या है ?
15) क्या हमारे ब्रह्माण्ड के अलावा और भी कोई ब्रह्माण्ड है ? और कितने ब्रह्माण्ड हैं?
16) जैसे-जैसे हम अन्तरिक्ष में भीतर जायेगें क्या और अन्तरिक्ष मिलेंगे?
17) जीव पृथ्वी पर कहाँ से आये हैं ? कब आये हैं ? कैसे आये हैं? मृत्यु के बाद जीव का क्या होता है? और वह कहाँ जाता है? तथा कैसे जाता है?
18) पृथ्वी पर मनुष्य का भविष्य क्या है?
19) प्रकृति के आधार भूत पदार्थ क्या है?
20) क्या दिमाग और पदार्थ का आपस में किसी तरह संबंध है ?
21) हम अपने आसपास के विश्व का अनुभव कैसे करते हैं? हम उसे अपनी स्मृति में कैसे रखते हैं और कैसे हम उसे भावनाओं से भरते हैं?
22) दिमाग का होना और उसके काम के तरीके में करिश्माई बात होना कैसे संभव है?
23) आखिर बुद्धि क्या है? बुद्धि और मस्तिष्क में क्या संबंध है?
24) गामा किरणों का विस्फोट कैसे और क्यों होता है?
25) क्वासार्स क्यों घूम रहे हैं?
26) जब कोई तारा नष्ट होता है तो क्या होता है ? (आहा जिंदगी-पंकज जोशी-प्रख्यात वैज्ञानिक)

27) ब्रह्माण्ड में जीवन नहीं था तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसे संभव है?
28) निर्जीव (जड-भौतिक तत्त्व) से चेतनाशील जीव की उत्पत्ति कैसे संभव है?
29) अमूर्तिक चेतनाशील जीव का वजन कैसे संभव है?
30) केवल तंत्रीकातंत्र, मस्तिष्क की कोशिकाएँ, ग्रंथिओं के रसायनस्राव आदि से ज्ञान, अनुभव, सुख, दुःख आदि कैसे संभव है? क्योंकि यह सब निर्जीव भौतिक तत्त्व है।
31) अणु से भी छोटी ऊर्जा/वस्तु से इतना विशाल ब्रह्माण्ड और अनन्त जीवों की उत्पत्ति कैसे संभव है?
32)धूमकेतु दीर्घवृत्ताकार में क्यों घूमते हैं? इनके परिक्रमा-पथ इतना अधिक होता है कि उन्हें दो बार पृथ्वी के पास से गुजरने के लिए कुछ को तो सैकड़ों वर्ष लगते हैं। इस परिस्थिति में वे अन्य ग्रहों, तारों से आकर्षित होकर उसकी परिक्रमा क्यों नहीं करते हैं? परिक्रमा पथ में परिवर्तन क्यों नहीं होता है।
33) डार्विन् के अनुसार जीवों की उत्पत्ति जल में एक-कोशिय रूप में हुई और क्रम विकास करता हुआ वही जीव आधुनिक मानव बना। क्या यह सही है ?
34) वस्तु का यथार्थ वर्ण (रंग) क्या उस वस्तु से परावर्तित रश्मि के कारण है? घन अन्धेरा (जहाँ से प्रकाश परावर्तित नहीं होता) में स्थित वस्तु का क्या कोइ भी वर्ण नहीं है?
35) जीवन के भौतिक स्वरूप के साथ-साथ जीवन के मूल स्वरूप के बारे में जानना विज्ञान के लिए अभी बाकी है।

वैज्ञानिकों को आह्वान

देश-विदेश के सकल सत्यग्राही, प्रगतिशील, उदारमना वैज्ञानिकों को मेरा सहृदय आह्वान है कि इस कृति में या अन्यान्य भारतीय धार्मिक साहित्यों में तथा विशेषतः जैन साहित्यों में जो सत्य-तथ्य निहित है उस का निष्पक्ष गहन व्यापक शोध-बोध करके विश्व कल्याण के लिए आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से प्रयोग में लाएँ। जिस प्रकार अज्ञात, दुरूह स्थान में जाने में नक्शा, दिग्- सूचक यंत्र, मार्गदर्शक सहयोगी बनते हैं उसी प्रकार ये ग्रन्थ अज्ञात, सूक्ष्म, दूरस्थ तथा अमूर्तिक तथ्यों को प्राप्त करने में सहयोगी बनेंगे।

स्वयं वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि अभी विज्ञान परम सत्य को नहीं जान पाया है। विज्ञान सत्य की खोज में है परन्तु सत्य तक नहीं पहुँचा है।

प्रसिद्ध ब्रिटिश खगोलविद् सर ऑर्थर एड्डिंगटन ने एक बार कहा था कि मनुष्य द्वारा ब्रह्माण्ड की खोज ठीक उसी तरह है जैसे कि विशाल समुद्र में चल रहे एक जहाज के भूतल पर बने गोदाम में रखे आलुओं की बोरी में पडा कोई कीड़ा समुद्र को समझने का प्रयास करे।

एन्साइक्लोपीडिया ऑफ 'इग्नोरेन्स' (अज्ञानता का विश्व कोष) इस पुस्तक में उन सभी बातों और चीजों के बारे में चर्चा की गई थी जिनसे या तो हम अनभिज्ञ हैं या जिनके बारे में हम बहुत कम जानकारी रखते हैं। (आहा जिन्दगी)

आधुनिक महावैज्ञानिक आईन्स्टीन ने भी कहा है-

Einstein says "we can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer."

हम लोग केवल सापेक्ष सत्य को जान सकते हैं परन्तु सम्पूर्ण सत्य को केवल विश्वदर्शी ही जान सकते हैं। सर्वदर्शी आईन्स्टीन की अपेक्षा निम्नोक्त जीव ही हो सकता है।

Universal observer of Einstein is none else but the Almighty (Sarvajna Deva) with infinite powers of knowledge and bliss.(Cosmology -Old and new)

''जो सर्वशक्तिमान, अनंत ज्ञानशक्ति एवं सुख सम्पन्न है, वही सर्वदर्शी सर्वज्ञ है ।''

केन्द्राकर्षण शक्ति के आविष्कारक महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने अपना उद्गार जगत् के सन्मुख निम्न प्रकार रखा था -'' हम लोग ज्ञानरूपी समुद्र से अमूल्य रत्नादि प्राप्त नहीं कर पाये हैं, परन्तु केवल कौडी-सीप प्राप्त किये हैं।'' इनका उद्गार कितना मार्मिक है। स्वयं वैज्ञानिक होकर भी अपने ज्ञान को अत्यन्त तुच्छ मानते हैं एवं मानना भी यथार्थ है, क्योंकि ज्ञान अथाह-अनंत सागर के समान है। वैज्ञानिकों का ज्ञान, ज्ञान रूपी सिन्धु के सामने एक बिन्दु प्रमाण है।

"We are beginning to appreciate better, and more thoroughly, how great is the range of our ignorance."
(The world is modern science by Leopold infeld p.60)

''हम लोग, हमारे अज्ञान का फैलाव कितना बडा है, यह और अच्छी तरह से समझने और महसूस करने लगे हैं।''

"Science should leave off making pronouncement, the river of knowledge has too often turned back on itself. (The mysterious universal.(p.138)

सर जेम्स लिखते हैं- शायद यह अच्छा हो कि विज्ञान नित नई घोषणा करना छोड दे, क्योंकि ज्ञान की नदी बहुत बार अपने आदि स्त्रोत की ओर बह चुकी है।

The outstanding achievement of twentieth century physics is not the theory of relativity with its wielding

together of space and time or the theory of quantum with its present apparent negation of the laws of causation or the dissection of the atom . With the resultant discovery that things are not what they seem.It is the general recognition that we are not yet in contact with ultimate reality. (The Mysterious Universe p.3)

एक दूसरी जगह वे लिखते हैं -''बीसवीं सदी का महान् आविष्कार सापेक्षवाद या क्वान्टम् सिद्धान्त नहीं हैं, और न परमाणु विभाजन ही । इस सदी का महान् आविष्कार तो यह है कि वस्तुएँ वैसी नहीं हैं जैसी कि वे दिखती हैं। इसके साथ सर्वमान्य बात तो यह है कि हम अब तक परम वास्तविकता के पास नहीं पहुचे हैं।''

"Scientific theories arise,develop and perish they have their span of life with its successes and triumphs only to give way later to new ideas and a new out look ".
The world in Modern Science by Leopold Infeld p.23.

वैज्ञानिक सिद्धान्त समूह उदय होते हैं, उन्नति करते हैं एवं समाप्त हो जाते हैं। उनकी कृत कार्य एवं विजय का जीवन निर्धारित समय तक है। केवल वे कुछ नवीन मार्ग, नवीन भाव धारायें एवं नवीन कुछ दृष्टिकोण दे देते हैं।

Science in not in contact with ultimate reality.
Mysterious Universe p-111.

वैज्ञानिकों को ऐसा लगा- "वैज्ञानिक अभी तक परम वास्तविकता से बहुत परे हैं।"

We are not yet in contact with ultimate reality.
"अभी तक हम चरम सत्य के समीप नहीं है "

Things are not what they seem.
"पदार्थ वैसे नहीं हे, जैसे हम देखते हैं। "

Today there is a wide measure of agreement that the stream of knowledge is heading towards a non-mechanical reality. The universe begings to look more look a great thought than like a great machine.

Mind no longer appears as an accidental intruder in to the reach of matter (Mysterious Universe; p-137)

"आजकल सामञ्जस्य का विस्तृत मानदण्ड प्रस्तुत हुआ है कि ज्ञान की सरिता अयान्त्रिक वास्तविकता की ओर बह निकली है। अब विश्व यन्त्र की अपेक्षा विचार के अधिक समीप लगता है। मन ऐसी चीज नहीं लगती जो जड़ की दुनिया में कहीं से अकस्मात् टपक पडी हो। "

The time will assuredly come when these anenueo into unknown region will be explored by sicence.The universe is a more spiritual entity the we thought. The real fact is that we are in the midst of a spiritual world which dominates the material (Sir Olivr Lodge)

वह समय अवश्य आयेगा जबकि विज्ञान द्वारा अज्ञात विषय का अन्वेषण होगा। विश्व जैसा कि हम सोचते हैं, उससे भी कहीं अधिक उसका आध्यात्मिक अस्तित्व है। वास्तविकता तो यह है कि हम उस आध्यात्मिक जगत् के मध्य में हैं जो भौतिक जगत से ऊपर हैं। (सर ऑलीवर लॉज)

डारविन का यह अवैज्ञानिक मत अभी तक मान्य हो रहा है कि जीव की उत्पत्ति पानी में (से) हुई है। (वैज्ञानिक डेबिड-डिस्कवरी चैनल)

धार्मिक जनों को आह्वान

वस्तुतः जो सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, सत्य स्वरूप, समता से युक्त, अहिंसा पूर्ण, शान्ति प्रदाता है वह यथार्थ से धर्म है। ऐसे धर्म की उपलब्धि तब होती है जब भाव एवं व्यवहार में पवित्रता, सरल-सहजता , क्षमा, सहिष्णुता, उदारता, दया, विवेक, सत्यग्राहीता, परोपकारीता, निर्लोभता, संयम, सत् पुरूषार्थ, महान् ध्येयनिष्ठा आदि महान् गुण हो। केवल धार्मिक क्रिया-काण्ड, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, पूजा-पाठ, तीर्थ यात्रा, पर्व-त्यौहार आदि धर्म नहीं है जब तक इन से उपर्युक्त महान् गुणों की उपलब्धि न हो। जिस प्रकार वैज्ञानिक किसी भी देश, जाति, धार्मिक पंथ-मत-परम्परा, भाषा-भाषी, नस्ल आदि के क्यों न हो तथापि वे सनम्र सत्यग्राही, उदारमना, विश्वकल्याणकारी विचारक, समन्वयवादी, शान्ति प्रिय होते हैं। उनसे भी अधिक उपर्युक्त गुण धार्मिक जनों में होने चाहिए। क्योंकि वैज्ञानिक तो प्रायः भौतिकवादी, वर्तमान जीवन को सुखमय बनाने वाले होते हैं परन्तु धार्मिकजन (धर्म)तो आध्यात्मिक, स्व-पर-विश्व

को वर्तमान के साथ-साथ अनन्त भविष्य को भी परम सुखमय बनाने वाले होते हैं। वैज्ञानिकों के क्षेत्र (भौतिक क्षेत्र), काल (वर्तमान), जीवन (वर्तमान भव), सुख (सांसारिक सुख), शोध-बोध (इन्द्रिय, यान्त्रिक एवं मस्तिष्किय)से भी धार्मिक जनों के क्षेत्र (भौतिक से लेकर आध्यात्मिक), काल (वर्तमान से लेकर अनन्त भविष्य), जीवन (वर्तमान से लेकर भावी), सुख (शाश्वतिक आध्यात्मिक सुख), शोध-बोध (अनन्त परम सत्य) होने से धार्मिक जनों को वैज्ञानिकों से भी करोडों-अरबों गुणा ही नहीं असंख्यात-अनन्त गुणा श्रेष्ठ, सनम्र, सत्यग्राही, उदार सहिष्णु, परोपकारी, अहिंसक आदि गुणों को स्वीकार करना आवश्यक है। स्वतंत्रता (स्व +तंत्रता =स्वयं के ऊपर स्वयं का नियंत्रण) या स्वाधीनता (स्व +अधीनता = स्व अधिकार एवं कर्तव्य से स्वयं के द्वारा नियंत्रित) अनेक प्रकार की है। यथा-(1) राजनैतिक (2) सामाजिक (3) पारिवारिक (4) आर्थिक (5) शैक्षणिक (6) भाषागत (7) कानूनी (8) सांस्कृतिक (9) मानसिक (10) शारीरिक (11) भावात्मक (आध्यात्मिक)(12) सम्पूर्ण/परम (मोक्ष)। जब तक भावात्मक तथा परम स्वतंत्रता की उपलब्धि नहीं होती है तब तक अन्य स्वतंत्रता को भी इस ग्रन्थ में परम-स्वतंत्रता रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। क्योंकि आध्यात्मिक तथा परमस्वतंत्रता के बिना अन्यान्य स्वतंत्रता से भी अनन्त शाश्वतिक सुख-शान्ति-ज्ञान-क्षमता-समता-शक्ति आदि जीव के मौलिक-अधिकार, आध्यात्मिक विभूति, अनन्त वैभव सम्पन्नादि प्राप्त नहीं हो सकते हैं। और यह परम स्वतंत्रता केवल मनुष्य स्व अनन्त सत्विश्वास, सम्यक् विज्ञान, पवित्र सदाचरण से ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए विश्व के प्रत्येक मनुष्यों का परम पावन कर्तव्य है कि अन्यान्य स्वतंत्रता के साथ-साथ परम स्वतंत्रता के लिए सतत प्रयासरत रहें। जहाँ परम स्वतंत्रता है वहाँ तो अन्यान्य स्वतंत्रता पहले ही प्राप्त हो जायेगी, इसलिए तो प्राचीन काल के भारत के सार्वभौम सम्राट/चक्रवर्ती भी इस स्वाधीनता के लिए अन्यान्य स्वतंत्रता से युक्त होते हुए भी समस्त सत्ता, सम्पत्ति, सेना आदि को त्याग करके सर्वसन्यास व्रत लेकर आत्मिक परतंत्रता के कारण भूत राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मद, मात्सरादि को सम्पूर्ण नष्ट करके मोक्ष (परम स्वाधीनता)को प्राप्त किये हैं। यथा जैन धर्म के 24 तीर्थंकर, अनेक साधु-संत आदि।

इस कृति के प्रेरणा स्रोत

मैं बाल विद्यार्थी जीवन से ही सत्य प्रेमी रहा हूँ। इससे प्रेरित होकर देश-विदेश के धर्म-दर्शन के ग्रन्थों के साथ-साथ आधुनिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन एक निष्पक्ष, समीक्षात्मक, शोधपूर्ण, सत्यग्राही दृष्टिकोण से करता आया हूँ। मैं विद्यार्थी जीवन से विज्ञान की सत्यग्राहीता, क्रमबद्ध व्यवस्थित प्रणाली, निष्पक्षता, कमी एवं दोषों

को सुधारने की सनम्र-प्रवृत्ति, प्रगतिशीलता, व्यापक दृष्टि, सर्व जीव हितकारी प्रवृत्ति से प्रभावित रहा हूँ । इसके साथ-साथ सापेक्ष सिद्धान्त (Theory of Relativity) एकीकृत सिद्धान्त (M. theory (theory of everything), theory of space Time, Theory of universe and Time, universe and Life, TheVelocity of Light, Mass & momentum, Energy and action) अनिश्चिता का सिद्धान्त, पारिस्थितिकी, पर्यावरण विज्ञान, जिनोम सिद्धान्त को पढा और विशेषतः जो टी. वी. में डिस्कवरी, नेशनल जियोग्राफि में उपर्युक्त विषय सम्बंधी कार्यक्रम देख रहा हूँ उससे मुझे ज्ञान-प्रेरणा-प्रोत्साहन मिले जिससे मैं jain facts: Beyond modern knowledge (Sciecne) की श्रृंखला का प्रारम्भ किया हूँ। इस शृंखला में अभी तक (1) ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन-विज्ञान (2) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा (3) करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का (4) वै. आईन्स्टीन के सिद्धान्तों के पुनः परीक्षण की आवश्यकता (5) ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्डःधार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण (6) विभिन्न क्रम विकासवाद एवं परम आध्यात्मिक विकासवाद (7) ब्रह्माण्ड के रहस्य (8) शारीरिक-मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्रकाशित हो चुका है। इन सब शोध-पूर्ण ग्रन्थों के अध्ययन देश-विदेश के जैन-जैनेतर वैज्ञानिक, प्रोफेसर्स आदि कर रहे हैं तथा **विश्वविद्यालय में जैन, हिन्दू, मुसलमान शोधार्थी Ph.d. के लिए शोध कर रहे हैं। इस से भी प्रेरित होकर एवं मेरे देश-विदेश के जैन-जैनेतर वैज्ञानिक आदि शिष्य, भक्त एवं पाठकों के आग्रह पर इस शोध पूर्ण कृति का लेखन किया है।** इन सब साहित्यों के प्रकाशन की अर्थ-व्यवस्था भी विशेषतः ये लोग ही कर रहे हैं।

साहित्य प्रकाशन में अर्थ साधन, समय, श्रम, ज्ञान आदि से सहयोग करने वालों को मेरा शुभाशीर्वाद। सहयोगी साधु-साध्विओं के लिए यथायोग्य प्रतिनमोऽस्तु, समाधिरस्तु शुभाशीर्वाद।

इस कृति के वास्तविक रचनाकार तो वे सब महान् पुरुष हैं जिन्होंने सत्य को जाना-माना-प्रतिपादन किया और ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया। मैंने तो केवल मधुमक्खी के समान उनके मकरन्द को संकलन करने का नम्र प्रयास किया है। इस ज्ञान रूपी मकरन्द को विश्व के प्रत्येक जीव सेवन करके परमस्वतंत्रता को प्राप्त करके सत्यंशिवंसुन्दरम्, सच्चिदानन्द, आनन्दघन स्वरूप बने इस उदात्त, पवित्र, भावना के साथ-

सत्य-समता-शान्ति के उपासक- आचार्य कनक नन्दी

ग. पु. कॉ. सागवाडा 21-1-2007

अध्याय-1

परम सत्य की खोज एवं उपलब्धि के विविध आयाम

मैं कौन हूँ ? मैं कब से हूँ ? मेरी सृष्टि कब से हुई ? मैं कब तक रहूँगा? मेरा स्वरूप क्या है ? ब्रह्माण्ड क्या है? ब्रह्माण्ड कब से है?ब्रह्माण्ड कब तक रहेगा? ब्रह्माण्ड की सृष्टि कब हुई ? आदि जिज्ञासायें आदि काल से मनुष्य में उत्पन्न होती रही हैं और उसके समाधान के लिए मनुष्य धर्म, दर्शन, तर्क, न्याय, विज्ञान, गणित, आध्यात्मिक आदि का शोध-बोध-आविष्कार, प्रचार-प्रसार, अनुकरण, अनुसरण करता आया है। इसके बिना मनुष्य का परम सर्वांगीण विकास संभव नहीं है; जिस विकास से मनुष्य को परम सत्य, समता, सुख, शान्ति, सम्पत्ति, शक्ति, ज्ञान, स्वतंत्रता आदि अनन्त उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस अवस्था में न मृत्यु है, न जन्म, न जरा, न रोग, न दुःख है, न शोक, न संयोग, न वियोग, न शरीर है, न मन और इन्द्रियाँ, न ही राग-द्वेष-मोह-अज्ञानता, नहीं आकर्षण एवं विकर्षण, न पराया-न अपना, न शत्रु, न ही मित्र, न ही विकास-न ह्रास, न विनाश परन्तु उपर्युक्त परम उपलब्धियों में सतत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप में अनन्त परिणमन होता रहता है। इस अवस्था को ही परमसत्य, परमब्रह्म, परमेश्वर, सत्यं-शिवं-सुन्दरम्, सच्चिदानन्द, मोक्ष, निर्वाण, परम ज्योति, परम शक्ति, परमसत्ता, परम स्वतंत्रता, परम स्वाधीनता आदि कहते हैं। इस अवस्था को परम लक्ष्य करके भारतीय आध्यात्मिक विभूतियाँ मनसा-वचसा-कर्मणा सतत अनादि काल से प्रयास करती रही है और अनन्त विभूतियाँ इस अवस्था को प्राप्त करती रही हैं। यथा-

असतो मा सत् गमय, तमसो मा ज्योति गमयः मृत्यु मा अमृतगमयः।

सत्य की महिमा

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

6 उपनि. पृ 222

सत्य ही विजयी होता है। झूठ नहीं क्योंकि वह देवयान नामक मार्ग सत्य से परिपूर्ण है। जिससे पूर्ण काम ऋषि लोग वहाँ गमन करते हैं जहाँ वह सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का उत्कृष्ट धाम है।

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥7

वह परमात्मा महान् दिव्य और अचिन्त्य स्वरूप है तथा वह सूक्ष्म से भी अत्यन्त रूप में प्रकाशित होता है तथा वह दूर भी अत्यन्त दूर है। और इस शरीर में रहकर अति समीप भी है। यहाँ देखने वालों के भीतर ही उनके हृदय रूपी गुफा में स्थित है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व- स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान : ॥ 8

वह परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तप से अथवा कर्मों से भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। उस अव्यय रहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक उस विशुद्ध अन्तकरण से निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से देख पाता है।

सद्द्रव्य लक्षणम् ॥29

The differentia of substance or reality is Sat. isness or being. (स्वतंत्रता के सूत्र पृ.32)

द्रव्य का लक्षण सत् है। यह विश्व शाश्वतिक है क्योंकि इस विश्व में स्थित समस्त द्रव्य भी शाश्वतिक हैं। आधुनिक विज्ञान में भी सिद्ध हो गया है कि ऊर्जा या मात्रा कभी भी नष्ट नहीं होती है परन्तु परिवर्तन होकर अन्य रूप हो जाती है। विज्ञान में कहा भी है-

Matter and energy neither be Created nor be destroyed. Each can completely changed into another form or into one another.

विज्ञान मूलभूत सिद्धान्त है कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती है। केवल उसके आकार और पर्याय में परिर्वतन होता है।

दवियदि गच्छति ताई ताई सव्भाव पज्जयाइ जं।
दवियं तं मण्णगं ते अणण्ण भूदं तु सुत्तादो ॥9 पंचास्तिकाय

What hows or maintains its identity through its several qualities and modifications, and what is not different from Satta or substance, that is called Dravya by the all knowing.

उन-उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है- प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं- जो कि सत्ता से अनन्य भूत है।

दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं मण्णति सव्वण्हू ॥ 10

Whatever has substaniality has the jorus tried or birth death and permanence and is the substratum of qualities and modes is Dravya so Say the all knowing.

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण, पर्याय को आश्रय-आधार है, उसे सर्वज्ञ भगवान् द्रव्य कहते हैं।

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥38

Substance is possessed of attributes and modifications.

गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। द्रव्य, गुण और पर्यायों का एक अखंड पिण्ड स्वरूप है। गुण को सामान्य उत्सर्ग, अन्वय भी कहते हैं, पर्याय को विशेष, भेद भी कहते हैं। ऐसे सामान्य और विशेष से सहित द्रव्य होता है। पंचास्तिकाय में कहा भी है -

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्तं य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भाव समणा परूविंति ॥ 12 (पंचास्तिकाय)

पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होती हैं। दोनों का अनन्यभाव श्रमण प्ररूपित करते हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥16 गीता पृ. 18

असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश नहीं है इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जाना है।

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं तत्वम्।
विनाशमव्यस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥17

जिससे यह अखिल जगत् व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्यय का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ 14 गीता पृ. 66

जगत् का प्रभू न कर्त्तापन से रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फल का मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञाननेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥15

ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को नहीं ओढता। अज्ञान द्वारा ज्ञान के ढक जाने से लोग मोह में फँसते हैं।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।18 उपनि.पृ.95

नित्य ज्ञान स्वरूप तो न जन्मता है और न मरता ही है, यह न तो स्वयं किसी से हुआ है न इससे कोई भी हुआ है अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य सदा एक रस रहने वाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धि से रहित है। शरीर के नाश किये जाने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुहँतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।19

यदि कोई मारने वाला व्यक्ति अपने को समर्थ मानता है और यदि कोई मारा जाने वाला व्यक्ति अपने को मारा गया समझता है तो वे दोनों ही आत्मस्वरूप को नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न मारा ही जाता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।।20 उपनि. पृ.97

इस जीवात्मा के हृदय रूप गुफा में रहने वाला परमात्मा सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म और महान् से भी महान् है। परमात्मा की उस महिमा को कामना रहित और चिन्ता रहित कोई विरला साधक सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ही देख पाता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम् ।।23 उपनि.

यह परंब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है जिसको यह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।

कु छ ऋषि विधाता की कल्पना को अनावश्यक समझते रहे हैं। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त कहता है-

'नासदासीन्नो सदासीत तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।'

सृष्टि के आरम्भ में न असत्य था, न ही सत्य। उसी तरह न अंतरिक्ष 'आकाश' का कोई अस्तित्व था।

यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, किस लिए उत्पन्न हुई इसे कौन जानता है?

'को अदा वेद क इह प्रवोचत कुत अजाता कुत इयं विसृष्टिः'।

ऋग्वेद में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि यह सब कोई जानने वाला है तो यहाँ आकर बताए-

'इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ।'

किनहूँ न करौ न धरे को षट्द्रव्यमयी न हरै को

सो लोक मांहि बिन समता दुःख सहै जीव नित भ्रमता ।। छहढाला

इस शाश्वतिक, प्राकृतिक षट् द्रव्यमयी विश्व में यह मूढ प्राणी वीतरागमय शांत रूप से रहित होकर विभिन्न दुःखों को सहता हुआ सतत परिभ्रमण कर रहा है। यह विश्व भौतिक, आध्यात्मिक आदि भेद से अनेक प्रकार का है। भौतिक दृष्टिकोण से इस विश्व के चार भेद हैं (1) अधोलोक (2) मध्यलोक (3) ऊर्ध्वलोक (4) सिद्ध लोक। इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चार प्रकार का है (1) पाप (नरक,तिर्यंच) (2) पुण्य-पाप (मनुष्य) (3) पुण्य (देव)(4) पुण्यपापातीत (शुद्ध आत्मलोक अर्थात् सिद्ध)।

प्रसिद्ध सूक्ति है कि **'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे' अर्थात् 'जैसा विचार वैसा संसार' 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' 'जैसी मति वैसी गति'**। भावानुसार कर्म संचय होता है और कर्मानुसार संसार में विभिन्न गति को प्राप्त करके जीव विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होता है। न्यूटन के तृतीय गति सिद्धान्त से भी क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्ध होती है। To every action, there is an equal and opposite reaction. अर्थात् जहाँ क्रिया है वहाँ पर उसकी प्रतिक्रिया भी होती है एवं प्रतिक्रिया उस क्रिया की विपरीत समानुपाती क्रिया होती है।

इसी प्रकार जिस जीव में जिस प्रकार की भावात्मक क्रिया होती है, उस जीव में भावात्मक समानुपाती विपरीत क्रिया होती है। दूषित पापात्मक भाव क्रिया होने पर उसकी विपरीत समानुपाती प्रतिक्रिया अर्थात् नरक, तिर्यंच रूपी गति की उपलब्धि होती है। प्रशस्त पुण्यात्मक भावात्मक क्रिया के प्रतिफल स्वरूप देव-गति की उपलब्धि होती है। परिशुद्ध पुण्य-पाप से रहित भावात्मक क्रिया होने पर उसकी प्रतिक्रिया फल स्वरूप सिद्ध गति रूपी अवस्था की उपलब्धि होती है। यही वैज्ञानिक भावात्मक क्रिया -प्रतिक्रियात्मक विश्व का मूलभूत सिद्धान्त है।

पावेण णिरिय तिरियं गुम्मई धम्मेण देव लोयं तु ।

मिस्सेण माणुसत्तं दोण्णंपि खयेण णिव्वाणं ।।

पाप कर्म से नरक, तिर्यञ्च गति, पुण्य से देव गति, पुण्य-पाप मिश्रण से मनुष्य गति एवं पुण्य-पाप दोनों के क्षय से पंचम गति-सिद्ध गति रूपी अवस्था प्राप्त होती है।

आत्मा के अशुद्ध एवं शुद्ध रूप

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।

यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।।10 उपनि. पृ. 410

यह जीवात्मा न तो स्त्री है न पुरुष है और न यह नपुसंक ही है। वह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है उस-उससे सम्बद्ध हो जाता है।

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ।।11

संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह से तथा भोजन, जलपान और वर्षा के द्वारा सजीव शरीर की वृद्धि और जन्म होते हैं। यह जीवात्मा भिन्न-भिन्न लोकों में कर्मानुसार मिलने वाले भिन्न-भिन्न शरीरों को अनुक्रम से बार-बार प्राप्त होता रहता है।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ।।12

जीवात्मा अपने कर्म संस्कार रूप के गुणों से तथा शरीर के गुणों से (युक्त होने के कारण) अहंता, ममता आदि अपने गुणों के वशीभूत होकर स्थूल और सूक्ष्म बहुत से उनके रूपों (आकृतियों, शरीरों) को स्वीकार करता है उनके संयोग का कारण दूसरा भी देखा गया है।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।13

कलिल (दुर्गम संसार) के मध्ये भीतर व्याप्त आदि अन्त रहित समस्त जगत् की रचना करने वाले अनेक रूप धारी समस्त जगत् को सब और से घेरे हुए एक अद्वितीय परमदेव परमेश्वर जानकर मनुष्य समस्त बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

भावग्रह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।14

श्रद्धा और भक्ति के भाव से प्राप्त होने योग्य आश्रय रहित कहे जाने वाले तथा जगत् की उत्पति और संहार करने वाले कल्याण स्वरूप सोलह कलाओं की रचना करने वाले परमदेव परमेश्वर को जो साधक जान लेते हैं वे संसार को त्याग देते हैं, जन्म मृत्यु के चक्कर से छूट जाते हैं।

आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्य।।4 उपनि. पृ.416

जो साधक सत्त्वादि गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उनको तथा समस्त भावों को परमात्मा में लगा देता है उसी को समर्पण कर देता है उसके इस समर्पण से उन कर्मों का अभाव हो जाने पर उस साधक के पूर्व संचित कर्म-समुदाय का भी सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकार कर्मों का नाश हो जाने पर भी वह साधक परमात्मा को प्राप्त हो

जाता है क्योंकि वह जीवात्मा वास्तव में समस्त जड समुदाय से भिन्न (चेतन) है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृर्तयुखात् प्रमुच्यते।। 15उपनि. पृ.111

जो शब्द रहित, स्पर्श रहित, रस रहित और बिना गन्ध वाला है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम) महान् आत्मा से श्रेष्ठ एवं सर्वथा सत्य-तत्त्व है उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से सदा के लिए छूट जाता है।

निष्कलं निष्क्रिँय शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परँ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ।।19 उपनि.पृ.426

कलाओं से रहित, क्रिया रहित, सर्वथा शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृत के परम सेतु, जले हुए ईंधन से युक्त अग्नि की भाँति निर्मल ज्योति स्वरूप उन परमात्मा का मैं चिन्तन करता हूँ।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से ब्रह्माण्ड एवं जीव

अत्याधुनिक (String theory (M.theory, unified theory या ***एकीकृत सिद्धान्त***- ब्रह्माण्डीय विज्ञान, जीव विज्ञान के अनुसार शुरु में कुछ भी नहीं था। (Atom)अणु से भी बहुत ही सूक्ष्म कण था जो कि ऊर्जा रूप में था। एक सैकण्ड के खरबों-खरबां भाग में वह फैला। एक सैकण्ड के 10 लाखवाँ समय में भी वह एक अणु के आकार रूप में परिणमन नहीं हुआ था। 13 से 20 अरब वर्ष पूर्व प्रकाश फँसा हुआ था, इसे प्राथमिक अणु कहते हैं। उसमें एक सैकंड के (10^{-30})में महाविस्फोट हुआ। उस समय अभी के ब्रह्माण्ड की गर्मी से अरबों गुणा गर्मी थी। उस समय 10 करोड़ एंटी पार्टिकल में 10 करोड़ 1पार्टिकल थे, अर्थात् एक पार्टिकल के असन्तुलन के कारण वर्तमान का ब्रह्माण्ड बना। अन्यथा दोनों प्रकार के पार्टिकल समान अनुपात में होते हैं तो एक दूसरों को नष्ट कर देते और केवल ऊर्जा ही ऊर्जा रूप हो जाते। उस समय की गर्मी हमारे सूर्य की गर्मी से 10 करोड़ गुणा अधिक थी। कण के टक्कर से तरल पदार्थ बना। महाविस्फोट के पहले 3 मिनट में केवल हाइड्रोजन का केन्द्रक था, जिसकी वजह से उसका 10 प्रतिशत भाग हीलियम और कई प्रकार के हल्के तत्व बने। फिर ब्रह्माण्ड तेजी से फैला और भारी तत्त्वों तथा हीलियम का सृजन हुआ। 3लाख 80 हजार वर्ष में महाविस्फोट फैलकर हमारे आकाशगंगा के समान बना। महाविस्फोट के 1 से आधा अरब वर्ष बाद तारे बने। 100 अरब निहारिकाओं में से एक निहारिका हमारी आकाशगंगा है जो कि 1लाख प्रकाश वर्ष विस्तार वाला है। 3अरब 80 करोड़ वर्ष पूर्व में हमारी पृथ्वी

पिघली हुई थी। जीवन विकास का क्रम 4·5अरब वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ। 2अरब वर्ष पूर्व ऑक्सीजन बनी। अति सूक्ष्म जीव की उत्पत्ति के बाद ऑक्सीजन बनी जिससे पूर्व के अनेक सूक्ष्म जीव मर गये और कुछ जीव बचे जिससे क्रम विकास प्रक्रिया से व्हेल मछली बनी। 3.5अरब वर्ष तक जीवों का विकास जल में हुआ। एक कोशिका से बहुकोशिका होते हुए व्हेल मछली तक विकास के लिए 3 अरब वर्ष लगे। 57वर्ष करोड़ पूर्व कठोर कवच वाले जीव बने। 30 करोड वर्ष तक चक्राकार घूंगों का साम्राज्य रहा। 50 करोड वर्ष पूर्व तक केंब्रियन काल रहा। 45 करोड वर्ष पूर्व जमीन पर जीव जल से निकल कर आये। पहले केंकेड़े अण्डा देने के लिए जमीन पर आये । 40 करोड वर्ष पूर्व जमीन हरी-भरी हुई । 37 करोड वर्ष पहले सरीसृप की सृष्टि हुई। 32 करोड वर्ष पहले अधिक परिवर्तन् हुआ। 24 करोड वर्षों से मगरमच्छ है और 7 करोडों वर्षों से ऐसा ही है और करोडों वर्ष तक ऐसा ही रहेगा । 10 करोड वर्ष पहले डायनासोर उत्पन्न हुए । 6.5 करोड वर्ष पहले उल्कापात से डायनासोरों का नाश हुआ तथा जो बिल आदि में चुहे जैसे छोटे स्तनपाई बच गये और उनसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्तनधारियों का विकास हुआ। 20 करोड वर्ष पहले स्तनधारी उत्पन्न हुए। 55 करोड वर्ष पहले अनेक पैर वाले जटील जीव उत्पन्न हुए । 5 करोड वर्ष पहले आधुनिक बडे जीव उत्पन्न हुए। 32 करोड वर्ष पहले पतंग में पंख उत्पन्न हुए। 40-70 लाख वर्ष पूर्व अफ्रीका में बंदर जमीन पर पैर से चलने लगे और क्रम विकास करता हुआ आधुनिक मानव बने। प्रथम मानव की उत्पत्ति 8 लाख वर्ष पूर्व हुई। 5लाख वर्ष पूर्व अफ्रीका से मानव निकले परन्तु असफल रहे। पुनः 1लाख पूर्व जो मानव अफ्रीका से निकले वे ही पृथ्वी में फैल गये। 40 हजार वर्ष पूर्व से आधुनिक मानव का प्रारम्भ हुआ। 35 हजार वर्ष पूर्व प्रस्थर युग प्रारम्भ हुआ। 30 हजार वर्षों से सांस्कृतिक विकास हुआ। 8-10 हजार वर्ष पूर्व मिस्र, बेबीलोन संस्कृतियों का जन्म हुआ । भारत की संस्कृति 5000 वर्ष प्राचीन है। **कुछ वैज्ञानिकों की ब्रह्माण्ड एवं जीव विषयक परिकल्पनाओं को निम्न में विस्तार से प्रस्तुत कर रहे हैं-**

पहले ब्रह्माण्ड में नीहारिकाओं या आकाश गंगा जैसा कुछ नहीं था। उस समय सर्वत्र शून्य था। उस शून्यता में एक हलका-पतला द्रव्य था। किसी अनजाने कारण से उसमे कंपन हुआ और द्रव्य के कण एक दूसरे कणों से मिलकर बडे होते गए। बडे पिंड आकर्षण बल से शून्य के द्रव्य को अपनी ओर खींचकर अपना आकार बढाने लगे। इस तरह शून्य में प्रंचड गैस-बादल उत्पन्न हो गये। ये गैस-बादल अपनी-अपनी धुरी पर घूमने लगे। उसी से ये नीहारिकाएँ बनीं-इस प्रकार द्रव्य संचय हुआ और शेष शून्य तो शून्य ही रहा आया।

ब्रह्माण्ड का जन्म आज से लगभग 10-20 बिलियन प्रकाश वर्ष पूर्व हुआ किंतु मानव को वर्तमान स्वरूप में जन्मे अधिक-से-अधिक 10 लाख वर्ष हुए होंगे। यह अवधि 10-20 बिलियन की तुलना में नगण्य है। समय माप के अनुसार ब्रंह्माण्ड की तुलना में मानव का जन्म मानो आज ही हुआ है।

द्रव्यात्मकता एक शुद्ध मानसिक संकल्पना है जो हमारी स्पर्श इंद्रियों पर वस्तुओं के प्रभाव का माप है। उदाहरणार्थ, हम पत्थर या मोटरकार को तो द्रव्यात्मक कहते हैं, किंतु प्रतिध्वनि या इंद्रधनुष को नहीं। स्वप्न में दिखाई देने वाले अंतरिक्ष और दैनिक जीवन के अन्तरिक्ष के बीच में भी ऐसा ही भेद समझना चाहिए। यही बात काल (समय) के सम्बन्ध में है। विश्व को शुद्ध विचार मानने की धारणा से आधुनिक भौतिकी के अध्ययन में आने वाली समस्याओं पर नया प्रकाश पडता है। अब यह ठीक से समझा जा सकता है कि जिस ईथर के अंतर्गत विश्व की सभी घटनाएँ घटित होती हैं वह किस प्रकार एक गणितात्मक अमूर्तीकरण के रूप में परिणत हो सकता है। **हम यह भी समझ सकते हैं कि विश्व की मूल वस्तु-ऊर्जा को एक गणितात्मक अमूर्तीकरण (अवकल समीकरण)के रूप में क्यों मानना** पडा। गणितीय सूत्र कभी भी यह नहीं बता सकता कि कोई वस्तु क्या है। वह इतना ही बता सकता है कि वह वस्तु कैसा आचरण करती है।

जब प्रकाश के आचरण की यथार्थता को व्यक्त करने वाला गणितीय सूत्र मिल चुका है तो हम अपनी मनोदशा और सुविधा के अनुसार प्रकाश को चाहे कण कहें या तरंग। और तरंग के रूप में मानने पर हम चाहे तो तरंगों को प्रेषित करने वाले ईथर की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु यह ईथर प्रतिदिन बदलता रहेगा।

इसी तरह हम इस विश्व को दिक्-काल को व्यक्त करने वाले साबुन के बुलबुले के रूप में देख सकते हैं। **पृथ्वी से विशुद्ध गणितज्ञ का संबंध भौतिक वस्तुओं से नहीं, बल्कि केवल विचार से है**। उसकी रचनाएँ विचारों से निर्मित ही नहीं, बल्कि साक्षात् विचारमय हैं उसी तरह जिस तरह शिल्पी की रचनाएँ यंत्रमय होती हैं। आज जो संकल्पनाएँ प्रकृति को समझने में सहायक सिद्ध हो रही हैं, वे हैं, -ससीम अंतरिक्ष, रिक्त विश्व, चार, सात या अधिक सीमाओं वाला अंतरिक्ष।

ऑगस्टीन का अनुमान सही लगता है कि'समय और आकाश एक क्षण उत्पन्न हुए। यदि वे कभी विलीन होंगे तो साथ ही विलीन होंगे। समय की सृष्टि करते समय ईश्वर का मन और विचार ऐसा ही था'।

विश्व का स्वरूप : केवल तरंगों से निर्मित

गैलीलियो और न्यूटन के काल में सारे विश्व को एक यंत्र के रूप में मानने की प्रवृत्ति शुरु

हुई और उन्नीसवीं सदी के अंत तक अपने चरम पर पहुँच गई। हेल्महोल्ट्ज ने घोषणा की 'सारे प्रकृति विज्ञान का अन्तिम लक्ष्य यंत्र विज्ञान के रूप में ही परिणत होना है'।

इसका कारण यह था कि उस काल के वैज्ञानिक अधिकांशतया ' इंजीनियर' थे और वे समस्त प्रकृति का 'यांत्रिक मॉडल' तैयार करना चाहते थे। गैसों के गुण भी यंत्रवत् बतायें गए। प्रकाश और गुरुत्वाकर्षण के लिए भी ऐसी ही व्याख्या की कोशिश हुई, किन्तु सफलता नहीं मिली। तब भी विश्व की एक विशुद्ध यांत्रिक व्याख्या पर विश्वास अटल रहा। किन्तु इसके विपरीत आदर्शवादी दृष्टिकोण वाले संसार को केवल विचारों की सृष्टि के रूप में देखने और विचारों से निर्मित्त मानने का प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण में नैतिकता के लिए गुंजाइश न थी। उन्नसवीं सदी के अन्त तक यह सिद्ध हो गया कि विकिरण और गुरुत्वाकर्षण की विशुद्ध यांत्रिक व्याख्या संभव नहीं है। **प्लैंक द्वारा प्रस्तुत विकिरण की व्याख्या न केवल अयांत्रिक थी, बल्कि उसका संबंध किसी भी यांत्रिक विचार पद्धति से जोड़ना असंभव था। यही आगे चलकर ' क्वांटम पद्धति' के नाम से विख्यात हुई। यहीं से विज्ञान में यांत्रिक युग का अंत और नए युग का सूत्रपात हुआ।**

पुराने विज्ञान ने घोषणा की थी कि प्रकृति कार्य और कारण की अविच्छिन्न शृंखलाका पालन करती है।नए विज्ञानमें'आपेक्षित प्रायिकताओं'(Probabillties) पर बल था। यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता था कि एक स्थिति के बाद कौन सी स्थिति आयेगी। आज विज्ञान इस प्रायिकता की उपेक्षा नहीं कर सकता।

अब पदार्थ और विकिरण दोनों तरंगों के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अतः हम एक ऐसे जगत् में रह रहे हैं जो केवल तरंगों से बना है।

विश्व के मूल संघटक परमाणु यानी परमाणुओं का विश्व

जब तक परमाणुओं को स्थायी और अनश्वर माना जाता रहा तब तक उनको विश्व के मूल संघटक अंगों के रूप में मानना स्वाभाविक था यानि यह ' विश्व परमाणुओं का ही विश्व' था। विकिरण को गौण स्थान प्राप्त था। किन्तु जब यह मान लिया गया कि परमाणु का निर्माण विद्युत् कणों (इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन) से हुआ है तो परिस्थिति बदलने लगी।

फैरेडे तथा मैक्सवेल ने विद्युत् कण को एक ऑक्टोपस (Octopas) जैसी रचना वाला बतलाया, जिसके क्षुद्र तथा ठोस पिंड से सारे अंतरिक्ष में टैंटेकिल्स (संस्पर्शक) या फीलर्स जैसी बल रेखाएँ निकलती हैं।

जब किसी परमाणु से विकिरण निकलता था तो ऐसा लगता था जैसे वह अपने

कुछ संस्पर्शक अंतरिक्ष में उसी तरह विसर्जित कर देता हो जिससे ही (एक पशु)अपने काँटे गिरा देता है। **इस तरह पदार्थ और विकिरण पहले की अपेक्षा अधिक निकट संबंधित हो गये।**

आइंस्टाइन के सिद्धान्त के अनुसार विकिरण में द्रव्यमान होना चाहिए, क्योंकि विकिरण ऊर्जा का ही रूप है। जब किसी परमाणु से विकिरण निकलता है तो उसके द्रव्यमान में जो कमी आयेगी वह उत्सर्जित विकिरण के द्रव्यमान के तुल्य होगी।**आइंस्टाइन ने 1905 में यह सिद्धान्त दिया था कि गतिज उर्जा ही नहीं, बल्कि'हर प्रकार की ऊर्जा का अपना द्रव्यमान होता है'**। कठिन शारीरिक परिश्रम करने वाले मनुष्य की व्यय होने वाली ऊर्जा का भार केवल 1/60,000 औंस होगा- यानि ऊर्जा का द्रव्यमान नगण्य होगा।

मैक्सवेल ने 1873 में **सिद्ध किया था कि जब विकिरण किसी तल पर पडता है तो उस पर दबाव डालता है। इस तरह विकिरण का द्रव्यमान स्वयं सिद्ध** है। प्रकाश की एक किरण वाला प्रकाश का वेग (1,86,000 मील/सैकेंड) के वेग से चलने वाले एक द्रव्यमान के रूप में है।

पृथ्वी पर प्रकाश का दबाव बहुत ही कम होता है; किन्तु तारों के भीतर विकिरण का यह दबाव इतना अधिक है कि तारे का अधिकांश भार उसी के कारण है। गणना करने पर पता चला है कि पृथ्वी या अन्य पिंडों के प्रति वर्ग मील पर सूर्य से प्रतिमिनट एक औंस के लगभग एक हजारवें भाग के बराबर सूर्य प्रकाश पडता है। यह प्रकाश के वेग से चलता है और पृथ्वी पर विरामावस्था प्राप्त करने तक लगभग 0.000,000,000,04 वायुमंडल दबाव डालता है। वैसे तो परिणाम में यह अत्यल्प है, किन्तु एक वर्ग मील का क्षेत्र खगोलीय अंतरिक्ष की दृष्टि से बहुत सूक्ष्म है।

अंतरिक्ष की वक्रता पदार्थ के कारण

आइंस्टाइन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार अंतरिक्ष में स्वयं वक्रता है। यह वक्रता वैसी ही है जैसी पृथ्वी के तल की है। सूर्य ग्रहण के अवसर पर दिखाई देने वाली किरणों की वक्रता का और ग्रहों तथा धूमकेतुओं के पथों की वक्रता का भी यही कारण है- अंतरिक्ष की वक्रता भी पदार्थ की उपस्थिति के कारण है। **इसका अर्थ यह हुआ कि 'पदार्थ विहीन यानि रिक्त अंतरिक्ष बिल्कुल ऋजु या सीधा होगा इसलिए वह असीम होगा। किन्तु यह विश्व रिक्त नहीं। इसका आकार इसमें विद्यमान पदार्थ की मात्रा पर निर्भर करेगा। विश्व में जितना अधिक पदार्थ होगा वह उतना ही वक्र होगा-तेजी से वक्र होने वाला वृत्त धीरे-धीरे वृत्त से छोटा बन जाता है।**

बुलबुले जैसा विश्व

यह विश्व साबुन के बुलबुले के समान है। जिस तरह बुलबुले का आकार उसके आवेश की मात्रा पर निर्भर करता है उसी प्रकार विश्व का आकार उसके पदार्थ की मात्रा पर निर्भर रहता है। लेकिन बुलबुला इस अर्थ में थोड़ा भिन्न है कि आवेश रहित होने पर वह वक्र बना रहता है, जबकि पदार्थ विहीन रिक्त विश्व असीम आकार का हो जाता है। विद्युत् आवेश बढाने पर बुलबुले का आकार बढता रहता है, किन्तु विश्व में अधिक पदार्थ होने पर और आगे पदार्थ भरने की गुंजाइश नहीं रहती।

तो भी आइंस्टाइन ने **विश्व को बुलबुले के समान माना है। उसके अनुसार विश्व में पदार्थ से उत्पन्न वक्रता के साथ-साथ एक सहज वक्रता भी होती है,** जिसके कारण पदार्थ के परिणाम के बढने के साथ उसका आकार बढ जाता है।

इस तरह यदि इस विश्व का निर्माण आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार हुआ है तो उसके अंदर विद्यमान सभी पदार्थ या तो एक-दूसरे से दूर भाग रहे होंगे या एक-दूसरे के निकट आ रहे होंगे। इसकी पुष्टि सुदूर नीहारिकाओं से होगी, जो भूमि से दूर भाग रही हैं। 900-4500 मील प्रतिसेकेंड के वेग से सुदूर नीहारिकाएँ हमसे दूर जा रही हैं। इसका प्रमाण यही है कि उनसे मिलने वाला प्रकाश अधिक लाल दिखाई देता है। निकटतम नीहारिकाएँ जो हमारी और आ रही हैं, उनका प्रकाश नीला होता है।

कितने तारे दिखते हैं

आखों से लगभग चार हजार तारे दिखते हैं। छोटी दूरबीन से लाखों और पाँच सौ सेंटीमीटर दूरबीन से 20 अरब तारों के चित्र लिये जा सके हैं। क्या यदि दूरबीन का व्यास बढा दिया जाए तो तारों की संख्या बढती जाएगी ?

इसका उत्तर जटिल है, क्योंकि अंतरिक्ष समान रूप से तारों से पूरित नहीं है। ब्रह्माण्ड में तारों के गुच्छ पाए जाते हैं।

वस्तुतः जितने भी तारे दिखते हैं या जिनके फोटो खींचे जा सकते हैं, वे हमारी मंदाकिनी-आकाश गंगा के हैं। मंदाकिनी का विस्तार अति विशाल है। फिर अन्य मंदाकिनयाँ भी तो हैं। इस तरह कुल तारे दस मिलियन मिलियन मिलियन होंगे।

ब्रह्माण्ड और जीव सृष्टि

पृथ्वी पर जीवन लहराता है। भौगोलिक संयोगों के अनुसार कहीं वह ज्यादा विकसित है तो कहीं कम। किसी जगह वह विपुल प्रमाण में है तो दुसरी जगह में कम प्रमाण में। कुछ भी हो, पृथ्वी की सतह पर ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ एक या दूसरे प्रकार

का कोई जीवन चैतन्य-न हो। रेती के या बर्फ के रणों में भी मनुष्य से लेकर सूक्ष्म बेक्टेरिया तक की सृष्टि है।

कुछ साल पहले माना जाता था कि पृथ्वी का जीवन अद्वितीय है। इतना ही नहीं सौर मण्डल की रचना को भी अद्वितीय माना जाता था। मगर अब मालुम हुआ कि हकीकत कुछ और है। जीवन प्राक्ट्य के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न होते ही जीव सृष्टि का उद्गम हो सकता है और उसी तरह बुद्धि का आविर्भाव हो सकता है। जीवन और बुद्धि के प्रकटीकरण को अब असाधारण या विरल घटना नहीं माना जाता है।

जीवन प्रकट होने के बाद वह सतत रूप में चालु रहे इसलिये कुछ परिस्थितियों का मौजूद रहना जरुरी है। उदाहरणार्थ किसी ग्रह पर जीवन प्रकटने वाला हो तो उस ग्रह को प्रकाश देने वाला तारा दीर्घजीवी होना चाहिये और साथ-साथ उसका शक्ति-निर्गम एक-सा होना चाहिये। कुछ बातें और भी जरुरी हैं। ग्रह की कक्षा तारे के आसपास के बस्तीक्षम प्रदेश में होनी चाहिये ताकि उर्जा का लाभ ग्रह पा सके। तारे की गर्मी में उपर्युक्त प्रदेश को आवश्यक गर्म करने की ताकत होनी चाहिये। जरूरत से ज्यादा गर्मी या बहुत कम गर्मी जीवन के प्रकटीकरण में काम की नहीं है। एक और बात भी है - ग्रह की कक्षा का स्थिर ढंग का होना जरुरी है।

जीवन और विकास की प्रक्रिया को संभव बनाने वाला तारा दीर्घजीवी होना चाहिये। जीवन की उत्क्रान्ति कितने समय में होती है यह कहना मुश्किल है। पृथ्वी पर जिस प्रकार का जीवन है वैसा जीवन अगर दूसरे ग्रहों पर होने का मान लें तो उसका उत्क्रान्ति समय 1 से 3 अरब साल का हो सकता है। पृथ्वी पर पिछले 3 अरब वर्षों से जीवसृष्टि लहलहा रही है। यह सत्य है कि जैविक उत्क्रान्ति यदृच्छा परिवर्तनों के अधीन है फिर भी पृथ्वी पर जो संभव हो सका है उसे कुछ परिवर्तनों के साथ दूसरे ग्रहों पर होना मान लें तो जीवन की उत्क्रान्ति समय 1 से 3 अरब साल का कल्पित किया जा सकता है। जैविक उत्क्रान्ति की दर सब जगह एक-सी नहीं होने की, वह दूसरी बातों पर निर्भर रहेगी। इन बातों में से एक ग्रह का चुम्बकीय क्षेत्र है और दूसरी उसका वातावरण। हमने देखा कि परिवर्तन यदृच्छा प्रक्रिया है और इस कारण उपर्युक्त बातों (कारणों) से हमारी गिनती में बहुत बडा फर्क आने की संभावना नहीं है। एक कारण यह भी है कि परिर्वतन की ऊँची दर उत्क्रान्ति को हमेशा वेगवान नहीं बनाती है। हकीकत यह है कि ज्यादा परिवर्तन नुकसान कारक है। कुदरती क्रम को अनुकूल होने के लिये क्रम परिवर्तन होना जरुरी है। **अपने मंदाकिनी विश्व में 100 अरब तारे हैं। ग्रहों की संभावना वाले तारे अगर 1 प्रतिशत माने जायँ तो एक अरब तारों को जीवन की संभावना वाले तारे मानना पडेगा ।**

मगर यह हुई उष्मा की दृष्टि से बात। जीवन की संभावना के लिये एक और पहलू भी है। वह है ग्रह की अविचल कक्षा। पृथ्वी की कक्षा से हम परिचित हैं। वह अविचल ढंग की कक्षा है। यूरेनस की कक्षा में नेपच्युन के कारण थोड़ा विक्षेप उत्पन्न होता रहता है फिर भी वह अविचल कक्षा है। सूर्य मण्डल के सभी ग्रहों की कक्षायें करीब अविचल प्रकार की हैं। मगर युग्म तारों की कक्षायें वैसी नहीं हैं। वे थोड़ी बहुत पलटती रहती हैं। फिर भी इस बात का यह अर्थ नहीं है कि सभी युग्म तारों के सभी ग्रहों की कक्षायें अविचल नहीं हैं। निरीक्षणों से जो पता चला है वह यों है- ग्रहों के समष्टिक्षम प्रदेश में ग्रहों की कक्षायें अविचल स्वरूप की हों इस वास्ते युग्मतारे के साथी तारे सूर्य-प्रकार के होने चाहिये और उनके बीच का अन्तर 0.05 आकाशीय इकाई से कम या 10 आकाशीय इकाई से ज्यादा होना चाहिए। जिन युग्म तारों के साथी तारों के बीच की दूरी 0.05 आकाशीय इकाई से 2 आकाशीय इकाई की है वहाँ जीवन की क्षमता वाले ग्रहों का अस्तित्व नहीं है।

अंतरिक्ष-स्थित बहुत से तारे युग्म तारे या बहुल तारे हैं । हमने अब तक जो चर्चा की उसके संदर्भ में अब यह कह सकते हैं कि इन तारों में से 1या 2 प्रतिशत तारे ही जीवन की संभावना वाले ग्रहों को धारण करते हैं। अलबत्ता इन ग्रहों को दूरबीन से देख पाना सम्भव नहीं है। फिर भी आज यह कल्पना जोरों पर है कि जो तारे अकेले से मालुम होते हैं वे शायद ग्रहों वाले तारे हैं ।

कार्बन वाले सेन्द्रिय संयोजनों के मिश्रणों को जीवन तत्त्व माना जाता है। ये मिश्रण किस प्रकार उत्पन्न होते हैं यह लम्बे अरसे तक मालुम न हो सका था। आज उन्हें हम जीवन प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होते देख पाते हैं। फिर भी पुरातन काल में वे किस प्रकार उत्पन्न हुए होंगे इसकी कोई कल्पना न की जा सकी थी। प्रोफेसर हेरोल्ड ऊरी और उनके शिष्य डॉ. स्टेनली मिलर ने एक प्रयोग हाथ में लिया।उन्होंने कल्पना की कि पृथ्वी के आदिकाल में भी पृथ्वी के वातावरण में बिजली कौंधती होगी। उन्होंने मीथेन, एमोनिया और पानी की भाप वाला पृथ्वी का आदि वातावरण प्रस्तुत करके उस पर बिजली को डाला। वायुओं के उपर्युक्त मिश्रण में से बिजली जब गुजरी तब अनेक प्रकार के कार्बनिक द्रव्यों की उत्पत्ति हुई जिनमें महत्त्व के एमिनो एसिड भी थे। एमिनो एसिड प्रोटीन बनाने वाले पदार्थ हैं। प्रो. ऊरी के इस प्रयोग ने साबित कर दिखाया कि जिनका विकास सजीव तत्त्वों में हो सकता है वैसे सेन्द्रिय मिश्रण पृथ्वी के आदि काल में पृथ्वी पर कुदरती रूप में उत्पन्न हुए होंगे।

जीवन और उसके प्रादुर्भाव के बारे में वैज्ञानिकों की परिकल्पना :- जीवन अस्तित्व में कैसे आया होगा, इसका कोई स्पष्ट खयाल हमको (वैज्ञानिकों)नहीं है। साथ-साथ कौनसी शक्ति के मृदु स्फुल्लिंगों के कारण अक्रिय पदार्थों में से चेतना का स्रोत बहना शुरु हुआ होगा उसका पता लगाना भी मुश्किल है। फिर भी पृथ्वी पर फैले हुए जीवन की परिस्थितियों को दूसरें ग्रहों के जीवन के संदर्भ में विवेचना करना ठीक होगा। **पृथ्वी पर का जीवन प्रोटोप्लाझमिक, कार्बन आधारित और श्वास में आँक्सीजन का उपयोग करने वाला है।** ऐसे जीवन के प्राकट्य और सातत्य के लिये निम्नलिखित परिस्थितियों का मौजूद होना अनिवार्य देखा जाता है।

1)जीव सृष्टि के निर्माण के लिये आवश्यक आधारभूत पदार्थ अस्तित्व में होने चाहिये। वे पदार्थ प्रचुर मात्रा में और साथ-साथ आसानी से और तुरन्त प्राप्त हों ऐसा होना चाहिये। और वे पदार्थ स्थिरतावाले तथा अनेक प्रकार की संकुलता वाले, यौगिक पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमतावाले, रासायनिक गुणधर्मों वाले होने चाहिये। और उत्पन्न होने वाले पदार्थ आसानी से मूलभूत तत्त्वों में बदल न जायें उस प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होनी चाहिये।

2)आधारभूत पदार्थ और उसके यौगिक पदार्थों को टिकानेवाला और उनकी रासायनिक प्रक्रियाओं को मदद रूप होने वाला कोई द्रावक होना चाहिये।

3) ऊर्जा प्रकट करने वाली किसी भी प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया मौजूद होनी चाहिये।इस प्रक्रिया के द्वारा ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत् या अन्य किसी प्रकार का विकिरण पैदा होना चाहिये। और यों यह प्रक्रिया जीव-रासायनिक (आँक्सीजन पूरक-कारक)प्रकार की या ताप-नाभिकीय (संघटन, संगलन, क्षय) प्रकार की होनी चाहिये।

4)प्रतिक्रियक पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने चाहियें ताकि रासायनिक या नाभिकीय प्रतिक्रियाओं का सातत्य खंडित न हो।

उपर्युक्त बातों के हिसाब से पृथ्वी पर की परिस्थितियाँ सानुकूल हैं। वहाँ आधारभूत पदार्थ कार्बन है, द्रावक पानी है, पैदा होता विकिरण जीव-रासायनिक प्रकार का है और प्रतिक्रियक ऑक्सीजन है।

कार्बन आधारित जीव सृष्टि को वातावरण से ही ऑक्सीजन प्राप्त होना चाहिए ऐसा भी नहीं है (बेक्टेरिया अपने लिए यौगिक पदार्थों में से ऑक्सीजन प्राप्त करता है)। जीवन-सातत्य के लिए जीवन की प्रक्रियाओं को चालू रखने को और वेगवान बनाने को प्रक्रिण्वों (Enzymes) की आवश्यक रहती है। प्रक्रिण्व जटिल प्रकार के उद्दीपक हैं । वे अपना काम उत्तम प्रकार से करते रहें इसलिये निश्चित ताप-मान का सातत्य आवश्यक

है। तापमान कम होने पर प्रक्रिण्वों की प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं और ज्यादा होने पर प्रक्रिण्वों का नाश हो जाता है। पृथ्वी पर का जीवन 100^0 से. ग्रे. से-75^0 से. ग्रे. तक की मर्यादा वाला है। (ब्रह्माण्ड दर्शन)

ब्रह्मांड के कितने ग्रह जीवन के अनुकूल हैं ?

आजकल अन्य लोकों में जीवन की संभावना विषयक नवीन विज्ञान ' बहिर्जीव विज्ञान' (Exobiology) विकसित हो रहे हैं।

किन्तु जीव निर्माण काफी जटिल प्रक्रम है। अभी पृथ्वी सौरमंडल का एक मात्र भाग्यशाली ग्रह है, जिस पर सभी प्रकार का जीवन है; वृक्ष, पशु और बुद्धिमान मनुष्य पाये जाते हैं। एक तरह से सौरमंडल में पृथिवी ही आदर्श स्थली है जीवन के लिए। किन्तु क्या अन्य तारे, जिनके ग्रह हैं, उनमें पृथ्वी जैसा जीवन नहीं हो सकता? सचमुच मानव जाति के लिए सबसे अनूठी खोज होगी बाह्य अंतरिक्ष में पृथ्वी जैसी सभ्यता का अस्तित्व।

खगोलविदों का अनुमान है कि ब्रह्माण्ड में 10^{20} तारे हैं और इनमें से अधिकांश के ग्रह हैं, जो उसी तरह चक्कर लगाते हैं जिस तरह सूर्य के चारों ओर उसके ग्रह। इस तरह खगोलविदों ने गणना की है के लगभग 10^{11} ग्रहों में - लगभग आधे तारों के बराबर जीवन का उदय हुआ है। इनमें से बहुत से ग्रह हमारी पृथ्वी जैसे हैं और हमारी पृथ्वी जैसा ही जीवन उदय हुआ।

हमें ज्ञात है कि पृथ्वी पर कुछ ऐसे जीव हैं- जीवाणु तथा शैवाल- जो उबलते जल के ताप पर अपनी वृद्धि करते रह सकते हैं। इसी तरह कुछ जीव हिमांक से निम्न ताप पर भी जीवित रहते हैं। (अंतरिक्ष की रोचक बाते पृ.94)

1970 में नासा ने पर ग्रह में जीवों की खोज के लिए यंत्र भेजा है। वाइजर को भी इस उद्देश्य से भेजा गया है जो कि आकाश गंगा की परिक्रमा कर रहा है। अभी तक इस यान ने 6अरब मील से भी अधिक दूरी की यात्रा करली है। इस के डिस्क में मानव इतिहास, D.N.A., R.N.A फिट किया गया है। वैज्ञानिकों के अनुमान से आकाश गंगा में पृथ्वी से भी अधिक बुद्धिमान जीव हैं। ब्रह्माण्ड रूपी जंगल में हमारी पृथ्वी पौधे के समान है। हम इतने विकसित नहीं है कि जो अन्यग्रही हमें ध्यान दें । अन्य ग्रही की आयु हम से अधिक है। हमारे अहंकार से हम दूसरे ग्रही को नहीं समझते हैं। वैज्ञानिकों के पास जो प्रमाण है उससे और ब्रह्माण्डीय गति-विधि से ज्ञात होता है कि अन्य ग्रहों में उच्च जीवन है। 1947 में उड़न तस्तरी धरती में प्रथम बार आई। 200 प्रकाशवर्ष की दूरी से 72 सेकेंड तक कुछ सूचनायें आई। जिसे वैज्ञानिक कम्प्यूटर में Woy शब्द पढा गया। 2025 तक अन्यग्रही से संपर्क संभव हो सकेगा। वैज्ञानिक हाकिंग के अनुसार अन्यग्रही

हम से श्रेष्ठ होने से उनसे नहीं मिलना चाहिए क्योंकि पृथ्वी में भी दो सभ्यता वालों के मिलने से संघर्ष हुआ है परन्तु अन्य वैज्ञानिक मानते हैं कि श्रेष्ठ व्यक्तिओं के मध्य संघर्ष नहीं होता है। 10,000 सभ्यतायें आकाश गंगा में संभव है।

मानव का क्रम विकास

नर वानर 40-70 लाख वर्ष पूर्व दो पैर से चलने लगा। यह अवस्था 10 लाख वर्ष तक रही। हेमो एलट्रेस का विकास उसके बाद हुआ। इसका मस्तिष्क नर वानर से 2 गुना था। यह अवस्था 20 लाख वर्ष तक रही। ओजार के माध्यम से भोजन की व्यवस्था के कारण उसके मस्तिष्क में वृद्धि हुई। 20 लाख वर्ष में 30˙/. मस्तिष्क कि वृद्धि हुई। वह अग्नि का प्रयोग भी करता था। उसे भाषा ज्ञान नहीं था। इनका लोप 50 हजार वर्ष पहले हुआ। मनुष्य को सीधा चलने के लिए 10 लाख वर्ष लगा। होमोसोपियन आधुनिक मनुष्य के पूर्वज हैं। इनका मस्तिष्क पूर्व के दोनों पूर्वज के मस्तिष्क के जोड से भी अधिक था। वे 2लाख वर्ष पूर्व तक अफ्रिका में थे। होमोसोपियन से नियण्डर अलग थे और वे 1 से 2 लाख वर्ष पूर्व थे। 60 हजार से एक लाख वर्ष पहले भाषा का विकास हुआ। 40 हजार वर्ष पहले मानव ने चित्र बनाया। अफ्रिका की जनजाति होमोसोपियन के वंशज हैं। 50 लाख वर्ष पूर्व मानव का मस्तिष्क चिपांजी जितना बडा था। मनुष्य जब दो पैर से चलने लगा तब उसका मस्तिष्क बडा होता गया। मनुष्य समूह में रहने से उसकी व्यवस्था तथा सुरक्षा के लिए उसे जो विचार एवं कार्य करना पडा उसके कारण उसका मस्तिष्क 8गुना बडा हुआ। धर्म, कला, संस्कार, शिक्षा आदि ने मनुष्य को अन्य जीवों से श्रेष्ठ बनाया। 80 लाख वर्ष पहले मनुष्य चिपांजी से अलग हुआ। भाषा के साथ-साथ मनुष्य ने लिखना सीखा जिससे वह उसने उपार्जित ज्ञान को नई पीढी को हस्तान्तरित किया। इससे मानव विकास में तीव्रता आई। 35हजार वर्ष पूर्व के पाषाण युग के मानव और आधुनिक मानव के जिन, बुद्धि,क्षमता में समानता होने पर भी उपर्युक्त भाषा, लेखन,ज्ञान, स्मरण, यंत्र आदि के कारण दोनों में बहुत भिन्नता है। चिपांजी और हमारे जिन में केवल 1%(1/100) भिन्नता है।

ब्रह्माण्ड एवं जीव का विनाश

विज्ञान के अनुसार -ब्रह्माण्ड का जन्म -विकास एवं विनाश हमारे जन्म विकास एवं विनाश है। अतः ब्रह्माण्ड के विनाश की वैज्ञानिक अवधारण भी निम्न में प्रस्तुत है-

1) ब्रह्माण्ड प्रकाश के वेग से फैल रहा है जिससे खरबों वर्ष बाद पृथ्वी, तारे, नीहारिकाऐं आदि फट जायेगें। इतना ही नहीं अणु तक फट जायेगें। जिससे ब्रह्माण्ड नाश हो जायेगा। केवल शान्त, शीतल अन्धकार पूर्ण अन्तरिक्ष ही रह जायेगा। M. theory के अनुसार

संभवतः महाविस्फोट 11-16 बार हो गया है।

2)आगे सूर्य का तापमान 10 करोड सेंटिग्रेट हो जायेगा जिससे समुद्र का पानी वाष्प होकर उड जायेगा और 90 प्रतिशत पृथ्वी समाप्त हो जायेगी। 5अरब वर्ष के बाद सूर्य अभी से 10 अरब गुना फैल कर बडा हो जायेगा। इससे पृथ्वी के सब जीव नाश हो जायेगें।

3)अभी तक 17 हिमयुग के कारण पृथ्वी के जीव नाश हो गये हैं। बर्फ पिघलने से मिथेन गैस निकलती है जिससे वृक्ष नष्ट हो जाते हैं और अन्य जीव भी मर जाते हैं।

4) वृक्ष जलने से कार्बनडाइ आक्साइड गैस निकलती है जिससे जीव नष्ट हो जाते हैं।

5) क्षुद्रग्रहों के पृथ्वी से टकराने से भी पृथ्वी के जीवों का विनाश होता है जैसा कि साढे छःकरोड वर्ष पहले ग्रहीका (उल्का) के टक्कर से डायनासोर विलुप्त हो गये। इस प्रकार की विनाशकारी(7) प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। यथा-(1) बाढ (2)अकाल (अतिवृष्टि-अनावृष्टि)(3)भूकम्प (4)ज्वालामुखी (5)वनदाह-वनाग्नि (6) बवण्डर (7)वज्रपात।

हाँकिग के अनुसार परमाणु युद्ध, ग्लोबल वार्मिंग और जैव इंजीनियरिंग की तकनीक से तैयार वायरस के फैलने जैसी आपदाओं से जीवन के हमेशा के लिए समूल नष्ट होने का खतरा लगातार बढता जा रहा है। इस के अलावा ऐसी विभीषिकाएँ भी आ सकती हैं जिसकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार अभी तक पृथ्वी में 5 बार विनाश हो चुका है। आगामी 6 वाँ विनाश मनुष्य कृत होगा।

उपर्युक्त वैज्ञानिक परिकल्पनाओं की समीक्षा

स्वयं न्यूटन, आईन्स्टीन, मार्क्स प्लांक , नील्स बोर, सर आर्थर एडिंगटन आदि महान् वैज्ञानिक मानते हैं कि हम आंशिक सत्य को जान पाये हैं, पूर्ण सत्य को नहीं। पूर्ण परम सत्य को जानना भी वैज्ञानिकों के लिए असंभव है। यह है वैज्ञानिकों की विनम्रता, सत्यग्राहीता, महानता। इसलिए तो वैज्ञानिक विभिन्न क्षेत्र में विकास करते जा रहे हैं। वे पहले से भी उत्तरोत्तर अधिक शोध-बोध करने के कारण उन की सत्य की सीमा भी उत्तरोत्तर बढती जा रही है और वे पहले की संकीर्णता, सीमा को लांघकर आगे बढते जा रहे हैं। इसमें भी वर्णित विभिन्न वैज्ञानिक मत एवं कालावधि की भिन्नता से भी इसका परिज्ञान संदर्भनानुसार होता रहेगा। यह प्रवृति विश्व के लिए शुभकारी है। उपर्युक्त कारणों को लक्ष्य में रखकर मैं (आ.कनकनन्दी) पूर्व में वर्णित वैज्ञानिक परिकल्पनाओं की समीक्षा निम्न में संक्षिप्त में कर रहा हूँ। सविस्तार वर्णन मेरी (1)ब्रह्माण्ड-आकाश काल एवं जीवःअनन्त (2)अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा आदि कृति में पठनीय हैं।

स्वयं वैज्ञानिक भी मानते हैं-सर्वथा असत्य की उत्पत्ति नहीं होती है तथा सत्य का विनाश नहीं होता है तो फिर शुरू में कुछ नहीं था, सर्वत्र शून्य था, फिर अणु से भी छोटा द्रव्य (ऊर्जा) से महाविस्फोट से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कैसे संभव है ? महाविस्फोट से समय, अन्तराल(space)की उत्पत्ति कैसे संभव है? भौतिक रूपी महाविस्फोट से अभौतिक रूपी समय एवं अन्तराल की उत्पत्ति कैसे संभव है? अणु (यथार्थ अविभाज्य परमाणु) तो सबसे छोटा होता है और अविभाज्य होता है फिर अणु से भी बहुत ही छोटा कण कैसे संभव है? जहाँ ऊर्जा होगी वहाँ द्रव्य अवश्य ही होगा भले वह अति सूक्ष्म ,अदृश्य तथा ठोस आदि अवस्था से रहित क्यों न हो। इसलिए वह प्रथम कण द्रव्य रहित केवल ऊर्जा रूप में कैसे संभव है? वह अनजान कारण जिससे कंपन हुआ वह अनजान कारण क्यों उत्पन्न हुआ? यदि सर्वत्र शून्य था फिर कंपन से जो कण एक-दूसरों से मिलकर बड़े होते गये वह कण कहाँ से आये? यदि कण पहले से थे फिर सर्वत्र शून्यता कैसे होगी ? बडे पिण्ड आकर्षण बल से शून्य के द्रव्य को अपनी ओर खींचकर अपना आकार बढाने लगे तो वह 'शून्य के द्रव्य' क्या था और वे कहाँ थे? यदि शून्य में द्रव्य थे तो सर्वत्र शून्य था यह कैसे संभव है?यह विस्फोट एक निश्चित समय (10 से 20 अरब वर्ष पूर्व)में क्यों हुआ ? उस विस्फोट के समय कौनसा द्रव्य था जिससे वर्तमान के ब्रह्माण्ड में स्थित समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए? उस म.विस्फोट के समय कण एवं अकण /प्रति कण में विषमता क्यों हुई? और उन प्रतिकण/अपदार्थ का लोप क्यों हुआ ? प्राथमिक कण (आकाश एवं काल) शाश्वतिक (सत्य) है तो वर्तमान के ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण द्रव्य भी शाश्वतिक क्यों नहीं हो सकते हैं ? ब्रह्माण्ड भी शाश्वतिक क्यों नहीं हो सकता है ? भौतिक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व अनन्तानन्त परमाणु, 23 वर्गणायें हैं। अनन्तानन्त परमाणु , आकाश, काल, धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य भी ब्रह्माण्ड में अनादि से हैं। तब जीव भी शाश्वतिक क्यों नहीं हो सकता है?

आधुनिक जिनोम सिद्धान्त के अनुसार अलग-अलग जिनोम के कारण अलग-अलग जीवों के जन्म-विकास होता है; शरीर, शरीर के अवयव बनते हैं, बुद्धि, प्रवृति, बिमारी आदि होती हैं। यदि एक अरब वर्ष पूर्व उत्पन्न होने वाले जेलीफिश, 40 करोड वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए कनखजूरा, बिच्छू, डायनासोर से भी 20 करोड वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए दीमक, 45 करोड वर्षो से कैंकेडे, 24 करोडों वर्षो से मगरमच्छ अभी भी पूर्ववत् जन्म, प्रजनन, विकास जीवन यापन कर रहे हैं तब क्रमविकासवाद के अनुसार ''निम्न श्रेणीय

प्रजाति का विकास होता हुआ उच्च श्रेणीय प्रजाति का विकास होत-होते आधुनिक मनुष्य का विकास हुआ'' इस परिकल्पना की क्या औचित्य है? यदि ऐसा है तो फिर अभी भी करोडों वर्ष पहले उत्पन्न हुए जीवों के वंशज नहीं होते। 40 करोड वर्ष पहले उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ अभी तक अन्य पशु या मनुष्य रूप में परिवर्तित हो जाती तथा पृथ्वी वनस्पति शून्य हो जाती। हाँ कर्म सिद्धान्त के अनुसार कुछ निश्चित वनस्पति, कीट-पतंग, सरिसृप, बन्दर, नरवानर जन्म-जन्मान्तर में क्रमविकास करते हुए आधुनिक मानव बन सकते हैं और कुछ मनुष्य भी जन्म-जन्मान्तर में क्रम पतन के कारण पशु-पक्षी, कीट -पतंग, वनस्पति बन सकते हैं।

अत्याधुनिक String theory(Theory of everything M.theory,एकीकृत सिद्धान्त) अनिश्चितता का सिद्धान्त, सापेक्ष सिद्धान्त, क्वांटम सिद्धान्त हमें संकीर्ण रूढिवादी विचार, मत से ऊपर उठाकर उन्मुक्त, उदारवादी, सनग्रसत्यग्राही, प्रगतिशील बनने के लिए प्रेरणा के साथ-साथ मार्गदर्शन कर रहे हैं। इन सब सिद्धान्त के कारण पहले के अनेक अपूर्ण या गलत मत दूर होते जा रहे हैं। M. theory के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मूल तत्त्व सूक्ष्म तरंग हैं जिसे स्ट्रींग कहते हैं। स्ट्रींग इतना छोटा है कि यदि अणु सौर परिवार के समान है तो स्ट्रींग एक पेड़ के समान है। स्ट्रींग अणु से भी अरबों गुणा छोटा है और अन्तरिक्ष के हर प्रदेश में हैं। जैन धर्म में वर्णित प्रत्येक द्रव्य के शुद्ध अगरुलघुगुण तथा भौतिक 23 वर्गणाओं के कुछ गुणधर्म के साथ स्ट्रींग के समन्वय, समीक्षा आवश्यक है जिससे इस नवीनतम शोधरत महान् विषय के लिए मार्ग दर्शन मिलेगा। इस सम्बन्धी विशेष ज्ञान मेरी (1) ब्रह्माण्डीय जैविव-भौतिक एवं रसायन विज्ञान (2) अनन्त शक्ति सम्पन्न.... ...परमात्मा (3) विश्व विज्ञान रहस्य (4) विश्व द्रव्य विज्ञान (5)इस कृति के अ.8 " ब्रह्माण्ड के एकीकृत सिदान्त''आदि कृति से प्राप्त करें।

चार आयाम से अतिरिक्त और भी अनेक आयाम है। (1)गुरूत्व बल (G)जो कि ग्रहों, आकाशगंगा और उनकी गति के संचालन का प्रमुख बल है और मोटे तौर पर ब्रह्माण्ड के जन्म का कारण भी है)(2)विद्युत् चुम्बकीय बल (EM)यह बल परमाणुओं और अणुओं को आपस में जोड कर रखता है, यह विद्युत् और चुम्बक के बल को भी जोडता है। यह (EM) बल (G)गुरूत्वबल से भी अधिक बल है। 1 के आगे 49 शून्य (0) जितना बल G बल से EM का होता है; EM के बल के सामने G बल बहुत ही क्षीण है। इसलिए तो अणुबम के विस्फोट से अधिक उर्जा उत्पन्न होती है परन्तु गिरते हुए सेव को हाथ से पकड सकते हैं। क्योंकि अणुबम विस्फोट में EM बल को

तोडना पडता है और सेव को पकडन में (G) बल का विरोध/ प्रतिरोध करना पडता है। (3) परमाणु के अन्दर एक दृढ और (4) एक कमजोर बल (ये दोनों बल परमाणु के नाभिक की अन्तरंग संरचना को नियंत्रित करते हैं)। कोई ऊपर से गिरने पर जमीन पर इसलिए टीक जाता है क्योंकि जमीन के अणुबल उसे रोक देता है। अतः गुरुत्व बल से अणुबल अधिक शक्ति शाली है। अनिश्चिता आदि सिद्धान्त भी हमें लकीर के फकीर के समान रुढी वादिता रूपी संकीर्ण मत से परे भी सत्य की खोज के लिए विभिन्न आयाम प्रदान करते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्तों के साथ-साथ परम वैज्ञानिक जैन सिद्धान्त के समन्वय से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोकाकाश में अनन्तानन्त भौतिक परमाणु एवं 23 वर्गणायें हैं वे ही ब्रह्माण्ड के मूलभूत तत्त्व हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक खोजों एवं जैन सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में-विश्व तथा गति

इस विश्व या लोक में इसके निर्माण में मुख्य केवल छःद्रव्यों का उपयोग हुआ है जो जीव, पुद्गल, धर्म, आकाश एवं काल हैं। यदि इन द्रव्यों की सत्ता तथा इनके उपयोग पर मनन किया जाय तो ज्ञात होता है कि आकाश ने केवल शेष पाँच द्रव्यों को स्थान (अवगाहना) देने का कार्य किया। धर्म व अधर्म ने जीव व पुद्गल की गति एवं स्थिति में उदासीन सहायक का कार्य किया। काल के द्वारा किसी द्रव्य में (विशेषतःजीव व पुद्गल द्रव्य में) होने वाले परिणमन के समय व गति को समझाया गया। जीव स्वयं पुद्गल द्रव्य से संयुक्त होकर शेष चार द्रव्यों व पुद्गल निर्मित शरीर की सहायता से इस लोक में भ्रमण करता है। तब लोक निर्माण में मुख्य घटक (अवयव) कौन है ? स्यात् पुद्गल या पुद्गल ही अपने विभिन्न रूपों अर्थात् विभिन्न 23 वर्गणाओं से इस ब्रह्माण्ड के द्रष्टव्य या अद्रष्टव्य जगत् का निर्माण कर्ता है।

इस पुद्गल के कितने भेद या रूप हैं? सम्भवतः हम उनकी सरल व्याख्या नहीं कर पाते, किन्तु फिर भी इन्हें मुख्यतः 23 विभागों में अर्थात् वर्गणाओं में विभाजित किया गया है। ये सभी पुद्गल की ऐसी निर्विवाद अवस्थायें हैं जिनमें द्रव्यमान है, स्पर्श, रस, गंध,वर्णादि सभी हैं। पुद्गल में विभाजन की क्षमता होने से इसकी सूक्ष्म,सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम अवस्थायें भी हैं। सुक्ष्मतम अवस्था को ही जैन दर्शन ने 'अणु' कहा है। ये 'अणु' सामान्य कथन में आज के विज्ञान सम्मत परमाणु से बिल्कुल भिन्न तथा सुक्ष्मता की परम अवस्था है।

इन षट् द्रव्यों में केवल दो द्रव्य ऐसे हैं जिनमें स्वाभाविक रूप से गति की क्षमता पाई जाती है- किन्तु यह गति इनकी शुद्ध अवस्था की गति है, जिसमें ये धर्म द्रव्य के

सद्भाव से एक प्रदेश से लेकर 14 राजू तक जा सकते हैं (यदि लोकाकाश उर्ध्वाधर 14 राजू से अधिक भी होता- तो तब भी अपनी स्वाभाविक शक्त्यानुसार वे उतनी भी गति करते) किंतु अशुद्ध अवस्था में अर्थात् मिश्रित या संयोगी अवस्था में इन जीव या पुद्गल दोनों की गति स्वाभाविक न होकर एक दूसरे के निमित्त से तथा अन्य दूसरे कारणों से प्रभावित होकर इन दोनों अर्थात् एक प्रदेश से 14 राजू के मध्य रहती है अर्थात् गति प्रभावित होती है। जीव और पुद्गल में गति अपनी स्वयं की अन्तर्निहित ऊर्जा (Intrinsic or internal energy) के कारण ही नहीं वरन् अन्य बाह्य कारणों से भी प्रभावित होती है। इन सबसे यह सिद्ध हुआ कि जीव और पुद्गल दोनों में अशुद्ध अवस्था अर्थात् वैभाविक अवस्था आने से वैभाविक परिणमन अर्थात् गति होती है। यह गति या स्थानान्तरण उर्ध्व, अधो या किसी भी दिशा में हो सकता है जब कि स्वभाव से शुद्ध जीव को उर्ध्व गति गमन युक्त व पुद्गल को अधो गति गमन युक्त कहा गया है। ऐसा केवल आचार्यों का कहना ही नहीं बल्कि इन द्रव्यों का गुण विशेष भी है ।

इस संयोगी अवस्था में जीव (कार्माण वर्गणाओं से संयुक्त आत्मा) मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान आदि की भाँति वैभाविक परिणमन के साथ-साथ तीन लोक में भिन्न-भिन्न दिशाओं में गति करता है अर्थात् जीव पुद्गल एक दूसरे में भी ऊर्जा उत्पन्न करके विभिन्न अवस्थाओं में, कार्य उत्पन्न करने के साथ-साथ गति भी प्रदान करते हैं। इससे ये अन्यथा निष्कर्ष नहीं निकलता कि पुद्गल की किसी अन्य अवस्था में गति नहीं हो सकती क्योंकि पुद्गल विभिन्न अवस्थाओं में किसी बाह्य बल या गुरूत्वाकर्षण आदि का आवलम्बन मिले तब वह गति को प्राप्त करता है इसका ज्वलंत उदाहरण है-प्रकाश। प्रकाश भी द्रव्य के सूक्ष्म कणों (Matter) से निर्मित एक प्रवाह है जो सामान्य रूप से 3 लाख किलोमीटर प्रति सैकंड के वेग से गति करता है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि **पुद्गल परमाणु में अनन्त शक्ति है तथा वे काल की सूक्ष्मतम ईकाई ''एक समय'' में 14 राजू अर्थात् असंख्यात प्रकाश वर्ष ही नहीं अपरंच असंख्यात पारसेक या गोमों की यात्रा कर सकता है (जहाँ 11000 प्रकाश वर्ष = 1 पारसेक, 11000 पारसेक = 1गोमो)**। किन्तु प्रकाश जो पुद्गल का ही एक भेद, एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म कणों फोटॉन (Photon) से बनता है तथा पुद्गल परमाणु की वैभाविक अवस्था है अर्थात् विभाव आने से परमाणु की गति 14 राजू प्रति सैकंड से सिमट कर फोटॉन के रूप में केवल 3लाख किलोमीटर प्रति सैकंड रह गई जबकि 1 सैकंड में असंख्यात 'समय' होते हैं। इन सभी तथ्यों से यह निष्कर्ष निकालने का उद्देश्य है कि पुद्गल की एक पर्याय फोटॉन कणों या प्रकाश के रूप में गति कर रहे हैं जो एक वैभाविक परिणमन है

अर्थात् प्रकाश की गति सीमा नहीं बाँधा जा सकता है, जो वैज्ञानिकों द्वारा बताई गई है, ये कम या अधिक भी हो सकती है ।

प्रकाश को ही लें, पहले इसे केवल विकिरण अर्थात् ऊर्जा माना जाता था किंतु डी. ब्रोग्ले ने (Dual nature theory) के आधार पर सिद्ध किया कि कोई क़ण तीव्र वेग से गति करते हुए तरंग की भाँति भी कार्य करता है तथा तरंग भी कण प्रकृति (Corpuscular nature) प्रदर्शित करती है अर्थात् तीव्र वेग से गति करते समय कण या तरंग का परस्पर विनिमयन अर्थात् परिवर्तन होता है जिसे द्वैती प्रकृति (Dual nature) का नाम दिया गया है। कण या तंरग की स्थिति के विवाद को समझाने के लिए हाइजनबर्ग ने अपना (Principle of uncertainty)अनिश्चितता का सिद्वान्त दिया जिसमें स्पष्ट किया गया कि किसी कण के तीव्र वेग से गति करते समय कण तरंग अर्थात् स्थिति या वेग को एक साथ नहीं बता सकते जब कि यह दोनों की भाँति एक साथ कार्य करता है अर्थात् जिसकी विवक्षा से उसकी केवल संभावना या सैद्धान्तिक रूप से प्रायिकता (PROBABILITY) ही बता सकते हैं- अर्थात् यदि उसकी तरंग प्रकृति की अनिश्चितता अधिक है तो वे कण के भाँति कार्य करेगा तथा उसकी स्थिति ज्ञात की जा सकेगी। यदि कण प्रकृति की अनिश्चितता अधिक है तब वह तंरग की भाँति कार्य करेगा जिससे उसका वेग ज्ञात किया जा सकेगा। प्रकाश कणों अर्थात् फोटॉन पर इस सिद्धान्त को लागू करने पर प्रकाश की व्याख्या सरल हो जाती है, इसी कारण प्रकाश को फोटॉन कणों का प्रवाह कहा गया है। फिर यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि इन फोटॉन कणों के वेग को विभिन्न परिस्थिति या कारकों के द्वारा क्या कम या अधिक नहीं किया जा सकता ? प्रो.पॉल डेविस (हेड ऑफ फिजिक्स, सेंटर फॉर एस्ट्रोबायलोजी, सिडनी आस्ट्रलिया) के अनुसार **ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के समय अर्थात् बिग बैंग के समय प्रकाश की गति अनन्त थी जो ब्रह्माण्डीय अवरोधकों के कारण घटकर अब तीन लाख किमी प्रति सैंकड रह गयी हैं। 120** प्रकाश वर्ष दूर स्थित क्वॉसर से आये प्रकाश के वर्णक्रम के व्यवहार से वैज्ञानिक कुछ चकित हुए क्योंकि उसके वर्णक्रम (Spectrum) में कुछ हल्का सा अन्तर, कारण ऊर्जा व वेग में अन्तर, हालांकि इसका अन्तर 100000•1 था? अर्थात् सीधा सा निष्कर्ष कि प्रकाश के वेग में अन्तर हो सकता हैं।

अंतरिक्ष में प्रकाश की गति की सीमा को अमान्य करते हुए यह अनुमान किया गया कि कोई और कण ऐसा होना चाहिए कि जिसका वेग प्रकाश के वेग से अधिक हो जिसे ('Tachyon')(टेक्योन) कहा गया तथा इसकी उपस्थिति को गणितीय आधार पर

सिद्ध भी किया गया। बाद में खोजों से यह कण प्राप्त हुआ जहाँ इसका प्रारम्भिक वेग (u) प्रकाश के वेग अर्थात् 300000 किमी. प्रति सेकण्ड के बराबर हैं। आपेक्षिकता सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश का वेग ब्रह्माण्ड का सीमाकारी वेग हैं। पर क्या वर्तमान सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति में इस वेग से भी बढकर कोई वेग हो सकता है? आपेक्षिकता सिद्धान्त के अनुसार मूलभूत वेग C है, जो सम्भव अधिकतम वेग है और इससे बढकर किसी पिंड का वेग नहीं हो सकता। तो फिर प्रकाश के वेग से अधिक वेग का क्या अर्थ हुआ?

विभिन्न संदर्भों के साथ एक ही पदार्थ का वेग एक-सा नहीं रहता। वह एक संदर्भ में विश्राम अवस्था में हो सकता है, दूसरे संदर्भ में मंद गति से चल सकता है या फिर तेजी से चल सकता है। न्यूटन की यान्त्रिकी में ऐसा वेग है जो सभी संदर्भों में एक-सा रहता है और यह 'अनन्त उच्च वेग' है। यह सीमाकारी वेग है। किंतु किसी भी वास्तविक पदार्थ का निश्चित वेग होना चाहिए। न्यूटन की यान्त्रिकी में गतिमान पिंडों का वेग असीम रूप से उच्च हो सकता है। आपेक्षिकता सिद्धान्त में यह असीमित उच्च वेग ही मूलभूत वेग C है, जो प्रकाश का वेग है। इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्यमान तथा उर्जा में कोई विस्थापन तथा बलों की परस्पर क्रिया का संचरण प्रकाश वेग से अधिक वेग से नहीं हो सकता।

जिन पिंडों का द्रव्यमान विश्रामावस्था में शून्य नहीं होता वे प्रकाश वेग से कम गति कर सकते हैं, किंतु जिनके द्रव्यमान विश्रामावस्था में शून्य हैं (जैसे फोटान तथा न्यूट्रिनों) वे ही प्रकाश वेग से गति कर सकते हैं। जिस गति से मंदाकिनियों के बीच की दूरी बदलती है वह भले ही प्रकाश के वेग से उच्च जान पडे, किंतु इसे भौतिक पिंडों की चाल की गति नहीं कह सकते हैं।

किन्तु हाल ही में कुछ वैज्ञानिक मानने लगे हैं कि ऐसे 'सुप्रालाइट' (अतिप्रकाश) कणों की सम्भावना है जिन्हें 'टैकियान' (Tachyons) कहा गया हैं। ये तीसरे प्रकार के कण होंगे। पहले प्रकार के कण वे हैं (मूलभूत कण) जिनका वेग प्रकाश वेग तक नहीं पहुँच पाता, दूसरे प्रकार के कण फोटोन हैं जिनका वेग प्रकाश के तुल्य हैं और तीसरे प्रकार के कण टैकियान होंगे जो प्रकाश वेग से भी अधिक वेग वाले होंगे।

बैरी सैटरफिल्ड का कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ (अर्थात् आज से पहले किसी सुदूरवर्ती समय) में प्रकाश का वेग अब से 1060 गुणा अधिक था अर्थात् प्रकाश का वेग अब कम हो गया है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने सोचना प्रारम्भ किया कि जब प्रकाश का वेग स्वयं कम या अधिक हो सकता है तब क्या इसे कृत्रिम रूप से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। प्रयोग प्रारम्भ हुए तथा सफलता भी अन्ततोगत्वा प्राप्त हुई।

कैलिफोर्निया विश्व विद्यालय (बर्कले, अमेरीका) में कोनी जे. चांग हासनाइन व उनके साथियों ने सन् 2004 में प्रकाश के वेग को 9.6 कि.मी. प्रति सेकण्ड पर सीमित कर दिया तथा अब सन् 2005 में 'स्टेट ऑफ द आर्ट लेजर को एम्पलीफायर के रूप में प्रयुक्त करके **प्रकाश के वेग को साधारण ताप पर ही केवल 245 मीटर प्रति सैकण्ड तक सीमित कर दिया तथा अब प्रयत्नशील है कि इस वेग को जाम अर्थात् शून्य कर लें।**

जैन दर्शन में निहित सिद्धान्तों के आधार पर व्याख्या करें कि पुद्गल द्रव्य की इस अवस्था में वेग को सीमित भी किया जा सकता न केवल कम या अधिक। क्योंकि यह द्रव्य की ऐसी अवस्था होगी कि जिसमें अन्य कारणों का आभाव होने पर वैभाविक परिणमन नहीं होगा तथा वह अपनी मूल अवस्था में प्राप्त होकर वेग न रहने पर वह सीमित या स्थिर रह जायेगा जब कि पुद्गल परमाणु अनन्त गति रखता है; यदि धर्म द्रव्य का सद्भाव रहे।

आवश्यकता है, हमें इस बात की कि जैन दर्शन में उपस्थित उच्च सिद्धान्तों को प्रकाश में लायें जो न केवल वैज्ञानिकों या जन हित के लिए बल्कि वस्तु स्वभाव को समझने तथा उसका उपयोग करने में सहायक बनें तथा प्राणी मात्र के लिए उपयोगी हो।

विशेष परिज्ञान के लिए मेरे द्वारा (आ.कनकनन्दी जी द्वारा) रचित (1) विश्व विज्ञान रहस्य, (2) विश्व द्रव्य विज्ञान, (3) अनन्तशक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा तथा (4) आइंस्टीन के सिद्धान्तों को पुनःपरीक्षण की आवश्यकता आदि साहित्यों का अध्ययन करें।

ब्रह्माण्ड के विनाश की समीक्षा

M.theroy के अनुसार अनेक सामान्तर ब्रह्माण्ड हैं जिसकी परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं परन्तु वे परस्पर को प्रभावित करती हैं। अलग-अलग ब्रह्माण्डों के जीवों की स्थितियाँ भी अलग-अलग हैं। अन्य ब्रह्माण्ड हमारे ब्रह्माण्ड से अलग एवं श्रेष्ठ हो सकते हैं तथा भौतिक विज्ञानानुसार उसकी संरचना अलग हो सकती है। वहाँ के अणु पास-पास में या दूर-दूर भी हो सकते हैं। समानन्तर ब्रह्माण्ड के परस्पर असंख्यात वार टकराते रहते हैं। ब्रह्माण्डों के तारों की परस्पर की दूरी इतनी अधिक है कि तारे परस्पर नहीं टकराते हैं। अनेक वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड की स्थायी दशा (Steady State) मानते हैं। परन्तु ब्रह्माण्ड में सतत अनेक प्रकार के परिवर्तन, विध्वंस, प्रलय, विनाश होते रहते हैं परन्तु इससे ब्रह्माण्ड का आंशिक परिर्वतन होता है, अनेक जीव मरते हैं परन्तु पूर्णतः ब्रह्माण्ड का विनाश नहीं होता है न ही सम्पूर्ण जीव नाश हो जाते हैं।

अध्याय-2

वैश्विक-सार्वभौम-परतंत्रता एवं स्वतंत्रता

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदन कोद्रव्यैः ।।7

आध्यात्मिक मनो. इष्टोपदेश

जब ज्ञान मोहनीय कर्म के विपाक से आवेशित/आबद्ध हो जाता है तब ज्ञान वस्तु स्वरूप को यथार्थ से प्रकाशन करने में असमर्थ हो जाता है। शुद्ध स्वरूप से ज्ञान कथंचित् आत्मा से अभिन्न है और वस्तु स्वरूप को यथार्थ से जानने के लिए पूर्ण समर्थ है परन्तु कर्म परवशता के कारण ज्ञान में, आत्मा में विकार उत्पन्न हो जाता है। कहा भी है- जिस प्रकार मल से आबद्ध मणि एक प्रकार का नहीं होता है, एक प्रकार का प्रकाश नहीं देता है उसी प्रकार कर्म से आबद्ध आत्मा भी एक प्रकार का नहीं होता है और एक प्रकार का नहीं जानता है।

नशे को पैदा करने वाले कोद्रव्य-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट, पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है, फिर भी मूर्तिमान कोद्रव्यादि धान्यों से मिलकर वह बिगड जाता है उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब सकते हैं।

समीक्षा-सत्य से विपरीत मान्यता/श्रद्धा/प्रतीति विश्वास रूप परिणाम व भावों को मोह/ मिथ्यात्व कहते हैं। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ वीतरागी देव करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् ने दिव्य ध्वनि मूलक उस परम सत्य का प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादन किया है, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात् जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्त्व, पदार्थों में विश्वास नहीं करता, श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धा रूप दृष्टि विपरीत होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है। जिस प्रकार पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे-दूध रसादि को पसन्द नहीं करता, उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता है।

इंदिय विसय सुहादिसु मूढमदी रमदि न लहदि तत्व।
बहु दुक्खमिदि ण चिंतदि सो चेव हवदि बहिरप्पा।। 129 (रयणसार)

जो मूढमति इन्द्रिय जनित सुख में रमण करता हुआ उसको सुख मानता है, बहु दुःखप्रद

नहीं मानता है, वह आत्म तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

पूर्व संचित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो स्वयमेव विपरीत भाव होते हैं उसे निसर्ग व अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। जो कुगुरु के उपदेश से विपरित भाव होते हैं उसे अधिगमज व गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव अवस्तु में वस्तुभाव, अधर्म में धर्म भाव, कुगुरु में गुरुभाव, कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव को धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है। अतीन्द्रिय आत्मोत्थ सुख से बहिर्मुख होकर विषय सुख में ही लीन रहता है। बाह्य-भौतिक हानि-वृद्धि में अपनी हानि-वृद्धि मानकर सुखी-दुःखी होता है। सामान्य से मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य-भाव से दो प्रकार का है; एकान्त, विपरीत, संशय, विनय, अज्ञान की अपेक्षा पाँच प्रकार भी होता है।

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ।।18 गो. जी.

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये 'प्रवचन' अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रदान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त प्रकृष्ट का वचन, प्रवचन, अर्थात् परमागम। प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरुक्तियों से प्रवचन शब्द से आत्म, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं। तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्या रूप प्रवचन यानी आप्त, आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का श्रद्धान भी करता है।

मिच्छतं वेदंतो जीवो विवरीय दसंणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।।

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धान से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व का ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक, धर्म, वस्तु स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता।

वपुर्गृहं धनं दाराःपुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्य स्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।। 8 इष्टोपदेश

स्व-पर विवेकहीन मूढ मोही जीव शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र यहाँ तक कि शत्रु को भी जो कि सर्वथा स्वयं से भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। सर्वथा सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, रूप से जो स्व-स्वरूप से अन्य है, भिन्न है

ऐसे परद्रव्य को भी दृढतर मोह से आविष्ट जीव अपना मान लेता है। शरीर जो कि अचेतन परमाणुओं से (रक्त, माँस, हड्डी, चर्म आदि) निर्मित होने के कारण अचेतन स्वरूप है उसे भी अपना मान लेता है। इसी प्रकार घर, धन स्पष्ट रूप से भौतिक जड वस्तु से निर्मित है उसे भी अपना मान लेता है। भार्या, पुत्र, मित्र तथा शत्रु जो कि शारीरिक दृष्टि से तथा आत्मिक दृष्टि से भी भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। यहाँ पर शरीर आदि को हितकारी मानता है और शत्रु आदि को मेरा अहितकारी मानकर उसमें भी मेरा शत्रु है, ऐसा अपनापन रखता है।

समीक्षा-शुद्ध निश्चयनय से स्वशुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ही स्वचतुष्टय है और इससे भिन्न समस्त चेतन-अचेतन द्रव्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न हैं, पर हैं तथापि मोही जीव मोह के कारण पर आत्म स्वरूप को भी स्व-स्वरूप मान लेता है, जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती हो, इन्द्रिय जनित सुख मिलता हो उसको अपना हितकारी मानकर अपना मानता है और राग करता है तथा जिससे स्वार्थ सिद्धि नहीं होती है, इन्द्रिय जनित सुख नहीं मिलता हो उसको अपना अपकारी मानकर उससे द्वेष करता है। एक के प्रति रागात्म सम्बन्ध है तो दूसरे के प्रति द्वेषात्मक सम्बन्ध है। मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्म के कारण श्रद्धा रूप से तथा आचरण रूप से शरीर आदि परवस्तु में मोह करता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा रूप से परद्रव्य को पर मानते हुए भी जब तक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक वह द्रव्य को व्यवहार रूप से, आचरण रूप से अपना मानता है।

मिच्छत्तमोहिदमदी संसार महाडवी तदोदीदि।
जिणवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥ 1763 भ. आ.

दर्शनमोह के उदय से जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अश्रद्धान है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। उस मिथ्यात्व के कारण जिसकी मति मोहित है वह मिथ्यात्व से मोहित मति होने से संसार रूपी महाटवी में प्रवेश करता है। महा अटवी के समान ही संसार को पार करना कठिन है। वह अनेक दु:खों से भरा है तथा प्राणी का विनाश करने वाला है इसलिए संसार को महाटवी कहा है।

शंका- मिथ्वात्व, असंयम, कषाय और योग ये चारों भी संसार के हेतु हैं। तब यह क्यों कहा कि मिथ्यात्व से जिसकी मति मूढ है वह संसार महाटवी में प्रवेश करता है।

समाधान- मिथ्यात्व का ग्रहण असंयम आदि का उपलक्षण है अत: मिथ्यात्व के ग्रहण से असंयम आदि का ग्रहण हो जाता है। द्रव्य-कर्म और भावकर्म रूपी शत्रुओं को जीतने से जो जिन कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को

प्रकाशन में दक्ष हैं तथा वे प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से अविरुद्ध हैं। उन वचनों का अर्थ न जानने से जो तत्त्वों का अश्रद्धान है उससे तथा उसमें कहे गये मार्ग के अनुसार आचरण न करने से संसार-रूपी महाटवी में प्रवेश करता है, तथा मार्ग से भ्रष्ट होकर जीव-रूपी जहाज, संसाररूपी महासमुद्र में प्रवेश करके भटकता है।

बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ।
चदुपरिवट्टावत्तं चदुगदिबहुपट्टमणंतं ॥1764 भ. आ.

जिस संसाररूपी महासमुद्र में तीव्र दु:खरूपी जल भरा है और अनन्त जीवों के काय अर्थात् शरीर को अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकाय में प्रवेश ही जिस संसार समुद्र में पाताल है अथवा 'यह शरीर इसी जीव का है' ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नहीं वह काय अनन्त हैं क्योंकि एक शरीर में बहुत से जीव समान रूप से रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीव की है, वह अनन्तकाय है। 'भाव प्रत्यक्ष के बिना भी निर्देश भाव प्रधान होता है' इस नियम के अनुसार अर्थ होता है अनन्त कायत्व का प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश। वही जिस में पाताल है। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव परिवर्तन रूप जिसमें चार भँवर हैं और चारगतिरूप महान् द्वीप हैं तथा जो अनन्त हैं।

संसार को महासमुद्र की उपमा दी है। समुद्र में जल होता है संसार में दु:ख ही जल है। जैसे जल का आरपार नहीं है, वैसे ही संसार के दु:ख का भी आदि अन्त नहीं है। समुद्र में पाताल होते हैं जिनमें प्रवेश करके निकलना कठिन है। संसार में जो अनन्तकाय निगोद हैं, वही पाताल है उसमें प्रवेश करके निकलना कठिन है। समुद्र में भँवर होते हैं, संसार में परिवर्तन रूप भँवर है, समुद्र में द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं। संसार में चार गतियाँ ही द्वीप हैं। इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और संसार भी।

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवबहुमच्छं ।
जाइजरामरणोदयमणेयजादीसदुम्मीयं ॥

1765 भ. आ.

उस संसार रूपी समुद्र में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रहा और परिग्रहरूपी मगर आदि क्रूर जन्तु रहते हैं। स्थावर और जंगम जीव रूप बहुत से मच्छ हैं। जाति अर्थात् नया शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीर के तेज बल आदि में कमी होना, मरण अर्थात् शरीर का त्याग; ये जाति, जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकडों जातियाँ रूपी उसमें तरंगें हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं। इसमें से प्रत्येक के अनेक अवान्तर भेद हैं।

ब्रह्माण्डीय परिवर्तन के मूलभूत कार्य-कारण

सामान्य से संग्रहनय की अपेक्षा द्रव्य एक है। भेद विवक्षा से दो प्रकार का है- जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। उसमें जीव द्रव्य के दो प्रकार हैं-रूपी और अरूपी। संसारी जीव रूपी है और कर्मों से मुक्त सिद्ध अरूपी है। अजीव द्रव्य भी रूपी और अरूपी होता है। (गो.जी. पृ.403)

अजीवों में पुद्गल द्रव्य रूपी होते हैं। धर्म-द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और काल द्रव्य ये चार अरूपी हैं।

शंका- कहा है कि 'परमाणु स्कन्ध की तरह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के द्वारा पूरण गलन करते हैं, अत: वे पुद्गल हैं' इस प्रकार परमाणु को पुद्गल कहने पर-द्वयणुक आदि में पुद्गलपना कैसे घटित होता है?

समाधान-द्वयणुक आदि प्रदेशों के पूरण-गलन रूप के द्वारा अन्य परमाणुओं को प्राप्त करते हैं प्राप्त करेंगे और पहले प्राप्त कर चुके हैं; इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्वयणुकादि में भी पुद्गलपना घटित होता हैं।

शंका- यदि परमाणु एक साथ छह दिशा में छह परमाणुओं से सम्बन्ध करता है, तो परमाणु छह अंशवाला सिद्ध होता है। यदि छहों समान देश वाले माने जाते हैं, तो छह परमाणुओं का पिण्ड परमाणु मात्र सिद्ध होता है?

समाधान- आपका कथन यथार्थ है। द्रव्यार्थिकनय से यद्यपि परमाणु निरंश है किन्तु पर्यायार्थिक नय से उसके छह अंशवाला होने में कोई दोष नहीं हैं। जो द्रव्य आदि और अन्त से रहित है, जिसके अंश कभी भी अलग नहीं होते, जो स्कन्धका उपादान कारण तथा अतीन्द्रिय है, उसे परमाणु कहते हैं।

परमागम में जीव का लक्षण उपयोग और पुद्गलों का लक्षण वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श कहा है। तथा यथा-क्रम से गतिरूप उपकार, स्थानरूप उपकार, अवगाहनरूप उपकार और वर्तना क्रिया रूप उपकार, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य का लक्षण है।

गति, स्थिति और अवगाहन ये तीन क्रियाएँ जीव और पुद्गल में ही होती हैं। धर्म, अधर्म और आकाश में क्रिया नहीं है; क्योंकि न तो ये अपने स्थान को छोडकर अन्य स्थान में जाते हैं और न इनके प्रदेशों में ही चलन होता है। किन्तु ये धर्मादि द्रव्य, गति आदि क्रियाओं में मुख्य साधन होते हैं।

जैसे जाते हुए को मार्ग, बैठने वाले को आसन, निवास करने वाले को निवासस्थान,

चलने, ठहरने, अवगाह करने में साधक होता है, उसी तरह धर्मादि तीन द्रव्य भी सहायक कारण होते हैं।

णिजंत वृत्ञ् धातु से कर्म में अथवा भाव में वर्तना शब्द निष्पन्न होता है। सो वर्ते या वर्तना मात्र वर्तन है। धर्मादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों की निर्वृत्ति के प्रति स्वयं ही वर्तना करते हैं, किन्तु बाह्य उपकार के बिना वह सम्भव नहीं है अत: उनकी वर्तना में जो निमित्त होता है , वह काल है। ऐसा करके वर्तना काल का उपकार जानना। यहाँ णिच्प्रत्यय का अर्थ है- द्रव्य की पर्याय वर्तन करती है, उसका वर्तन करने वाला काल है।

शंका- तब तो काल को क्रियावान् होने का प्रसंग आता है। जैसे शिष्य पढता है और उपाध्याय पढाते हैं?

समाधान- नहीं क्योंकि निमित्त मात्र में भी हेतु कर्त्तापना देखा जाता है; जैसे (रात्रि के समय में) कण्डे की आग पढाती है।

शंका- उस काल के अस्तित्वका निश्चय कैसे होता है?

समाधान- समय, घडी, मुहूर्त आदि जो क्रिया विशेष हैं, उनमें जो समय आदि का व्यवहार किया जाता है, समय आदि से होने वाले पकाने आदि को जो समयपाक इत्यादि कहा जाता है। इन रुढ संज्ञाओं में जो काल का आरोप है, वह मुख्य काल के अस्तित्व को कहता है क्योंकि उपचरित कथन मुख्य कथन की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार छह द्रव्यों की वर्तना का कारण मुख्य काल है। यद्यपि वर्तना गुण द्रव्य समूह में ही वर्तमान है, उन्ही में वह शक्ति है, तथापि काल के आधार से ही सब द्रव्य वर्तन करते हैं अर्थात् अपनी-अपनी पर्याय रूप से परिणमन करते हैं । यहाँ खलु अवधसारणार्थक है। इससे परिणमन क्रिया और परत्व अपरत्व उपकार काल के ही कहे गये हैं और ये जीव और पुद्गल में ही देखे जाते हैं। अतः धर्म, अधर्म आदि में अपने द्रव्यत्व में निमित्तभूत शक्ति विशेष अगुरुलघु नामक गुण के अविभागी प्रतिच्छेद छह प्रकार की वृद्धि से वर्धमान और छह प्रकार की हानि से हीयमान होकर परिणमन करते हैं। इस कारण से वहाँ भी मुख्य काल ही कारण है।

वह काल संक्रम विधान के द्वारा अपने गुणों से अन्य द्रव्य के रूप में परिणमन नहीं करता । और अन्य द्रव्य के गुणों को अपने रूप में भी नहीं परिणमाता। हेतु कर्ता होकर अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य के गुणों के साथ भी नहीं परिणमाता। किन्तु अनेक रूप से स्वयं परिणमन करने वाले द्रव्य के परिणमन में उदासीन निमित्त होता है।

काल का आश्रय पाकर जीव आदि सब द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय रूप से परिणमन करते हैं। उस पर्याय के ठहरने का काल ऋजु सूत्र नय से अर्थ पर्याय की अपेक्षा एक समय

होता है। व्यवहार विकल्प, भेद तथा पर्याय ये सब एक अर्थ वाले हैं। अर्थात् इन शब्दों का अर्थ एक है। उनमें से व्यंजन पर्याय की वर्तमान रूप से स्थिति व्यवहार काल है।

द्रव्यों की पर्याय की जघन्य स्थिति क्षण मात्र होती है, उसको समय कहते हैं। गमन करते हुए दो परमाणुओं के परस्पर में अतिक्रमण करने में जितना काल लगता है, उतना ही समय का प्रमाण है। आकाश के एक प्रदेश में स्थित परमाणु मन्द गति से चलता हुआ अनन्तरवर्ति दूसरे प्रदेश पर जितनी देर में जाता है, वह समय नामक काल है। वह प्रदेश कितना है, यह कहते हैं- आकाश के जितने क्षेत्र को एक परमाणु रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। वह दूर और निकट व्यवहार में कारण होता है।

व्यवहार काल - जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण समयों के समूह का नाम आवली है। संख्यात आवली के समूह का नाम उच्छ्वास निश्वास है। वह सुखी, निरालसी और निरोगी जीव का उच्छ्वास निश्वास होता है । उसी को प्रमाण कहते हैं। सात उच्छ्वास का एक स्तोक और सात स्तोक का एक लव होता है।

साढे अडतीस लवकी एक नाडी होती है, उसे घटिका कहते हैं। दो नाली का एक मुहूर्त होता है। एक समय हीन मुहूर्त को भिन्न मुहूर्त कहते हैं; यह उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। इससे आगे दो समय हीन आदि से लेकर आवली के एक असंख्यात भाग पर्यत सब अन्तर्मुहूर्त होते हैं।

एक समय अधिक आवली जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। एक समय कम मुहूर्त उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। दोनों के मध्य में असंख्यात भेद हैं, वे सब अन्तर्मुहूर्त जानना।

दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष इत्यादि आवली आदि से लेकर संख्यात, असंख्यात, अनन्तपर्यन्त क्रम से श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान के विषयभूत सब विकल्प व्यवहार काल है।

व्यवहार काल मनुष्यलोक में ही जाना जाता है, क्योंकि ज्योतिषी देवों के चलने से ही व्यवहार काल निष्पन्न होता है; अत: ज्योतिषी देवों के चलने का काल और व्यवहार काल दोनों समान हैं।

व्यवहार काल-तीन प्रकार का है- अतीत, अनागत और वर्तमान। अतीतकाल संख्यात आवली से गुणित सिद्धराशि प्रमाण है। क्योंकि छह सौ आठ जीवों के मुक्ति जाने का काल आठ समय अधिक छह मास है। तब समस्त जीवराशि के अनन्तवें भाग मुक्त जीवों का कितना काल होगा। इस प्रकार त्रैराशिक करना। सो प्रमाण राशि छह सौ आठ, फल राशि छह महिना आठ समय । इच्छाराशि सिद्धों की संख्या। फल राशि को इच्छाराशि से गुणा करके उसमें प्रमाण राशि से भाग देने पर लब्धराशि

संख्यात आवली से गुणित सिद्ध राशि आती है। वही अतीतकाल का परिमाण है।

वर्तमान काल का परिमाण एक समय है। भाविकाल सर्व जीवराशि और सर्व पुद्गलों से भी अनन्त गुणा है। इस प्रकार व्यवहार काल तीन प्रकार का कहा है।

लोक में जो 'काल' ऐसा व्यवहार है, वह मुख्य काल के सद्भाव को कहता है, क्योंकि मुख्य के अभाव में गौण व्यवहार भी नहीं होता। जैसे सिंह के अभाव में यह बालक सिंह है; ऐसा कहने में नहीं आता। वह मुख्य काल नित्य होने पर भी उत्पत्ति और व्ययशील है, क्योंकि द्रव्य होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। दूसरा व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पाद, व्यय शील है। और अतीत-अनागत की अपेक्षा दीर्घ काल तक स्थायी होता है। वस्तु में रहने वाली योग्यता तो अन्तरंग निमित्त है और निश्चय काल बाह्य निमित्त है; ऐसा तत्त्वदर्शियों ने निश्चित किया है।

आकाशस्यानन्ता: ॥९॥

Also in Svelambara work we have

आगासत्थिकाए पएसट्ठयाए अणंतगुणे ।

(Tr. The number of prades as in Spsce is infinite)

The conception of Infinity, according to Jainism, is as follows : Raise the quantity $(x^x)^2$ to its own power, then raise the result so obtained to its own power and repeat this process $(x^x)^2$ times. Let the final number be denoted by x_1.

Again raise x_1, to the power x_1, and the result obtained to its own power and continue the process (x_1^{x1}) times. Let the number now obtained be denoted by x_2

Repeat the whole poeration a second time, i.e., (x_2^{x2}), then $(\text{Reasult})^{\text{Result}}$ to be continued (x_2^{x2}) time. Let the result be now denoted by x_3.

Agin (x_3^{x3}) ;then $(\text{Result})^{\text{Result}}$ to be continued (x_3^{x3}) times. Suppose it gives the number x_4.

The process of arriving at x_4 from x_1, is given the technical name (salakatray anisthapanan). Since we shall have to resort to this process several times in reaching the Infinity, we shall for the sake of simplicity call it the S.TN.

process. To x_4 add the following numbers :
(1) Countless prades as of dharan dravya.
(2) Countless pradesas of adharma dravya.
(3) Countless prades as of a single soul in fullest expansion. i.e., filling the whole universe.
(4) Countless prades as of space occupied by loka. i.e. excluding Aloka.
(5) The number of souls in ordinary vegetarion which is innumerable times greater than the number of prades as in the loka.
(6) The number of souls in vegetalbe parasitis groups which is countiess time greater than the number in (5).

Let the number obtained after additon of these six quantities be denoted by (x_4+a).

Subject the number to S.T.N. process and lst the result be denoted by x_5.

To the number x_5 add the following :-
(1) The countless number of moments in a cycle of time. (Cycle of time is explained in sutra 39);
(2) The countless modifications of consciusness ;
(3) The innumerably degrees of intensrity of passions;
(4) The still innumerably greater number of soul vibrations associated with the activities of the mind, speech and the body.

Let the sum be denoted by $(x_5 +b)$.

Subjecting (x_5+b) to S.T.N. process, suppose we get x_6. (This number is called preliminary Infinity.)
Let $(x6)^{x6}$ be denoted by x_7, and
$\{(x7)^{x7}\}$ $(x7)^{x7}$.

by $x_{8.}$

Subject x_8 to S.T.N. process and let the result be x9.
To x_9 add the following quantities :
(1) The number of souls which have attained nirvana, this number, although infinite, Is infinitely smaller than the total number of souls in the universe.
(2) The number of undevelouped souls (akin to bacteria and unicellular organisms of modern biology) which is infiniterly greater than the number in (1).
(3) The number of vegetable souls again infiniterly greater than the number in (1).
(4) Number of atoms of natter, which is infinitely greater than the total number of souls.
(5) The number respresenting the noments of time, infinitely greater than the number of atoms of matter.
(6) The number of points of space, again infinitely infinite. Let the sum be denoted by $(x^9+ c)$.
Subject (x^9+c) again to S.T.N. process and denoted the result by x10

To x10 add :
(1) The infinitely infinite qualities of dharma dravy, and
(2) ditto for the adharama dravya.
Let the sum be denoted by $(x^{10}+d)$
Subjecting this number to S.T.N. process we arrive at infinity, for which the mathematical symbol is c अनन्त
This infinity of Jainas comprises the infinite existing substances and their compounds as well as their infinite states and modifications and is therefore the 'true' infinity.

सोऽनन्तसमयः ॥40॥

(An infinitesimal fraction of time is called the ***samaya.***)

This sutra defines the unit of time. Just as ***paramanu*** is the unit of mass space-point or the ***pradesa*****,** the unit of three-dimen-sional space, similarly a *samaya* is the unit of time and is defined as the time taken by a ***paramanu*** to traverse one spacepoint or the time taken in going from one ***kalanu*** to another. Since there is only one ***kalanu*** in each space point, the two definitons are identcal.

In the words of the 1946 nobel Prize Winner Physicist, **P.W.** Bridgeman " We cannot think of an antervat of time as the sum of moments without duration".

Physicists began to deal with ultra short time intervaks after the discovery of radioactivity. Some types of atoms had a very short life. Polonium-212 for instance, has a half life of less than a millionth (10^{-6})of a second. It decayed in the time it took the earth to travel one inch in its $18^{1}/_{2}$ mile per second journey about the sun. Some sub-atomic particles bresk doun in for shorter intervals of time. In a bubble chamber, certain particles, travelling at nearly the Speed of light, maanage to form tracks three centimeters long after forming and before breaking doun. This corresponds to a life time of a ten billionth (10^{-10}) of a second.

In the 1960s, particularly short-lived particles were dis- covered whose half lile period was (10^{-23}) seconds i.e., ten trillonths of trillionth of a secnd (एक सैकेंड का शंखवाँ भाग और उसका भी दस लाखवाँ भाग).

This is the limit of shortest interval of time reached by science so for. The Jaina unit of time (samaya) is smller still.

जीवाश्च ॥३॥

(Souls are included in the category of substances.)

Svetabmbaras and Digambaras both agree in regarding soul as a substance. One more evidence from a Svetambara-sutra in given below:

''कइविहाणं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता,.....
तंजहा-जीवदव्वा य अजीवदव्वा य।''

The existence of soul can be proved on various grounds. The faculty of knowing and perceiving the sensations of pleasure and pain cannot inhere in nothing, nor can volition be the function of pure non-entity. All these must be regarded as states of somthing which exists and It is this 'somthing' which we call 'soul substance. Physical researches of eminent scientists, like sir Oliver Lodge, have proved thr exitence of soul. It should be noted, however, that the investigations of Experimental Science say nothing, either this way or that way, about the existence of soul, the reson being that non-material substances cannot be subjected to expariment and hence do not come wihhin its province.

In Exploring the Universe the following words occur :

"Science is now , and must increasingly became a limited filed of endeavour. Its matrials are only those forces which can be measured and predicted with precision by all experiments alike. If there exits in man free will, a conscinece, a power of self-sacrifice, a social mind or a consciousness of kind, these Forces are beyond the pale of science... The scince of tommorow, therefore, cannot include any such forces as we commanly conceive at

present when we use the words, mind or soul or will or purpose."To ask Scince to give its verdict with regard to the existence of soul is to ask an engineer to perform an oparation on the injuredpart of your body. Don't thing that the engineer a silliy if he refuses to attend to you. It is not his province. But even the scientists, as logical thinkers, have felt that over the body and the intellect there rules a heven--sent soul and regarding it as some form of energy they have made attempts from time to time investigate its nature.

As account of a recent investigation carrid out by a prominent South Aferican doctor an engineer in London was publishied under the caption "scientist Seeks the Soul."We reproduce below sertain portions of that atrticle:

"The doctor and the enginrre both thought that the secret of life lay in some kind of energy, Probably electricles... Intricate apparatus was designed and built by the ingineer and the experiments started. Animals were used at first .Therir apparatus proved that every animal was born with a difinite electric charge. They were able to record and tabulate this anergy. They found that the more intillegent enimals had a higher charge than the lower forms. At the moment of death the charge disappeared. In the animal experiments tht records showed that the charge remained more or less the some throughout life except when the animal was breeding."

In the case of human being they found the same laws holding and we read: "The babies were born with a definite charge. After dath the charge vanished. An everage human charge, they found was 500 volts. As the subject

grew older the charge increased not with age, but according to the type of charactars the subject was developing. The to men began to thing that they were on the track not only of life but of the soul so long sneered at by scientists. In coarse animals natures the charge remains, low and in cases of mental disease and lunacy the charge drooped. They found that male babies, had a higher charge at birth than femaleibabies but that the female could catch up and pass the male according to the various characteristics shown."

Now they are trying to find out where dsoes the electricale charge go at death. They thing that as energy it cannot disappear but must go on existring in some from . It is ,there fore, reported that" the enginner is planning a new recording machine. This will not trake the readintg difinitely from the body of the subject but from the atmosphear around it. It is based on a theory that there is an aura around every human being.

With this new machine they hope that they wil be able to take the reading of the atmosphere in a room or in abuilding such as a hospital.

They hope that when death occurs the needle of recording maching will not drop but will remain steady, proving that the charge is still there, in the aether filling the room.

The theory they hold now is then a datient dies the energy leaves the body, but hovers, for a time, in the atmosphere surrounding the body"

The reading of the above account at once conveys the idea that this is not a step which will lead to the

discovery of soul, since soul is a non-material, non-tangible body. But it is a brilliant confirmation of the Jain view of ***taijas-sarira*** or electrical body which is closely associated with the soul. Compare the above with the following account of the ***taijas-sarira*** given in Jaina ***Sastras*** :-

"The ***taijasa*** is composed of electric or magnetic matter and is a necessary link between the outer-most body and the ***Karmana-sarira*** (the latter being the compound arising from the union of spirit and matter),"

"The ***taijasa-sarira*** is a coat of luminous matter thrown over the ***Karmana-sarira*** and form an atmosphere or aura of light rond it."

"Taken together, the ***taijasa*** and the ***Karmana-sarira*** form only one organism, and accompany the soul throughout its evolution as a migrating ego."

"Death signifies the departure of the soul with its two inner dodies, the ***Karmana*** and the ***taijasa*** from the body of gross matter. "

The comparison is striking and needs no comment. The scientists have after all discovered one physical counterpart of the soul and hence we are quite jushfed in regarding the soul as a separate non-material substance.

Within the last few decades the scientists are convinced that it is possible to explain all processes of life in terms of the laws of physics and chemistry. According to them the tow most essential requisites of life are growth and reproduction. As a result of growth, the lody exhibits locomotion and in highwr animals, mental activity. All living beings contain tow or three classes of chemical

sucstances, whose soecial propeties enable living systems to exhibit the behsviour which we characterise as life. These substances belong to the category of high polymers whose molecules contain thousands of atoms and sometimes millions of them; arranged in repeated patterns. The protein which is one of the main constituents of all living matter belongs to this group. There are twenty protein units. They do specified jobs and produce required results. For instance, a protein called the haemoglobin (the chief constituent of blood) contains some iron atoms and serves the purpose of absorbing the oxygen from the air we breathe in and taking it to the various places in the body where the oxygen is required for maintaining the living process. There ae thousands of different proteins inside any living organism and there is some sort of guiding force which exists in the cells of its tissues, which makes these proteins as required for doing their specialised duties. The guiding force is supplied by the two nucleic acids found inside the nucleius of the cells technically known as DNA and RNA.

In unicellular organisms such as the amoeba. The single cell at appropriate time when it is big enough it automatically divides into two similar parts and each part is a complete amoeba. On the other hand, in higher animals which also stsrt from a single cell the cells which divide do not go apart, but stick together to give shape and form to the livlng being. So,what appears as growth in this case is really produced by the reproduction of the cells.The DNA produces the required proteions and duplicates itself.

In the field of artificial production of life the successful synthesis of a living cell was reported lone ago and in 1968 the 'American Reporter' announced the synthesis of biologically active living call. A biologically active cell is that which grows by automatic multiplication. At present the great Indian chemist Mr. khurana is trying to manufacture a gene.

Hundreds of experiments were performed in America and elsewhere to correlate memory with proteins on the one hand, and with DRN on other but no definite conclusion was arrived at.

So far no scheme has been proposed which could explain the relation of protiens and the DNA with thought, reason, logic, intuition, decision and free- will. In other words, consciousness could not be explained on the basis of physics and chemistry and hence the existence of soul remains unchallenged.

The subject of existence of soul and its transmigration has widely been studied by scientists, and para-psychologists in India and abroad. An American scientist, Stevenson has systematically studied this problem and published valuable literature on it. Recently the Editor of 'Daily Express', London has published sbout one thousand verified authentic cases of persons who have given an account of their previous lives.

This leaves no doubt as to the soul being a Separate substance as postulated by Jaina thinkers.

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२ ॥

(धर्मादीनाम् द्रव्याणाम् लोकाकाशे अवगाहः।)

(These substances *Dharma, Adharma,* Jiva, Ajive, etc. exist only in Lokakasa.)

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवो य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति॥ द्र. सं.20

(Lokakasa is that in which Dharma, Adharma, kala, Pudgala and jiva exist, that which is beyond this is Alokakasa). ०

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाण च ।
जे देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं॥पं. का. 97

(That which accommodates all matter, the souls and the remaining substances is the Lokakasa). Also in a svetambara sutra we have:

धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गलजन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहिं॥

This division of infinite space into Lokakasa and Alokakasa, i.e., Universe and Non-universe is based on the Dravyas-Dharma and Adharma. Souls and matter move on and rest up to the confines of the Universe only. Beyond this the media of motion and rest are absent. This determines the limit of the finite universe. The Alokakasa is an infinite space without any soul or a particle of matter and it surrounds Lokakasa on all sides.

The follwing brief description of the Lokakasa may be given:

The Loka i.e., the universe is supported in the middle of the Aloka in the form of a human trunk with Siddha-Sila at the top where head should be.The surrounding zones of air in which the universe is floating are said to be three, the inner zone being humid, the humid, the middle dense and the outer of rarefied gases. The *siddha-sila,* the abode of 'perfected Souls', is the summit of the universe in the form of a bi-meniscus convex lens with its

concavity downwards. The universe is divided into three big divisions, the upper world, the middle world and the lowe worly. They are situated one above the other and are inhabited by celestial beings, The worldly creatures and the hellish beings, respectively.

The total volume of Loka, according to Digambara text is 343 cubic rajjus In the standard Work on astronomy '***Trilokassra'*** of Nemicandra siddhanta Cakravarti we read in Gatha 3: सर्वाकाशमनन्तं जगच्छ्रेणिघनप्रमाणो हि i.e., the cube of Jagatsreni is the volume of the Loka and Jagatsreni in terms of rajju is defined in gatha 7 as जगच्छ्रेणिसप्तम भागो रज्जू: i.e., 1/7 th of ***jagatsreni is Rajju*** or jagatsreni is equal to 7 Rajjus. Therefore cube of ***jahatsreni*** is Cule of 7 ***Rajjus.*** Hence the volume of the universe is 7 X 7 X 7=343 cubic Rajjus.

It Should be noted that this gives us another definition of rajju in terms of jagatsreni but since the latter has been said to be countless Mahayojanas it cannot be subjected to a mathematical computation.

There is another, quoted by Pt. Madhavacarya, Research Scholar, in the "Anekanta", Vol. 1,3 :''एक हजार भार का लोहे का गोला इन्द्रलोक से नीचे गिर कर 6 मास में जितनी दूर पहुँचे, उस सम्पूर्ण लम्बाई को एक 'राजु' कहते हैं।

(Tr.-Rajju is the distance travelled in six months by a ball of iron weighing 1,000 bhara pronabiy tolasF; 1,000 tolas = 12.5 seers) let fall freely from Indraloka (the abodey of heavenly beings). This difinition connot be subjected to comoutation since the law of fall of bodies from Indraloka is not known. It appears that in Indraloka the rate of fall depends upon the size of the body and then

nobody can say what uniform acceleration would be.However if taka the Einstein's value of the radius of the finite universe we can arriverse at the order of magnitude of a ***rajju*** thus: Radiu of the universe =1,068 million light-years.

One light-year = 5.88×10^{12} miles

Volume of a spherical universe, i.e., $(4/3 \times 22/7 \times r^3)$

$=4/3 \times 22/7 (1068 \times 10^6 \times 5.88 \times 10^{12})^3$ cu. miles

$=1037 \times 10^{63}$ cu. miles

i.e., 1037 followed by 63 ciphers or 67 digits in all.

Now if $1,037 \times 10^{63}$ be equated to 343 cu. ***rajjus,*** we get one ***rajjus.*** $= 1.45 \times 10^{21}$ miles, where as if equated to 239 cu. ***rajjus,*** We get : one ***rajju*** = 1.63 X 1021 miles, a quantity of the same order of maghiude as before.

Taking the definition of ***rajju*** is the distance travelled by a Deve in Six months at the rate og 2057152 ***yojanas*** per Ksana we get; since one ***mahayojana*** = 4, 000 miles.

2057152 vojanas=8228608000 miles and 6 months = 6 X 30 X 24 X 60 X 540000 prativipzlamsa.

.: distance travelled in six months

=8228608000 X 6 X 30 X 24 X 60 X 54000 miles

$=1.15 \times 10^{21}$ miles nearly.

This is almost the same as the magnitude of ***rajju*** arrived at from the Einstein's value of the radius of the universe. If we identify the unit of time (ksana) with Prativipalamsa the agreement is quite close. The following points should, however, be noted in this connection:

The dimensions of the universe have been estimated by Einstein on the basis of a spherical finite universe wheras

shape of the finite universe according to jains is anthropomorphous with in-finite pure space on all sides.

Considering these odds, it is very difficult to make exact comparison between the modern determination of the size of the univierse and the determination of the ancients. However all that has been said above reflects credit on the work of ancient thinkers.

Modern theories of the universe regard the uhiverse as expanding although the final word has not yet been pronounced on this point. (Cosmology old and new)

DOOM OF THE UNIVERSE

According to Hindus all matter, space and time are engulfed into the Supreme Being at the time of Maha pralaya and than it is He who unfolds the universe again, whereas according to jainas the nature of the universe itself is such that after it has completely run down, it regenerates itself by carrying out the cycle in the reverse order.

According to modern science, the universe is gradually running down in the material sense of the word. In the language of science, we say that the entropy of the universe is tending towards the maximum. This has been proved mathematically by Maxwell from the second law of thermodynamics. In nature, heat is constantly flowing without interruption from a body at a higher temperature to a body at a lower temprature and air automatically flows from a region of high pressure to a region of low pressure. Thus there is a tendency towards equalisation of temperature and pressure all over the universe.

The Efficiency of a heat engine is greater if the difference of temperatures between the source of heat and the exhaust is larger i.e. greater the difference of temperature, the higher is the efficiency:- In other words we can say that the availability of energy for doing work is becoming less and less every moment and when the entropy of the universe reaches its maximam, no work will be possible.The state of affairs will correspond to the idea expressed in 'Mariner's poem' 'water water everywhere, but not a drop to drink.'

The sum total of energy in the universe will be the same as before but it will not be available for work. No motion of any kind will be possible. The whole universe together with its immates will be at a stand-still.Living being will neither be able to move nor to breathe. Life of all forms will be extinct. What next? is a glaring question before the scientists. They belive that the universe cannot end thus. Some unknown force must rewint the clock of the universe so that it may be set running once again. According to Hindu belief the rewinding is don by the Almighty God whereas according to jainas the process is automatic.

There is another line of thinking in sciecce. According to this, sun is the source of energy for all life on earth. It is on the advent of the Spring that buds open, it is the heat energy which brings forth new life from within an agg; it is the energy of the sun which the human beings, animals and vegetables utilize for their growth. The sun is hot body with its surface temperature of 6000^0C and in the interior the temperature is two crores of degrees centigrade.It is radiating energy incessantly in all direc-

tions and as such it ought to cool down some day to the temperature of its surrounding.But it has been maintaining its temperature for billions of years and will continue to do so far a few billions of years more,when it will altogether disappear. The reason is this : several milleniums before christian era,our Tirthankars taught that heat and light are fine forms of matter and have,therefore,weight.

This discovery was made by Einstein in modern times. Sun is losing heat by radiation and its temprature is constant. It means, it is losing mass. It has been estimated that its mass is being reduced by 250 million tons per minute and therefore it will disappear after a few billion years.The total mass of the sun is $2x10^{27}$ tons. When universe becomes deviod of solar energy, all life will disappear and it will be a sort of ***pralaya.***

In recent years another interesting discovery has been made. It is well known that the magnetic North Pole does not coincide with the geographical North Pole. There is an angle between them. Now it has been found that the magnetic poles of the earth are slowly rotating and a time will come when the North pole will go into the position of South pole and vice-versa. In between there will be a period of 100 to 200 years when the earth will have no magnetism at all, because when we go from a negative quantity to a positive quantity, zero comes in between.

The Earth's magnetic field acts like an umbrella for the destructive showers of cosmic rays coming profusely from interstellar space. The Earth's field deflects them to one side and it is only in very small numbers that they are able to reach us.The rotation of the poles has a period of

about 7,50,000 years and the last reversal took place some 7,00,000 years back. After forty or fifty thousand years, it is likely to occur again. This is a very brilliant confiramation of Jaina ***siddhanta*** according to which ***Mahapralaya*** is going to take place exactly after 39500 years. At the time of zero magnetic field, all cosmic rays will exert their maximum destructive force and there will be an utter destruction i.e. ***Mahapralaya.***

At the time of reversal of the poles, there are very great gentic mutations with the result that the creatures born are either too small in size or to large i.e. entirely new forms of life are produced.

On june 30.1908 there was an unusual exploxion in Siberia in the Soviet Union. The explosion may be compared to a 30 megaton hydrogen bomb explosion i.e. equal to 1500Hiroshima atom bombs exploding together. American scientists are of the opinion that is was an explosaon caused by an ahtimatter intruder of about 1k.g. weight that entered accidentally into our earth. If some day a lump of antimatter weighing about 10 tons, enters into over universe, it will create such a gigantic explosion that the whole world will be reduced the dust.

There is another view with regard to the doom of our earth.The Earth is gradually increasing in mass at the rate of 20,000 tons per year on an average due to entry of meteorites and cosmic dust. Since the Earth is rotating like gyroscope, constant increase in its mass means slowing down of the angular velocity. From this we can easily conclude that some day its rotation about its axis will cease. The result will be that on one side there will be

eternal day and on the other side and eternal night. The day side will have a burning temperature where water will be converted into vapours. On the other sides, there would be extreme cold. Under either conditions living organisms cannot survive.

As the sun is also loosing it mass incessantly, it will not be able to exert its maximum pull on the Earth.Under these circumstances it is very likely that the Earth may collide with some other celestial body and be broken into pieces.

The concept of ***Mahapralaya*** in Jaina ***Siddhanta*** is a different story. In what is called as Bharata Ksetra by the ancients, the cycle of Time is first divided into two parts,called the ***utsarprini*** (उत्सर्पिणी) and ***avasarpini*** (अवसर्पिणी).Then each of them is further divided into six epochs. During the ***utsarpini Kala***, there is a gradualn progress and during the ***avasarpini kala*** there is a gradual decline. Utsarpini comes again and so on alternately. Hunger is excited after an interval of 3 days and is immediately satisfied by taking a pellet of food of the size of jejube (बेर) obtained from ***kalpa vrksas*** (celestial trees). The beings 0f tmis age have not to answer the calls of Nature and are free from every kind of disease. Twins are born, a male and a female and behave as husband and wife after they grow up. The clothes and other necessities of life are all provided by the celestial trees. The parents die together after the birth of the twins and the latter grow up within 50 days by sucking thier thumbs.

The second epoch is of smaller duration than the first. The hieght of the human body and the span of life

are reduced.The beings of this period also get all thier requirements from celestial trees.

In both these epochs there is no ruler or the ruled, the status of all people is equal. The luminosity of celestial trees is so great that the light from the sun and the moon is obscured. Even the cruel animals like lions have peaceful temperment. During the third epoch the height of beings and their span of life are still further reduced. The beings of this Age take their food on alternate days and quantity of food is increased from a jejube size to that of myrobalan. It is in this epoch that the fourteen 'Kulakaras' (law givers) (called "Manus' in Hindu Sastras) are born. Before the lirth of Kulakaras there no names of individuals. The wives address thier husbands as ***Arya*** and husbands calls thier wives as ***Arye***. There is no caste distinction. They all belong to one caste-Humanity. All comforts flow freely and equally available to all persons. Man has not to exert himself for his livelihood. This Age is known as Utopia (Bhoga-humi).

During the fourth epoch the hieght and the span of life is reduced still further. At the end of the epoch the hieght dwindles down to about 10 feet.Karma-Bhumi begins as man has to work now for earning his livehood. With the begining of this epoch, States are formed, rulers come into existence, people begin to perform religious functions and begin to marry. New and improved methods of trade, agriculture and industry are devised. There is material progress no doubt but spiritually the man deteriorates. It is during this epoch that 24 Tithankars are born at intervals of time, who enlighten the world with thier

divine knowledge. Attainment of Moksha (Salvation) is possible only up to the end of this epoch. At the fag end of this epoch some new seas are born, i.e. great land masses are ***sub-merged*** under water.

The fifth opoch in this declining cycle is of 21,000 years. In this epoch the height, the age and the physical strength of man are very much reduced. The maximum span of life is 120 years and is gradually reduced at the rate of 5 years after every one thousand years. By the time the epoch ends, the maximum age is 20 years and the height 3 feet. At this time men become carnivorous and live upon trees like monkeys. They do not observe any kind of religion. All virtues are lost in them. We are at present living in the fifth epoch.

During the sixth again epoch of 21,000 years. things worsen still further. During the last 49 days of this epoch, thire is rain of dust for first seven day, violent storms for next seven days, heavy rains during the third week and rain of fire during the fourth week. During the next three weeks, there is rain of stones, earth colds and wood respectively.

The result is that all living beings, animals and birds are destroyed. In fact the whole cities are razed to the ground. The Jaina Tirthankaras have called this period as Pralaya. Only the sexual beings are removed to places of safety by the Devas. Here the cycle of Decline ends.

After this, the cucle is repeated in the reverse order and atter undergoing six similar stages of time status quo is restored.

Scientists belive in the eternity of the universe but they invoke the aid of some unknown force to rewind the universe when it has completely ran down.

अनन्त पंच परिवर्तन

पंचविध संसार

संसारो पंच-विहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भव-भमणो च चउत्थो पंचमओ भाव-संसारो ॥66

संसार पाँच प्रकार का होता है- द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार।

परिभ्रमण का नाम संसार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से वह पाँच प्रकार का होता हैं।

1) *द्रव्य संसार*

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णोकम्म-पुग्गला वि च मिच्छत्त-कसाय-संजुतो॥67

मिथ्यात्व और कषाय से युक्त संसारी जीव प्रति समय अनेक प्रकार के कर्म पुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को भी ग्रहण करता और छोडता है। कर्म बन्धन के पाँच कारण हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान है, क्योंकि वे मोहनीयकर्म के भेद हैं और सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान और बलवान् है। उसके अभाव में शेष सभी कर्म केवल निस्तेज ही नहीं हो जाते, किन्तु संसार परिभम्रण चक्र ही रुक जाता है । इसीलिए आचार्य ने मिथ्यात्व और कषाय ही ग्रहण किया है। मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं और कषाय के पच्चीस भेद हैं। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्माण वर्गणाएँ भरी हुई हैं, उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। तथा आयुकर्म सर्वथा नहीं बधँता, अत: सात ही कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। और आबाधाकाल पूरा हो जाने पर उन्हें भोगकर छोड देता है। जैसे प्रतिसमय कर्मरूप होने के योग्य पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण करता है, वैसे ही औदारिक, वैक्रियिक और आहारक, इन तीन शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गलों को भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोडता है। **इस प्रकार जीव प्रतिसमय कर्मपुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करता और छोडता है।** किसी विवक्षित समय में एक जीव ने ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्ध ग्रहण किये और आबाधाकाल बीत जाने

पर उन्हें भोगकर छोड दिया। उसके बाद अनन्त बार अगृहीत का ग्रहण करके, अनन्त बार मिश्र का ग्रहण करके और अनन्त बार गृहीत का ग्रहण करके छोड दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदि भावों को लेकर, उसी जीव के वैसे ही परिणामों से पुन: कर्मरूप परिणत होते हैं, उसे कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इसी तरह किसी विवक्षित समय में एक जीव ने तीन शरीरों को छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्मपुद्गल ग्रहण किये और भोगकर छोड दिये, पूर्वोक्त क्रम के अनुसार जब वे ही नो कर्म पुद्गल उसी रूप-रस आदि को लेकर उसी जीव के द्वारा पुन: नो कर्मरूप से ग्रहण किये जाते हैं, उसे नो कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। कर्मद्रव्य परिवर्तन और नौकर्म द्रव्यपरिवर्तन रूप को द्रव्यपरिवर्तन या द्रव्यसंसार कहते हैं। कहा भी है-**'पुद्गलपरिवर्तन रूप संसार से इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रमश: अनन्त बार ग्रहण किया और छोडा।'** जो पुद्गल पहले ग्रहण किये हो उन्हें **गृहीत** कहते हैं। जो ग्रहण न किये हों, उन्हें **अगृहीत** कहते हैं। दोनों के मिलाने को **मिश्र** कहते हैं। इनके ग्रहण का क्रम पूर्वोक्त प्रकार है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में द्रव्यपरिवर्तन के दो भेद किये गयें हैं- बादर द्रव्यपरिवर्तन और सूक्ष्म द्रव्यपरिवर्तन। दोनों के स्वरूप में भी अन्तर है, जो इस प्रकार है-' जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओं को औदारिक, वैक्रियक, तैजस, आनप्राण मन और कार्मण शरीर रूप परिणमनकर, उन्हें भोगकर छोड देता है, उसे बादर द्रव्यपरावर्त कहते हैं। और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणारूप परिणमनकर उन्हें भोगकर छोड देता है उसे सूक्ष्म द्रव्यपरावर्तन कहते हैं। द्रव्य-परिवर्तन का वर्णन भगवती आराधना में भी निम्म प्रकार से किया

'अण्ण गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे॥' 1768 भ. आ.

घटीयन्त्र की तरह जीव अन्य शरीर को छोडकर अन्य शरीर को ग्रहण करता है। उसे भी छोडकर अन्य शरीर को ग्रहण करता है। जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है। उसी प्रकार यह जीव शरीरों को ग्रहण करता और छोडता हुआ भ्रमण करता है। द्रव्य शब्द से विचित्र से विचित्र शरीर कहे हैं। आत्मा के शरीरों का परिवर्तन द्रव्यसंसार है। ग्रन्थकार ने स्थूल बुद्धि वालों को लक्ष करके द्रव्यसंसार का यह स्वरूप कहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तन इस प्रकार लेना।

द्रव्यपरिवर्तन के दो भेद हैं- 'नोकर्म परिवर्तन' और 'कर्म परिवर्तन'। उनमें से नोकर्म परिवर्तन इस प्रकार है- तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल एक जीव ने एक समय ग्रहण किये, उनमें जैसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भाव

से वे ग्रहण किये गये हों, दूसरे आदि समयों में उन्हें भोगकर छोड दिया। उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीत को ग्रहण करके अनन्तवार मिश्र को ग्रहण करके मध्यम में गृहीत अगृहीत को **अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीव के उसी प्रकार से जब नोकर्म रूप प्राप्त होते हैं, उस सबको नोकर्म परिवर्तन कहते हैं । अब कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं**- एकसमय में एक जीव ने आठ कर्म- रूप से जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली काल के पश्चात् द्वितीय आदि समयों में उन्हें भोगकर छोड दिया। नोकर्म परिवर्तन में कहे कर्म के अनुसार वे ही कर्मपुद्गल उसी जीव के उसी प्रकार से जब कर्मरूप से आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

2) *क्षेत्र-संसार*

सो को वि णत्थि देसो, लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वे जीवो जादा मरिदो य बहुवारं॥88

समस्त लोकाकाश में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, जहाँ सभी जीव अनेक बार जिये और मरे न हों। **यह लोक जगतश्रेणी का घनरूप है। सात राजू की जगतश्रेणी होती है। उसका घन 343 राजू होता है। इन तीन सौ तेतालीस राजुओं में सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके और मर चुके हैं। यही क्षेत्र परिवर्तन है।** वह दो प्रकार का होता है- स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन। कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव सूक्ष्म निगोदिया जीव की जगन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते महामत्स्य की अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है इसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। अर्थात् छोटी अवगाहना से लेकर बडी अवगाहना धारण करता है। इसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। अर्थात् छोटी अवगाहना लेकर बडी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसको स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहना धारक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पीछे वही जीव उस ही रूप से उस ही स्थान में दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उसी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अट्ठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ। पीछे एक एक प्रदेश बढाते-बढाते सम्पूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र; बना ले, यह परक्षेत्र परिवर्तन है। कहा है-**' समस्त लोक में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है,जहाँ क्षेत्र रूप संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक अवगाहनाओं को लेकर वह जीव क्रमश: उत्पन्न न हुआ हो।'**

(श्वेताम्बर साहित्य में क्षेत्रपरावर्तन के भी दो भेद हैं- बादर और सूक्ष्म। कोई जीव भ्रमण करता करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुन: किसी दूसरे प्रदेश में मरण करता है, फिर किसी तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार जब वह लोकाकाश के समस्त प्रदेश में मर चुकता है, तो उतने काल को बादरक्षेत्र परार्वतन कहते हैं। तथा कोई जीव भ्रमण करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुन: उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है पुन: उसके समीपवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में मरण करते-करते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर चुकता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र परावर्तन होता है।)

क्षेत्र परिवर्तन

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव।
काले तदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि॥ 1770 भ. आ.

जगत् में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत काल में अवान्तर जन्मा और मरा न हो। अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तन का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं- सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेश वाला शरीर लेकर लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्र भव ग्रहण करके एक श्वास के अठारहवें भाग समय तक जिया और मरा। वही जीव पुन: उसी अवगाहना को लेकर उसी स्थान में दुबारा उत्पन्न हुआ, तिबारा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस तरह अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश में जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुन: एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते सर्वलोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाया। इस सब को क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी हैं -

सव्वम्मि लोगखित्ते कमसो तं णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे॥ 26**बा. अणु.**

सर्व लोक क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रम से उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक अवगाहना के साथ इस जीव ने क्षेत्र संसार में परिभ्रमण किया।

रंगगदणडो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि।
गिण्हदि मुच्चदि य ठिदं जीवो संसारमावण्णो॥ 1769भ. आ.

जैसे रंग भूमि में प्रविष्टि हुआ नट अनेक रूपों को धारण करता है उसी प्रकार द्रव्य संसार में भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदि को ग्रहण करता और छोडता है।

क्षेत्रसंसार रूपी स्पन्दन संसार

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु।
तत्तमिव अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि॥1773भ. आ.

लोक के मध्य में स्थित गौ के स्तन के आकार आठ प्रदेशों को छोडकर यह जीव अपने शेष प्रदेशों में तप्त जल के मध्य में स्थित चावलों की तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है। अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जल में पडे हुए चावल ऊपर नीचे हुआ करते हैं उसी प्रकार आठ मध्य प्रदेशों को छोडकर जीव के शेष प्रदेश चल रहते हैं।

लोक (ब्रह्माण्ड) की परिभाषा

दिसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत-विहीणा विरायंते॥ 12

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा

जहाँ पर जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। उसके शिखर पर अनन्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। 'लोक'शब्द 'लुक्' धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना होता है अत: जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। (''**धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक:।**''सर्वार्थ., पृ. 176) लोक के मस्तक पर तनुवातवलय में कर्म और नोकर्म से रहित तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। जो अन्तरहित-अविनाशी हैं, अथवा जो अन्तरहित अनन्त हैं।

ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्ड

धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीव पोग्गलाणं च।
जावत्तावल्लोगो आयासमदो परमणतं ।। 5 त्रिलोकसार

जितने आकाश को धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और गति अगति करने वाले जीव एवं पुद्गल द्रव्य तथा शब्द के द्वारा ग्रहित कालद्रव्य अभिव्याप्त करते हैं उतने आकाश को लोक कहते हैं, इसके आगे अलोकाकाश है। अलोकाकाश अनन्त है।

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो।। 20 द्र.सं.

"Lokakasa is that in which Dharma, Adharma, Kala, Pudgala and Jiva exist, that which is beyound (this Lokakasa) is called Alokakasa.

"Loka is that. place in which happiness and misery are seen as results of virtue or vice or Loka might be said to be that place in which

things are got or Loka is that place which is perceived by the omniscient." This is how Akalanka Deva derives the word Loka. Akasa with reference to Loka or Akasa similar in extent to Loka is Lokakasa and Akasa beyond Loka is Alokakasa.

In the accompanying Plate, we have a representation of Lokakasa and Alokakasa. Loka or the universe, according to the Jaina idea, consists of three divisions - Urdha Loka or the upper world Madhya Loka or the middle world and Adho Loka or the lower world. The first is the abode of celestial beings, the second of men and of other creatures and the third of the inmates of hell. Surrounding' these Lokas, which are situated one above the other, are three layers of air, the inner being humid, the dense and the outer rarified. Within the envelope of these layers, there is Lokakasha invisible substance which allows space to other substances and is equal in extent to the Loka. In this Lokakasa, Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Kala exist.

Beyond this Lokakasa, there is Alokakasa which is eternal, infinite, formless, activityless and perceptible only by the omniscient. In Alokakasa, there is only the substance Akasa and not Dharma, Adharma, Kala, Pudgala or Jiva.

जहाँ पुण्य-पाप का फल देखा जाता है उसे लोक कहते हैं, अथवा जहाँ पुण्य-पाप कर्मों का फल सुख-दु:ख रूप लक्षण में देखा जाता है उसे लोक कहते हैं, अथवा जो देखा जाता है उसे लोक कहते हैं, अथवा जहाँ अर्थ देखा जाता है, उपलब्ध होता है उसे लोक कहते हैं। अप्रतिहत केवलदर्शन के माध्यम से सर्वज्ञ द्वारा जो देखा जाता है उसे लोक कहते हैं। इसी प्रकार अकलङ्ककदेव ने लोक की परिभाषा कही है- लोक के आकाश को लोकाकाश कहते हैं। जैसे पृथ्वी पृष्ठ पर जहाँ जल रहता है, उसे जलाशय कहते हैं। उसी प्रकार आकाश के जिस प्रदेश में लोक रहता है उसे लोकाकाश कहते हैं। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का भेद है । जैन दृष्टिकोण से लोक अर्थात् विश्व के तीन भेद है - अधोलोक, मध्यलोक, उर्ध्वलोक। प्रथम लोक में नारकी रहते हैं, द्वितीय लोक में मनुष्य एवं तिर्यञ्च रहते हैं एवं तृतीय लोक में देव लोग रहते हैं। विश्व को घेरे हुए एवं परस्पर एक दूसरे को वेष्टित करते हुए तीन वातवलय हैं। घनोदधिवातवलय को वेष्टित करते हुए घनवातवलय तथा घनवातवलय को तनुवातवलय वेष्टित किये हैं। इस प्रकार तीन वातवलय से वेष्टित जो अदृश्य (अमूर्तिक) आकाश है उसको लोकाकाश

कहते हैं, जो कि अन्य द्रव्यों को अवगाहन देता है। इस लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँच द्रव्य रहते हैं। इस लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है जो कि शाश्वत, अनन्त है, अमूर्तिक है, अन्य द्रव्य से रहित है, क्रियाहीन है एवं सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञात है। अलोकाकाश में केवल आकाश ही है, उसमें धर्म, अधर्म, काल, जीव एवं पुद्गल नहीं है। इस अलोकाकाश की सीमा, प्रत्येक दिशा में अनन्तानन्त है। इस अनन्तानन्त आकाश के बहुमध्यभाग में जो सीमित असंख्यात प्रदेशी लोक है। उसका आकार भी निश्चित, सुव्यस्थित और अपरिवर्तनशील है।

परिणमनशील ब्रह्माण्ड

परिणाम - सहावादो पडिसमय परिणमंति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणहे परिणामं ।। 117

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है अत: द्रव्य प्रति-समय परिणमन करते हैं। उनके परिणमन से लोक का भी परिणमन जानो।

जो पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं, उन्हें द्रव्य कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से प्रति-समय परिणमन होता रहता है। प्रतिसमय छहों द्रव्यों की पूर्व-पूर्व पर्याय नष्ट होती है, उत्तर-उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है, और द्रव्यता ध्रुव रहती है। इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में अनन्त पर्याय रूप से परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है। जो इस तरह परिणमनशील नहीं है, वह कभी सत् हो ही नहीं सकता। अत: नित्य होने पर भी जीव, पुद्गलादि द्रव्य अनेक स्वभाव पर्याय तथा विभाव पर्याय रूप से प्रति समय परिणमन करते रहते हैं । परिणमन करना उनका स्वभाव है। स्वभाव के बिना कोई वस्तु स्थिर रह ही नहीं सकती। उन्हीं परिणामी द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। अत: जब द्रव्य परिणमनशील है तो उनके समुदाय रूप लोक का भी परिणामी होना सिद्ध ही है, अत: द्रव्य की तरह लोक भी परिणामी नित्य जानना चाहिए।

एयद् वियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि ।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ।। 55 गो.जी.

एक द्रव्य में त्रिकाल सम्बन्धी जितनी अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय है, उतना ही द्रव्य है। अर्थात् त्रिकालवर्ती पर्यायों को छोडकर द्रव्य कोई चीज नहीं है।

शंका :- जो नित्य है, वह अनित्य किस प्रकार हो सकता है ? नित्यता और अनित्यता में परस्पर में विरोध है।

समाधान - वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है, क्योंकि वह सत् है। यदि एक वस्तु में उन अनेक धर्मों को अपेक्षाभेद के बिना यों ही मान लिया जाये तो उनमें विरोध हो सकता है। किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से विरोधी दिखायी देने वाले धर्म भी एक स्थान पर बिना किसी विरोध के रह सकते हैं। जैसे, पिता, पुत्र, भ्राता, जमाता आदि लौकिक सम्बन्ध परस्पर में विरोधी प्रतीत होते हैं। किंतु भिन्न-भिन्न सम्बन्धिओं की अपेक्षा से यह सभी सम्बन्ध एक ही मनुष्य में पाये जाते हैं। एक ही मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपनी पुत्री की अपेक्षा से पिता है, अपने भाई की अपेक्षा से भ्राता है और अपने श्वसुर की अपेक्षा से जमाता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य, द्रव्य रूप से नित्य है, क्योंकि द्रव्य का नाश कभी भी नहीं होता। किंतु प्रति-समय उसमें परिणमन होता रहता है, जो पर्याय एक समय में होती है, वही पर्याय दूसरे समय में नहीं होती, जो पर्याय दूसरे समय में होती है वह तीसरे समय में नहीं होती है, अत: पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। पर्याय दो प्रकार की होती हैं, एक व्यञ्जन पर्याय और दूसरी अर्थ पर्याय। इन दोनों प्रकारों के भी दो-दो भेद होते हैं- स्वभाव और विभाव। जीव की नर, नारक आदि पर्याय विभाव व्यञ्जन पर्याय है, और पुद्गल की शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, धूप, चाँदनी वगैरह पर्याय विभाव व्यञ्जन पर्याय है। प्रदेशत्व गुण के विकार को व्यञ्जन पर्याय और अन्य शेष गुणों के विकार को अर्थ पर्याय कहते हैं। तथा जो पर्याय पर सम्बन्ध के निमित्त से होती है उसे विभाव, तथा जो पर सम्बन्ध के निमित्त बिना स्वभाव से ही होती है उसे स्वभाव पर्याय कहते हैं। हम चर्म चक्षुओं से जो कुछ देखते हैं, वह सब विभाव व्यञ्जन पर्याय है। सारांश यह है कि द्रव्यों के समूह का ही नाम लोक है। द्रव्य नित्य है, अत: लोक भी नित्य है। द्रव्य परिणामी है, अत: लोक भी परिणामी है।

स्थावर और त्रस लोक

एइंदिएहिं भरिदो पञ्च-पयारेहिं सव्वदो लोओ।
तस-णाडीए वि तसा ण बहिरा होंति सव्वत्थ॥ 122

यह लोक पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों से सर्वत्र भरा हुआ है किंतु त्रस जीव त्रसनाली में ही होते हैं, उसके बाहर सर्वत्र नहीं होते। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव 343 घन राजू प्रमाण सभी लोक में भरे हुए हैं। किंतु त्रस अर्थात् दो इंद्रिय, तेइंदिय, चौइंदिय, और पञ्चेद्रिय जीव त्रस नाली में ही पायें जाते हैं। उदूखल (कोशकारों ने उदूखल का अर्थ ओखली और जूगुल वृक्ष किया है। यहाँ वृक्ष लेना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि त्रिलोक प्रज्ञप्ति तथा त्रिलोकसार में त्रसनाली की उपमा वृक्ष के सार अर्थात् छाल वगैरह के मध्य में रहने वाली लकडी से दी है) के बीच में छेद करके उसमें रखी हुई बाँस की नली के समान

लोक के मध्य में चौकोर त्रसनाली है। उसी में त्रस जीव रहते हैं। (उपपाद और मारणान्तिक समुद्धात के सिवाय त्रस जीव उससे बाहर नहीं रहते हैं।)

उववादमारणंतिय परिणदतसमुज्झिऊण सेस तसा।
तसणालिबाहिरम्हि य णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ 192 गो. जीव.

त्रसनाली से बाहर का कोई एकेन्द्रिय जीव त्रस नाम कर्म का बंध करके मृत्यु के पश्चात् त्रसनाली में जन्म लेने के लिए गमन करता है, तब उसके त्रसनाम कर्म का उदय होने के कारण उपपाद की अपेक्षा से त्रसजीव त्रसनाली के बाहर पाया जाता है। तथा जब कोई त्रसजीव त्रसनाली के बाहर एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म लेने से पहले मारणान्तिक समुद्धात करता है, तब त्रसपर्याय में होते हुए भी उसके आत्मा के प्रदेश त्रसनाली के बाहर पाये जाते हैं। 'ण बाहिरा होंति सव्वत्थ' के स्थान पर 'ण बादरा होंति सव्वत्थ' ऐसा भी पाठ है इसका **अर्थ होता है कि बादर जीव अर्थात् स्थूल पृथ्वीकायिक वगैरह एकेन्द्रिय जीव तथा त्रसजीव सर्व लोक में नहीं रहते हैं। क्योंकि जीवकाण्ड में लिखा है- 'स्थूलजीव आधार से ही रहते हैं' (आधारो थूलाओ)**

शंका :- क्या त्रसनाली में सर्वत्र त्रस जीव रहते हैं ?

समाधान:- त्रसनाली में त्रसजीव रहते हैं, यह सामान्य कथन है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में इसका विशेष कथन किया है।

लोय बहुमज्झदेसे तरुम्मिसारं व रज्जूपदरजुदा।
तेस्स रज्जूस्सेहा किंचूणा होदि तसणाली॥ 6 द्वि. अधि. त्रिलोकप्रज्ञप्ति

''वृक्ष में उसके सारकी तरह, लोक के ठीक मध्य में एक राजू लम्बी, एक राजू चौडी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है।''

शंका :- त्रसनाली को कुछ कम तेरह राजू ऊँची कैसे कहा है ?

समाधान :- सातवी महातम: प्रभा नाम की पृथ्वी आठ हजार योजन मोटी है। (देखो त्रिलोकसार गाथा 174 की टीका) उसके ठीक मध्य में नारकियों के श्रेणीबद्ध बिल बने हुए हैं। उन बिलोंकी मोटाइ $4/3$ योजन है। इस मोटाई को समच्छेद करके पृथिवी की मोटाई में से घटाने से 2400/3 -3/4=23996/3 योजन शेष बचता है। इसका आधा 11998 /3 योजन होता है। भाग देने पर 3999 $1/3$ योजन आते हैं। इतने योजन के 31994666 $2/3$ धनुष होते हैं। यह तो नीचे की गणना हुई। अब ऊपर की लीजिए। सर्वार्थसिद्धि विमान से ऊपर 12 योजन पर ईषत्प्राग्भार नाम की आठवी पृथ्वी है। जो आठ योजन मोटी है। इसके नीचे नित्य निगोदिया के एक राजू और इन सब को घटाने पर त्रसनाली कुछ कम तेरह राजू होती है।

तिहुवणमुद्वारुढा ईसिपभारा धरट्ठमी रूंदा ।
दिग्धा इगिसगरज्जू अडजोय णपरिमदवाहल्ला ।। 556

तीनों लोकों के मस्तक पर आरुढ ईषत्प्राग्भार नाम की आठवी पृथ्वी है। उसकी चौडाई एक राजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई आठ योजन है। 12 योजन के 96000 धनुष होते हैं और आठवी पृथ्वी के आठ योजन के 64000 धनुष होते हैं।

कोसाणं दुगमेक्कं च देसूणेक्कं च लोय सिहरम्मि।
ऊणधणूणपमाणं पणुवीसज्झहिय चारियसं ।। 126 त्रि. सा.

लोक के शिखर पर तीनों वातवलयों का बाहुल्य दो कोस, एक कोस, और कुछ कम एक कोस है। कुछ कम का प्रमाण 425 धनुष है। अत: तीनों वातवलयों का बाहुल्य 4000+2000+1575 = 7575 धनुष होता है। क्योंकि एक कोस के 2000 धनुष होते हैं। उसके ऊपर तीनों वातवलयों की मोटाई 7575 धनुष है। इन सब धनुषों का जोड $32162241^{2}/_{3}$ धनुष होता है।

निगोदिया जीव :- त्रसनाली में नरक के नीचे एक राजू प्रमाण में नित्य निगोदिया जीव होते हैं। नित्य निगोदिया उसे कहते हैं जो भाव की प्रचुर मलिनता के कारण अभी तक द्वीन्द्रियादि त्रस पर्याय को प्राप्त नहीं किया है। भविष्य में वे भाव की निर्मलता से द्वीन्द्रियादि त्रस पर्यायों को प्राप्त करके क्रम विकास करते हुए मानव से महामानव एवं भगवान् भी हो सकते हैं। निगोदिया जीव अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। एक ही निगोदिया शरीर में अनंत निगोदिया जीव निवास करते हैं। वे एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण करते हैं। उनका जन्म-मरण, श्वास, भोजन-शरीरादि समान होने से उन्हें साधारण जीव कहते हैं। वैसे निगोदिया जीव त्रसनाली में अन्यत्र भी रहते हैं।

3) *काल संसार*

उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरम-समंयतं।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु ।।69

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय पर्यन्त सब समयों में यह जीव क्रमश: जन्म लेता और मरता है। कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया फिर भ्रमण करके दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर भ्रमण करके तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। यही क्रम अवसर्पिणी काल के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इस क्रम से उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के बीस कोडा-कोडी सागर के जितने समय हैं, उनमें उत्पन्न हुआ, तथा इसी क्रम से मरण को प्राप्त

हुआ। अर्थात् उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरा, फिर दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरा। इसे कालपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी है-**''काल संसार में भ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा।''**(श्वेताम्बर साहित्य में कालपरावर्तन के भी दो भेद हैं। जितने समय में एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयों में क्रम या बिना क्रम के मरण कर चुकता है, उतने काल को बादरकालपरावर्तन कहते हैं। सूक्ष्म काल परावर्तन दिगम्बर काल परिवर्तन के जैसा ही है।)

काल परिवर्तन

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि।।1771भ. आ.

यह जीव अतीत काल में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनन्त बार उत्पन्न हुआ और अनन्त बार मरा। उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयु के समाप्त होने पर मरा। वही पुन: जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मरा। वह जीव पुन: तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस क्रम से उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रम से अवसर्पिणी समाप्त की। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में क्रम से जन्मा। तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सब समयों में मरा भी। इसको काल परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है-

उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलिगासु णिरवसेसासु।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे।। बा. अणु.27

काल-संसार में भ्रमण करने से यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा।

4) *भाव संसार* -(वैश्विक परतंत्रता या अनन्त परिवर्तन के मूल कारण)

परिणमदि सण्णि-जीवो विवह-कसाएहिं ठिदि-णिमित्तेहिं।
अणुभाग-णिमित्तेहि य वट्टंतो भाव-संसारे।।71 का. अ. पृ.35

सैनी जीव जघन्य आदि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के कारण तथा अनुभागबन्ध के कारण अनेक प्रकार की कषायों से, तथा 'च' शब्द से श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योग स्थानों से वर्धमान भाव संसार में परिणमन करता है।

योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थितिस्थान, इन चार के निमित्त से भावपरिवर्तन होता है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध के

कारण आत्मा के प्रदेशपरिस्पन्दरूप योग के तारतम्यरूप स्थानों को योगस्थान कहते हैं। अनुभाग बन्ध के कारण कषाय के तारतम्यरूपी स्थानों को अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबन्ध के कारण कषाय के तारतम्य स्थानों को कषायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। बँधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थितिस्थान कहते हैं। योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवे भाग प्रमाण है। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं। तथा कषायाध्यवसायस्थान भी असंख्यातलोक प्रमाण हैं। मिथ्यादृष्टि, पञ्चेन्द्रिय, सैनी, पर्याप्त कोई जीव ज्ञानावरणकर्म की अन्त:कोडाकोडी सागर प्रमाण जघन्यस्थिति को बाँधता है। उस जीव के स्थिति के योग्य जघन्य कषायस्थान, जघन्य अनुभागस्थान और जघन्य ही योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभाग० स्थानों को प्राप्त जीव के दूसरा योगस्थान होता है। जब सब योग स्थानों को समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय०स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग० स्थान होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त प्रकार ही जानना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग० स्थान के साथ सब योग्यस्थानों को समाप्त करता है। अनुभाग० स्थानों के समाप्त होने पर, उसी स्थिति को प्राप्त जीव के दूसरा कषाय० स्थान होता है। इस कषाय० स्थान के अनुभाग० स्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिये। इस प्रकार सब कषाय० स्थानों की समाप्ति तक अनुभाग० स्थान और योगस्थानों की समाप्ति का क्रम जानना चाहिये। कषाय० स्थानों के भी समाप्त होने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अन्त:कोडाकोडीसागर प्रमाण स्थिति बाँधता है। उसके भी कषाय० स्थान, अनुभागस्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिए। इस प्रकार एक-एक समय बढाते-बढाते समय उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के कषाय० स्थान, अनुभाग०स्थान और योगस्थानों का क्रम जानना चाहिए। इसी प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियों में समझना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक उत्तर प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषाय० स्थानों, अनुभाग०स्थानों और योगस्थानों को पहले की ही तरह लगा लेना चाहिये । इस प्रकार सब कर्मों की स्थितियों को भोगने को भावपरिवर्तन कहते हैं। इन परिवर्तनों को पूर्ण करने में जितना काल लगता है, उतना काल भी परावर्तन के नाम से कहा जाता है। जिस प्रकार विद्युत् चलित यन्त्र यथा पंखा, गाडी, कम्प्यूटर आदि विद्युत् से उर्जस्वित (शक्ति प्राप्त करके)गति करते हैं, क्रिया करते हैं, उसी प्रकार जीव भी विभिन्न गतियों में, अवस्थाओं में भाव रूपी ऊर्जा से ऊर्जावान होकर (आवेषित होकर) परिवर्तन करता है। इसीलिए ही कहा गया है**''जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'' ''जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि'' ''यथा मति तथा गति'' ''As**

you think, so you become '' ''जैसा विचार वैसा आचार'' '' जई मई तई गई होई '' ''यथा भाव तथा भव''। इस भाव, परिवर्तन अर्थात् वैभाविक भाव दूषित परिणाम के कारण ही जीव जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्म तथा औदारिक आदि नो कर्म को जीव बाँधता है उसके फलस्वरूप जीव को (1) द्रव्य संसार (2) क्षेत्र संसार (3) काल संसार (4) भव संसार में परिभ्रमण करना पडता है। **यह ही यथार्थ से जीवों की वैश्विक सार्वभौम परतंत्रता है।**

भाव-संसार का विस्तार

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स॥1774भ. आ.

लोकाकाश के प्रदेशों को असंख्यात से गुणा करने पर जितनी राशि होती है उतने ही इस जीव के अध्यवसाय स्थान होते हैं। इन असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावों में जीव के परावर्तन को भाव संसार कहते हैं।

1) *ज्ञानावरणी की परतंत्रता*

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल विमेलणाच्छण्णो।
अण्णाणं मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं॥65 समयसार

मैल के विशेष सम्बध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतु भूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से (ज्ञानावरण कर्म से)दबकर नष्ट हो जाता है। जैसे-दर्पण के ऊपर धूली लगने से दर्पण की स्वच्छता छिप जाती है या सूर्य सम्मुख बादल आने पर सूर्य की रश्मि छिप जाती है, भगवान् के सामने वस्त्र रहने पर भगवान् का रूप ढक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को ढक देता है।

2) *दर्शनावरणी की परतंत्रता*

सामान्य सत्ता अवलोकन अन्त: चेतना रूपी प्रकाश को आवरण करने वाला दर्शनावरणीय कर्म हैं। जैस-द्वारपाल, राजा, मंत्री आदि मालिक को देखने नहीं देता है अर्थात् देखने के लिए रोक देता है। उसी प्रकार यह कर्म वस्तु का सामान्य अवलोकन रूप दर्शन नहीं होने देता है।

3) *वेदनीय की परतंत्रता*

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं।
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं॥14 गो. कर्मकाण्ड

इन्द्रियों को अपने-अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें दु:ख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है। उस सुख-दु:ख का अनुभव जो करावे वह

वेदनीय कर्म है। जो कर्म वेदन किया जाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इस अपेक्षा सभी कर्म वेदन किए जाते हैं इसलिए सभी कर्म वेदनीय होने पर भी विशेष रूप से संसारी जीव सुख-दु:ख का अधिक रूप से वेदन करता है इसलिए सुख-दु:ख को देने वाले कर्म को 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। दूसरी बात यह है कि, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म के भेद जो राग-द्वेष हैं उनके उदय के बल से ही घातिया कर्मों की तरह जीवों का घात करता है। अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में रति (प्रीति)और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख और दु:ख स्वरूप साता और असाता का अनुभव करके जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता, पर स्वरूप में लीन करता है।

4) *मोहनीय कर्म की परतंत्रता*

जो जीव को मोहित करे वह 'मोहनीय कर्म' है। इस तरह मोहनीय कर्म सामान्य से एक होते हुए भी विशेष अवस्था में इसके दो भेद हैं। जो दर्शन गुण को मोहित करके विपरीत करे वह दर्शन मोहनीय है। जो चारित्र गुण को मोहित करके विपरीत करे वह चारित्र मोहनीय है।

A) *दर्शन मोहनीय*

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छतं जिणवरेहिं परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्तिणादव्वो ॥68 समयसार

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है।

मिच्छतं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसंजहा जरिदो ॥17

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु, अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसंद नहीं करता। इसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे-पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसंद नहीं करता। उसी तरह मिथ्या दृष्टि को धर्म नहीं रुचता।

मिच्छाइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥18

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अरिहन्त आदि के द्वारा कहे गए 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रूप से जो

कहा जाता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा कहा है,वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरुक्तियों से 'प्रवचन' शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त, आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

B) *चारित्र मोहनीय*

चारित्र पडिणिबध्दं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥170

चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया है।

5) *आयु कर्म की परतंत्रता*

एत्यनेन गच्छति नारकादिभवमित्यायु:।

जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि पर्यायों को प्राप्त होता है, नरकादि भवों में वास करता है, उसे आयु कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव लोहे की सांकल वा काठ के यंत्र के समान है। जैसे साकल अथवा काठ का यंत्र, पुरुष को अपने स्थानों में ही स्थित रखता है दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसी प्रकार आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्याय में स्थित (मौजूद) रखता है, दूसरी जगह नहीं जाने देता।

6) *नाम कर्म की परतंत्रता*

गदिआदि जीव भेदं पोग्गलाण भेदं च।
गदियंतरपरिणमनं करेदि णामं अणेयविहं ॥12

नाम कर्म गति अनेक तरह का है। वह नारकी वगैरह जीव की पर्याय के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गति रूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया करता है। नाम कर्म के कारण ही विभिन्न प्रकार वैचित्र्य पूर्ण शरीर के अवयव, इन्द्रियों, शरीर के आकार-प्रकार आदियों का निर्माण होता है, शुभ नाम कर्म के उदय सुन्दर प्रशस्त शरीर आदि की उपलब्धि होती है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से असुन्दर हीनाङ्ग-अधिकाङ्ग या विकलाङ्ग सहित शरीर की प्राप्ति होती है।

7) *गोत्र कर्म की परतंत्रता*

संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं नीचं हवे गोदं ॥13

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा

हैं, अर्थात् उसे गोत्र कहते हैं। उसका कुल परम्परा में ऊँचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, यदि निंद्य आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहा जाता है। जैसे- एक कहावत है कि- शियाल का एक बच्चा बचपन से सिंहनी ने पाला। वह सिंह के बच्चों के साथ ही खेला करता था। एक दिन खेलते हुए वे सभी बच्चे एक जगह में गये। वहाँ उन्होंने हाथियों का समूह देखा। देखकर जो सिंहनी के बच्चे थे वे तो हाथी के सामने हुए लेकिन वह शियाल जिसमें कि अपने कुल का डरपोक पने का संस्कार था हाथी को देखकर भागने लगा। तब वे सिंह के बच्चे भी अपना बडा भाई समझ उसके पीछे लौटकर माता के पास आये, और उस शियाल की शिकायत की कि इसने हमें शिकार से रोका। तब सिंहनी ने उस सियाल के बच्चे से एक श्लोक कहा- जिसका मतलब यह है कि अब हे बेटा! तू यहाँ से भाग जा नहीं तो जान नहीं बचेगी।''**शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रकः! यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते।** अर्थात् हे पुत्र! तू शूर-वीर है, विद्यावान है, देखने योग्य है, परन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते।

8) *अंतराय कर्म की परतंत्रता*

बहियोगो वा यस्मिन् मध्येऽवास्थिते दात्रादीनां दानादिक्रियाऽभावः दानादीच्छाया बहिर्भावो वा सोऽन्तरायः।

दाता और पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे वा जिस कर्म के उदय से दात्रा और पात्र के मध्य में अंतर डाले उसे अंतराय कहते हैं अथवा, जिसके रहने पर दाता आदि-दानादि क्रियाएँ नहीं कर सके, दानादि की इच्छा से पराङ्मुख हो जावें, वह अतंराय कर्म है।

हिंसादि पंच-पापों की परतंत्रता

हिंसा पाप का कारण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा (13)

प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है। अनवगृहीत प्रचार विशेष को प्रमत्त कहते हैं। इन्द्रियों के प्रचार विशेष का निश्चय न करके जो प्रवृत्ति होती है व बिना विचारे जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रमत्त है। जैसे सुरा (मदिरा) पीने वाला मदोन्मत्त होकर कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य से अनभिज्ञ रहता है, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य को नहीं जानता है उसी प्रमत्त वाला जीवस्थान, जीवोत्पत्तिस्थान और जीवाश्रयस्थान को नहीं जानने वाला अविद्वान् (मूर्ख प्राणी) कषाय के उदय से आविष्ट होकर हिंसा के कारणों में व्यापार करता है, उनमें स्थित रहता है परन्तु सामान्यतया अहिंसा में प्रयत्नशील नहीं होता है। अतः मदोन्मत्त के समान होने से प्रमत्त कहलाता है। (इसमें 'मदोन्मत्त इव'अर्थ गर्भित) है।

अथवा पन्द्रह प्रमाद से परिणत होने से भी प्रमत्त कहलाता है। चार विकथा, चार

कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादों से जो परिणत (युक्त होता है वह प्रमत्त कहलाता है।)काय वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। प्रमत्त प्रमाद परिणत व्यक्ति को योग को प्रमत्त योग कहते है। '**प्रमत्तयोगात्**' यह हेतु अर्थ में पंचमी है अतः प्रमत्तयोग के कारण प्राणों का व्याघात करना हिंसा है, इसमें प्रमत्त योग कारण है (भाव हिंसा है) और प्राण का व्याघात कार्य (द्रव्य हिंसा) है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में हिंसा का व्यापक स्वरूप का अनूठा वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

हिंसा का व्यापक स्वरूप

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥ 42 पु. सि.

आत्मा के परिणामों की हिंसा होने के कारण से यह सब ही हिंसा है; असत्य वचनादि केवल शिष्यों को बोध करने के लिये कहे गये हैं।

हिंसा का लक्षण

यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥43

निश्चय करके कषाय सहित योगों से द्रव्य और भाव रूप प्राणों का जो नष्ट करना है वह निश्चित रूप से हिंसा होती है।

अहिंसा और हिंसा का लक्षण

अप्रादुभार्वतः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्वोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्स संक्षेपः॥44

निश्चय करके रागादिक भावों का उदय में नहीं आना अहिंसा कहलाती है, उसी प्रकार एवं उन्हीं रागादिक भावों की उत्पत्ति का होना हिंसा है इस प्रकार जिनागम का अर्थात् जैन सिद्धान्त का सारभूत रहस्य है।

वीतरागी को हिंसा नहीं लगती

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥45

योग्य आचरण वाले अर्थात् यत्नाचार पूर्वक सावधानी से कार्य करने वाले सज्जन पुरुष को रागादि रूप परिणामों के उदय हुए बिना प्राणों का घात होने मात्र से कभी निश्चय करके हिंसा नहीं लगती है।

सरागी को बिना प्राण घात के भी हिंसा लगती है

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।

म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।46

रागादिकों के वश में प्रवर्तित प्रमाद अवस्था में जीव मर जाय अथवा नहीं मरे नियम से हिंसा आगे दौडती है। इसमें हेतु-

यस्मात्सकषाय: सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं।

पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु।।47

क्योंकि आत्म कषाय सहित होता हुआ पहले अपने ही द्वारा अपने आप को मार डालता है, पीछे दूसरे जीवों को हिंसा हो अथवा नहीं हो।

प्रमादयोग में नियम से हिंसा

हिंसायामविरणं हिंसापरिणमनमपि भवति-हिंसा।

तस्मात्प्रमत्तयोग प्राणव्यपरोपणं नित्यं।।48

हिंसा में विरक्त न होना तथा हिंसा में परिणमनकरना हिंसा कहलाती है इसलिए प्रमाद योग में नियम से प्राणों का घात होता है।

प्रमाद का लक्षण (I)

शुद्धयष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे।

योऽनुत्साह: स सर्वज्ञै प्रमाद: परिकीर्तित:।।10 तत्वार्थसार

आठ शुद्धि तथा क्षमा आदि दश लक्षणों से युक्त धर्म के विषय में जो अनुत्साह है वह सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा प्रमाद कहा गया है। भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयानासन, प्रतिष्ठापन और वाक्य के भेद उसे शुद्धि के आठ भेद हैं। तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य के भेद से धर्म के दश भेद हैं। इन आठ प्रकार की शुद्धियों तथा दश प्रकार के धर्मों में उत्साह न होना प्रमाद कहलाता है।

प्रमाद का लक्षण (II)

विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो य।

चदु-चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा।।34 गो. जी पृ. सं. 34

चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह)ये पन्द्रह प्रमाद हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की परिभाषाओं में कुछ अन्तर परिलक्षित होता है। वस्तुत: यह अन्तर वर्णन पद्धति या नाम भेद के कारण है तथापि दोनों परिभाषा का अन्तरङ्ग उद्देश्य एक ही है। यथा- चारविकथा, चार कषाय आदि से आवेशित/प्रभावित जीव ही आठ शुद्धि तथा उत्तम क्षमादि दस धर्मों को सही रूप में पालन नहीं करता है। या

पालन करने में असमर्थ होता है। अन्तरङ्ग विकथा आदि प्रमाद के कारण हैं तो आठ शुद्धि आदि को पालन करने में अनुत्साह होना कार्य है। अर्थात् जीव कषाय आदि से विवश होकर, परतन्त्र होकर क्षमादि धर्मों को पालन नहीं कर पाता है परन्तु अक्षमादि वैभाविक भाव करता है।

असत्य का कारण (लक्षण)

असदभिधानमनृतम्। (14) स्व.के सूत्र पृ.स.-422

प्रमत्त योग असत् बोलना अनृत है।

यदिदं प्रमादयोगादसर्दाभधानं विधीयते किमपि।

तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदा: सन्ति चत्वार:।(91)

जो कुछ प्रमाद कषाय के योग से यह स्व-पर को हानिकारक अथवा अन्यथा रूप वचन कहने में आता है उसे निश्चय से असत्य जानना चाहिये। उसके भेद चार हैं।

असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्त योगैकहेतुकथनं यत्।

अनृतवचनेपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति। (99)

चूँकि इन सभी वचनों में प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है इसलिये असत्य वचन में भी हिंसा निश्चित रूप से आती है।

प्रमाद सहित योग हिंसा का कारण

हेतौ प्रमत्तयोगे निदिष्टे सकलवितवचनानाम्।

हेयानुष्ठानादेसुवदनं भवति नासत्यम्।।100

समस्त झूठ वचनों का प्रमाद सहित योग हेतु निर्दिष्ट करने में आया होने से हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों कहना झूठ नहीं है।

स्तेय-चोरी का कारण

अदत्तादानं स्तेयम्। (15)

बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय हैं।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।

तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।।102

जो प्रमाद के योग से बिना दिए हुए परिग्रह का ग्रहण करना है वह चोरी जानना चाहिए और वही हिंसा का कारण होने से हिंसा है।

हिंसाया: स्तेयस्य च नाव्याप्ति: सुघट एव सा यस्मात्।

ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृत स्यान्यै:।।104

हिंसा की और चोरी की अव्याप्ति नहीं है क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकार की गई द्रव्य के ग्रहण करने में प्रमादयोग अच्छी तरह घटता है इसलिये हिंसा वहाँ होती है ।

कुशील का कारण

मैथुनमब्रह्म Unchastity is coition or sexual contact, through Pramattayoga.

मैथुन अब्रह्म है:- मिथुन (दो) के कर्म वा भाव को मैथुन कहते हैं। स्त्री-पुरुष के परस्पर शरीर के स्पर्श करने में जो राग परिणाम है वही मैथुन है, अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर स्त्री और पुरुष के परस्पर शरीर का सम्मिलन होने से सुख-प्राप्ति की इच्छा से होने वाला जो रागपरिणाम है, वह मैथुन कहलाता है। **' प्रमत्तयोगात्'** सूत्र में कथित प्रमत्त योग की अनुवृत्ति चली आ रही है, अत: चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से प्रमत्त हुए मिथुन के कर्म को मैथुन कहते हैं। नमस्कारादि क्रिया में प्रमत्तयोग तथा चारित्रमोह कर्म के उदय का अभाव होने से वन्दनादि मैथुन कर्म (दो मिलकर वन्दना, स्वाध्याय आदि क्रिया) होने पर भी वह क्रिया मैथुन नहीं कही जा सकती।

यद्वेदयरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरित तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥107

पुंरुषवेद और स्त्रीवेद रूप रागपरिणाम के सम्बन्ध से जो स्त्री पुरुषों की कामचेष्टा होती है उसको अब्रह्म कहते हैं। वहाँ सब अवस्थाओं में जीवों का वध होने से हिंसा घटित होती है।

मैथुन में हिंसा

हिंस्यते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवो योनौ हिंस्यंते मैथुने तद्वत्॥108

जिस प्रकार तिलनाली में तपाये हुए लोहे के छोडने पर तिल पीडे जाते हैं- भुन जाते हैं उसी प्रकार योनी में मैथुन करते समय अनेक जीव मारे जाते हैं।

अंनग मरण निषेध

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनगरमरणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्॥109

जो भी कुछ काम के प्रकोप से अंनग क्रीडन आदि किया जाता है वहाँ पर भी रागादि की उत्पत्ति प्रधान होने से हिंसा होती है।

परिग्रह पाप का कारण

मूर्च्छा परिग्रह

Worldly attachment is (मूर्च्छा)Murchha, infatuation or intoxication through Pramattayoga, in the living or non & living objaects of the world.

मूर्च्छा परिग्रह है -बाह्याभ्यन्तर उपधि (परिग्रह) के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह और रागद्वेषादि आभ्यन्तर परिग्रह के संरक्षण, अर्जन, संस्कारादि लक्षण व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। क्योंकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है। अर्थात् 'यह मेरा है। इस प्रकार का संकल्परूप आध्यात्मिक परिग्रह है, वही प्रधानभूत है। अत: मूर्च्छा से मुख्यतया आभ्यन्तर परिग्रह का ग्रहण किया जाता है। उस आभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण करने पर आभ्यन्तर परिग्रहण के कारणभूत गौण रूप बाह्य परिग्रह का ग्रहण तो हो ही जाता है।

मूर्च्छा का कारण होने से बाह्य पदार्थ के भी मूर्च्छा व्यपदेश होता है। जैसे- '' **अन्न ही प्राण है**'' इस प्रकार प्राणों की स्थिति में कारण भूत अन्न में प्राणों का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छा का कारण (ममत्व का कारण) होने से बाह्य परिग्रह को भी मूर्च्छा कह देते हैं। अर्थात् कारण में कार्य का उपचार किया जाता है।

प्रमत्तयों का अधिकार होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र में होने वाला ममत्व भाव परिग्रह नहीं है क्योंकि निष्प्रमादी ज्ञान, दर्शन और चरित्रवान् व्यक्ति के मोह का अभाव है। अत: निष्प्रमादी व्यक्ति के चरित्र का ममत्व मूर्च्छा नहीं है और उसके निष्परिग्रहत्व सिद्ध होता है। अथवा ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं, ग्रहणीय हैं। अत: वे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि परिग्रह हो ही नहीं सकते। उनमें तो अपरिग्रहत्व है। रागादि तो कर्मोदयजन्य हैं, अनात्म-स्वभाव हैं और हेय हैं। इसलिये इनमें होने वाला 'ममेद' संकल्प परिग्रह है अर्थात् रागादि को परिग्रह कहते हैं।

परिग्रह ही सर्व दोषों का मूल कारण है। यह परिग्रह ही समस्त दोषों का मूल है। ' यह मेरा है' ऐसा संकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसा आवश्यंभाविनी है, उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में भी प्रयत्न करता है, अर्थात्-परिग्रहाभिलाषी व्यक्ति सर्व कुकर्म करता है। इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरकादि में अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है, इस लोक में भी निरन्तर दु:ख रूपी महासमुद्र में अवगाहना करता है अर्थात् सैकडों दु:ख भोगता है। पुरूषार्थसिद्ध्युपाय में भी परिग्रह का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है-

या मूर्छा नामोयं विज्ञातव्य: परिग्रहो ह्येष:।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्व परिणाम: ॥111

जो यह मूर्च्छा है यह परिग्रह जाननी चाहिए तथा मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ ममता रूप परिणाम मूर्च्छा कहलाता है।

मूर्च्छा और परिग्रह की व्याप्ति

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्ति: परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्य: ॥112

परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण करने से दोनों प्रकार-बहिरंग और अन्तरंग परिग्रह की व्याप्ति अच्छी तरह घट जाती है बाकी सब परिग्रहों से रहित भी निश्चय करके मूर्च्छा वाला परिग्रह वाला है।

बाह्य परिग्रह में परिग्रहपना है या नहीं

यद्येवं भवति तथा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंग:।
भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वं ॥113

यदि इस प्रकार है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही किया जाता है उस अवस्था में निश्चय से कोई भी बहिरंग परिग्रह नहीं ठहरता है। इस आशंका के उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि बाह्य परिग्रह भी परिग्रह कहलाता है क्योंकि यह बाह्य परिग्रह सदा मूर्च्छा का निमित्त कारण होने से अर्थात् यह मेरा है ऐसा ममत्व परिणाम बाह्य परिग्रह में होता है इसलिये वह भी मूर्च्छा के निमित्तपने को धारण करता है।

परिग्रह में हिंसा

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसातंरंग संगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वं ॥119

अन्तरंग परिग्रहों में हिंसा के पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है बहिरंग परिग्रहों में तो नियम से मूर्च्छा ही हिंसापने को सिद्ध करती है।

कषाय रूपी परतंत्रता

कषाय की परिभाषा एवं कार्य

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेतं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ॥272

गो. जीव भाग-1 पृ.सं.473

जिस कारण से संसारी जीव के ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेद से भिन्न-शुभ-अशुभ कर्म रूप क्षेत्र को अर्थात् धान पैदा होने की भूमि को यह

कृषति अर्थात् जोतती है; इस कारण से इन क्रोधादिरूप जीव परिणाम को श्री वर्धमान भट्टारक के गौतम गणधर आदि देव कषाय कहते हैं। अत: कषाय प्राभृत आदि में गणधर रचित सूत्र के अनुसार जैसा कषाय का स्वरूप, संख्या, शक्ति, फल आदि कहा है, वैसा ही मैं कहूँगा। इस प्रकार ग्रन्थकार ने स्वरुचि विरचितपने का परिहार किया है। जैसे खेत में बहुत प्रकार के धान्य उत्पन्न होते हैं, वैसे ही कर्म रूपी खेत में इन्द्रियों के विष्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले हर्ष तथा शारीरिक मानसिक संताप रूप बहुत प्रकार सुख-दु:ख उत्पन्न होते हैं। जैसे खेत के मेड होती है, वैसे ही कर्मरूपी खेत अनादि अनिधन पंच परावर्तन रूप सीमा से अनुबद्ध है। यहाँ जीव के मिथ्यादर्शनादि संक्लेश परिणाम रूप बीज को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश बन्धरूप कर्म क्षेत्र में बोकर जीव का क्रोधादि कषाय नामक नौकर काल आदि सामग्री की प्राप्ति से उत्पन्न सुख-दु:ख रूप अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करता है। अत: 'कृषि विलेखने' धातु का जोतना अर्थ लेकर आचार्य ने निरुक्तिपूर्वक 'कषाय' शब्द का अर्थ कहा है; ऐसा तात्पर्य जानना।

सम्मत्तदेससयलचरितजहक्खाद-चरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउसोल असंखलोगमिदा ॥273

अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, अणुव्रत रूप देश चारित्र, महाव्रतरूप सकल चारित्र और यथाख्यातचारित्र रूप आत्मा के विशुद्धि परिणामों को 'कषति' अर्थात् घातते हैं इसलिए कषाय कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण-अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को घातती है, क्योंकि अनन्त संसार का कारण होने से अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व या अनन्त भव के संस्कार काल को 'अनुबध्नन्ति' बाँधती है, इसलिए उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं; इस निरुक्ति के बलपर उक्त कथन सिद्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय अणुव्रत परिणामों को घातती है। अप्रत्याख्यान अर्थात् ईषत् प्रत्याख्यान यानी अणुव्रत को आवृण्वन्ति अर्थात् घातती है; इस निरुक्ति से सिद्ध होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय सकल चरित्ररूप महाव्रत परिणामों को घातती है। प्रत्याख्यान अर्थात् सकल संयम को 'आवृण्वन्ति' अर्थात् घातती है, इस निरुक्ति से सिद्ध है। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र रूप परिणामों को घातती है। अर्थात् समीचीन विशुद्ध संयम यथाख्यात चारित्र को 'ज्वलन्ति' जो जलाती है वह संज्वलन है इस निरुक्ति के बल से संज्वलन कषाय के उदय में सामायिक आदि अन्य संयमों के होने में कोई विरोध नहीं है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार की कषाय सामान्य से एक है। विशेष विवक्षा में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार हैं। पुन: वे चारों भी प्रत्येक के क्रोध, मान, माया, लोभ, भेद होने से सोलह हैं। यथा, अनन्तानुबन्धी क्रोध-

मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ। पुन: सभी कषाय उदयस्थान विशेष की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण है क्योंकि उसके कारण चारित्र मोहनीय के उत्तरोतर प्रकृति भेद असंख्यात लोक मात्र हैं।

क्रोधादि की शक्ति

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥274

शिलाभेद, पृथ्वीभेद, धूली रेखा और जलरेखा के समान उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य और जघन्य शक्ति से विशिष्ट क्रोध कषाय जीव को क्रम से नरक गति तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न कराती है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है- शिला भेद के समान उत्कृष्ट शक्ति से विशिष्ट क्रोध कषाय जीव को नरकगति में उत्पन्न कराता है। पृथ्वी भेद के समान अनुत्कृष्ट शक्ति से विशिष्ट क्रोध जीव को तिर्यञ्च गति में उत्पन्न कराता है। धूल की रेखा के समान अजघन्य शक्ति से युक्त क्रोध जीव को मनुष्य गति में उत्पन्न कराता है। जल में रेखा के समान जघन्य शक्ति से युक्त क्रोध कषाय रूप परिणाम जीव उस उस गति में उत्पत्ति में कारण उस-उस आयु, गति, आनुपूर्वी आदि प्रकृतियों को बाँधता है। यहाँ गाथा में आया राजि शब्द का अर्थ रेखा लेना चाहिए पंक्ति नहीं। जैसे शिला आदि में पडी दरार अति चिरकाल, चिरकाल, शीघ्र और अतिशीघ्र कालों के बिना भरती नहीं है वैसे ही उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त क्रोध रूप परिणाम जीव भी उस प्रकार के काल के बिना क्षमा भाव धारण के योग्य नहीं होता है। इस प्रकार उपमान और उपमेय में समानता बनती है।

क्रोधादि के दुष्फल

सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥285

शैल, अस्थि, काष्ट और बेंत को अपनी उत्कृष्ट आदि शक्ति के भेदों से उपमा बनाने वाली मान कषाय क्रम से जीव को नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न करती है। उसका स्पष्टीकरण-पत्थर के स्तम्भ के समान उत्कृष्ट शक्ति से युक्त मानकषाय जीव को तिर्यञ्चगति में उत्पन्न कराती है। काष्ठ के समान अजघन्य शक्ति से युक्त मानकषाय जीव मनुष्यगति में उत्पन्न कराती है। बेंत के समान जघन्य शक्ति से युक्त मानकषाय जीव को देव गति में उत्पन्न कराती है। जैसे चिरतर आदि समय के बिना पत्थर, हड्डी, काठ, और बेंत को नमाना शक्य नहीं है। वैसे ही उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त

मानकषाय रूप परिणत जीव भी उस प्रकार के कालों के बिना मान को त्यागकर विनयरूप नमन करने में समर्थ नहीं होता है इस प्रकार समानता जानना। इसका आशय यह है कि उस-उस शक्ति से युक्त मान कषाय रूप परिणत जीव उस-उस गति में उत्पत्ति के कारण उस-उस गति, आयु और आनुपूर्वी नामकर्म का बन्ध करता है।

मायाचारी के दुष्फल

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरुप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं ॥286

बाँस की जड, मेढे के सींग, गौमूत्र तथा खुरपा के समान उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त माया जीव को यथाक्रम नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न कराती है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है- बाँस की जड के समान उत्कृष्ट शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को नरक गति में उत्पन्न कराती है। मेढे के सींग के समान अनुत्कृष्ट शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को तिर्यञ्चगति में उत्पन्न कराती है। गौमूत्र के समान अजघन्य शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को मनुष्यगति में उत्पन्न कराती है। तथा खुरपे के समान जघन्य शक्ति से युक्त माया कषाय जीव को देवगति में उत्पन्न कराती है। जैसे बाँस की जड वगैरह चिरतर आदि कालों के बिना अपने-अपने टेढेपन को छोडकर सरलता से सीधेपने को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त माया कषाय रूप परिणत जीव भी उस प्रकार के कालों के बिना अपनी वक्रता को छोडकर सरल परिणाम नहीं होता। इस प्रकार समानता योग्य है। इसका आशय यह है कि उस-उस उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त माया कषाय रूप परिणत जीव उस-उस गति में ले जाने में निमित्त उस-उस आयु, गति और आनुपूर्वी आदि कर्मों को बाँधता है।

लोभ के दुष्फल

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो ॥287

कृमिराग, चक्रमल, शरीरमल और हल्दी के रंग के समान उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त विषयों की अभिलाषा रूप लोभ कषाय क्रम से जीव को नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न कराती है; जो इस प्रकार है- कृमिराग जिससे कम्बल रंगे जाते हैं, उसके समान उत्कृष्ट शक्ति से युक्त लोभकषाय जीव को नरकगति में उत्पन्न कराती है। चक्रमल अर्थात् रथ के पहिये की औंगन के समान अनुत्कृष्ट शक्ति से युक्त लोभकषाय जीव को तिर्यञ्चगति में उत्पन्न कराती है। शरीर के बाह्य मैल के समान अजघन्य शक्ति से युक्त लोभ कषाय जीव के मनुष्यगति में उत्पन्न कराती है। हल्दी के रंग के समान

जघन्य शक्ति से युक्त लोभ कषाय जीव को देवगति में उत्पन्न कराती है। इसका भावार्थ यह है कि कृमिराग आदि के समान उस-उस उत्कृष्ट आदि शक्ति से युक्त लोभ परिणाम से परिणत जीव उस-उस नारक आदि भवों में उत्पत्ति के कारण उस-उस आयु, गति, आनुपूर्वी आदि कर्मों का बन्ध करता है।

वर्तमान का संस्कार पर भव में

णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्मि।
कोहो माया माणोलोहुदओ अणियमो वापि॥288

नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न हुए जीव के जन्म लेने के प्रथम समय में क्रम से क्रोध, मान, माया, और लोभ कषाय का उदय होता है, इस नियम का कथन कषाय प्राभृत नामक द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ के व्याख्याता आचार्य यतिवृषभ के अभिप्राय को लेकर किया है। अथवा महाकर्म प्रकृति प्राभृत नामक प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ के रचियता आचार्य भूतबली के अभिप्राय से अनियम जानना अर्थात् पूर्वोक्त नियम के बिना यथा योग्य कषाय का उदय होता है। 'अपि' शब्द समुच्चय के लिए है। इसलिए दोनों ही आचार्यों के अभिप्राय हमारे लिए विचाराधीन है ; दोनों में से किसी एक को मान्य करने के शक्ति हमारे में नहीं है, क्योंकि इस भरत क्षेत्र में केवली, श्रुतकेवली का अभाव है। तथा आरातीय आचार्यों में दोनों सिद्धान्तों के रचियिताओं से अधिक ज्ञान नहीं है। यद्यपि विदेह में जाकर तीर्थंकर आदि के निकट में कोई आचार्य समस्त श्रुत के अर्थ के विषय में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को दूर करके वस्तु का निर्णय कर सकते हैं; तथापि सिद्धान्तद्वय के कर्ताओं में जो विवाद है उसके सम्बन्ध में 'यही ठीक है'; ऐसा कौन बुद्धिशील श्रद्धान करेगा। अत: दोनों मतों का कथन किया है।

अप्पपरोभयबाधणबधासजमणिमित्तकोहादी।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा॥289

अपने, दूसरे और दोनों के बन्धन, बाधा तथा असंयम में निमित्त भूत क्रोधादि कषाय और पुरुषवेद आदि नोकषाय जिन जीवों के नहीं हैं, वे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म मल से रहित सिद्धपरमेष्ठी अकषाय-कषाय रहित हैं; ऐसा जानना। यद्यपि उपशान्त कषाय आदि चार गुणस्थानवर्ती जीव भी अकषाय तथा यथायोग्य द्रव्यमल और भावमल से रहित होते हैं, तथापि उनके गुणस्थान प्ररूपणा से ही अकषायत्व की सिद्धि जानना किसी जीव की क्रोधदि कषाय अपने ही बन्धन में हेतु होती है, अपने सिर फोडने आदि बाधा में हेतु होती है तथा हिंसा आदि के बन्धन, बाधा तथा असंयम में हेतु होती है। किसी कामी आदि जीव की क्रोधादि कषाय यथा सम्भव अपने और दूसरों के बन्धन, बाधन और असंयम में हेतु होती है। इस प्रकार का विभाग लोकानुसार और आगमानुसार करना।

वैभाविक चेतना की परतंत्रता

ज्ञान, कर्म एवं कर्मफल चेतना

परिणमदि चेदणाए, आदा पुण चेदणा तिथाभिमदा।
सा पुण णाणो कम्मे, फलाम्मि वा कम्मणो भणिदा॥123

हर एक आत्मा चेतना से परिणमन करता रहता है। अर्थात् जो कोई आत्मा का शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतना को नहीं छोडता है वह चेतना जब ज्ञान को विषय करती है अर्थात् ज्ञान की परिणति में वर्तन करती है तब उसको चेतना ज्ञान कहते हैं। जब वह चेतना किसी कर्म के करने में उपर्युक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मों के फल की तरह परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफल चेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकार की होती है।

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्म चेतना।
चेतनत्वाफलस्यास्य स्यातकर्मफल चेतना॥195

अशुद्ध चेतना दो प्रकार की है। एक कर्म चेतना, दूसरी कर्म फल चेतना। कर्मफल चेतना में फल भोगने की मुख्यता है। सामान्यतया जीव की जो अनुभूति, अनुभव, उपलब्धि, वेदना की शक्ति है उसे चेतना कहते हैं। यह चेतना कर्म से युक्त एवं कर्म से रहित होने के कारण विभिन्न रूप परिणमन कर लेती है। जिस प्रकार आकाश एक होते हुए भी लोकाकाश, अलोकाकाश, घटाकाश, पटाकाश आदि रूप में बाह्य निमित्त के कारण भेद पड जाता है उसी प्रकार चेतना भी अनेक रूप में परिणमन करती है। परन्तु यहाँ मुख्यत: चेतना के तीन भेद किये हैं। (1) ज्ञान चेतना (2) कर्म चेतना (3) कर्मफल चेतना। मुख्य रूप से सिद्ध भगवान् शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण स्थावर जीव अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव कर्म फल चेतना का अनुभव करते हैं। द्वीन्दियादि त्रस जीव कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं। कुन्दकुन्द देव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है -

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण॥38 पृ. 135

कोई चेतयिता अर्थात् आत्मा तो जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिस का प्रभाव (शक्ति) अति प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा सुख-दु:ख रूप कर्म फल को ही प्रधानत: चेतते हैं क्योंकि उनका अति प्रकृष्ट वीर्यान्तराय से कार्य करने का (कर्म चेतना) रूप परिणमित होने का सामर्थ्य नष्ट हो गया है। अन्य चेतयिता अर्थात् आत्मा, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव प्रकृष्ट

ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा भले ही सुख-दुःख रूप कर्म फल के अनुभव से मिश्रित रूप से भी- कार्य (कर्म चेतना को ही प्रधानत: चेतते हैं क्योंकि उन्होंने अल्पवीर्यान्तराय के क्षयोपशम से कार्य करने का सामर्थ्य प्राप्त किया है।

अन्य चेतयिता अर्थात् आत्मा जो समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य को प्राप्त है। सकल मोहकलंक धुल जाने के तथा समस्त ज्ञानावरण के विनाश के कारण समस्त प्रभाव अत्यन्त विकसित हो जाने से चेतक स्वभाव द्वारा कर्मफल निर्जरित हो जाने के और अत्यन्त कृतकृत्यापना हो जाने के कारण अपने से अभिन्न स्वाभाविक सुख रूप ज्ञान को ही चेतते हैं (अनुभव करते) हैं।

निर्मल शुद्ध आत्मा की अनुभूति को न पाकर अशुद्ध भावों से बांधा जो गाढ मोहनीय कर्म उसके उदय से प्राप्त जो अत्यन्त मलिन चेतना उसी से जिनके आत्मा की शक्ति ढक रही है ऐसा एक जीव समुदाय कर्मों के फलों को ही अनुभव करता है। दूसरी एक जीवराशि उसी ही मलिन चेतना से कुछ शक्ति को पाकर इच्छा पूर्वक इष्ट या अनिष्ट के भेद रूप कर्म या कार्य का अनुभव करती है तथा एक जीव समुदाय विशुद्ध शुद्धात्मा की अनुभूति रूप भावना से कर्म कलंक को नाश करते हुए अपने शुद्ध चेतना के भाव से केवलज्ञान को अनुभव करता है। इस तरह यह चेतना तीन प्रकार की है-(1) कर्म फल चेतना (2) कर्म चेतना (3) ज्ञान चेतना।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कतां णाणं विन्दन्ति ते जीवा ।।39

चेतना है, अनुभव करता है, उपलब्ध कराता है और वेदाता है-ये एकार्थ हैं क्योंकि चेतना, अनुभूति उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। क्योंकि चेतना अनुभूति उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। वहाँ स्थावर कर्म फल को चेतते हैं, त्रस कार्य (कर्म चेतना) को चेतते हैं, केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं।

सर्व ही प्रसिद्ध पृथ्वीकायिक, अपकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावर एकेन्द्रिय जीव अप्रगट सुख-दुःख का अनुभव रूप शुभ या अशुभ कर्म के फल को अनुभव करते हैं और द्वीन्द्रियादि त्रस जीव निर्विकार पर आनन्दमयी एक स्वभावधारी आत्मा के सुख को नहीं अनुभव करते हुए उस कर्म फल को भी अनुभव करते हैं। साथ में विशेष राग द्वेष, रूप कार्य की चेतना भी रखते हैं तथा जो जीव विशेष शुद्धात्मानुभव की भावना से उत्पन्न जो परमानन्दमयी एक सुखामृत रूप समरसी भाव उसके बल से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छवास इन दश प्राणों का उल्लघंन कर गये हैं; ऐसे सिद्ध परमात्मा सो मात्र केवलज्ञान को अनुभव करते हैं।

स्थावरकाय जीव की चेतना शक्ति अल्प विकसित होने के कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कम होने के कारण शक्ति की कमी होने से ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्रोदय होने के कारण ज्ञान कम होने से तथा स्पर्शन इन्द्रिय होने से वे पूर्वोपार्जित कर्म को केवल विवश होकर भोगने के लिए बाध्य होते हैं। इसलिए स्थावर जीव बाह्य सुख-दुःख से, प्रतिकूल वातावरण से स्वयं को बचाने के लिए अधिक सक्रिय नहीं हो पाता है। इसलिए इनमें केवल पूर्वोपार्जित कर्म को भोगने रूप प्रधानत: (मुख्यत:)कर्म फल चेतना है। अमृतचन्द्र सूरी ने पंचास्तिकाय की 38 नम्बर गाथा की टीका में जो स्थावर जीवों के सुख दुःख रूप कर्मफलमेव प्राधान्येनं चेतयते यह विशेषण दिया है। वह विचारणीय है। भले स्थावर जीव शक्ति की कमी से सुख दुःख को विवश होकर भोगता है तथापि कुछ प्रतिक्रिया भी करता है। जैसे जिधर पानी होता है उधर वृक्ष की जड फैलती है, जिधर प्रकाश होता है उधर वृक्ष की शाखाऐं बढती हैं। लाजवन्ती को छूने पर लाजवन्ती मुरझा जाती है। योग्य जलवायु से वृक्ष पल्लवित होता है और विपरीत वातावरण से वृक्ष मुरझा जाता है। मौल श्री वृक्ष सुन्दर स्त्री को देखकर काम चेतना से युक्त हो जाता है। अभी वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि कोई वृक्ष को मारने के लिए जाता है वह भयभीत हो जाता है, पत्ते कान्ति रहित हो मुरझाने लगते हैं और यदि कोई पानी देने जाता है तो वृक्ष प्रसन्न हो जाते हैं। संगीत सुनने पर वृक्ष अधिक पुष्प-फलादि देते हैं और प्रदूषित वातावरण में वृक्ष कम विकसित होते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थावर जीवों में भी कुछ प्रतिक्रियायें होती हैं। इसलिए स्थावर जीव में मुख्यत: कर्म फल चेतना होते हुऐ भी गौणरूप से कर्म चेतना भी है।

त्रस जीवों के वीर्यान्तराय कर्म के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीव की अपेक्षा कुछ शक्ति अधिक होने से इनके कर्म फल चेतना के साथ-साथ कर्म चेतना भी पायी जाती है। इसलिये त्रस जीव में स्थावर जीव की अपेक्षा सक्रियता कुछ अधिक है। त्रसनामकर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीवों से इनमें कुछ अधिक ज्ञान रहता है। आत्मरक्षा के लिये इधर-उधर भाग सकते हैं इसलिये ये कर्मफल चेतना (अनुभव) के साथ-साथ कर्म चेतना से भी युक्त होते हैं।

जिन्होंने समस्त वीर्यान्तरायकर्म के क्षय से अनन्तवीर्य को प्राप्त कर लिया है तथा समस्त ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्म एवं अघाति कर्म के क्षय से सिद्ध भगवान् बन गये हैं ऐसे जीव ज्ञान चेतना का वेदन करते हैं।

पंचास्तिकाय की 38 न० गाथा में जो पाणितमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन स्वामी ने कहा है**''दशविध प्राणत्वमतिक्रांता णाणं विदन्ति ते जीवा''**अर्थात् जो पांच इन्द्रिय, तीनबल, आयु, श्वासोच्छवास प्राण को

अतिक्रांत (उल्लंघन) कर गये हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा केवलज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं। पंचाध्यायी में सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञान चेतना का स्वामी कहा गया है।

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।
सचेत्यतेऽनया शुद्धःशुद्धा सा ज्ञान चेतना॥196 पृ.सं.32

यहाँ पर ज्ञान शब्द से आत्मा समझना चाहिए। क्योंकि आत्मा ज्ञान रूप ही - स्वयं है। वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जानी जावे उसी का नाम ज्ञान चेतना है।

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञान चेतना॥197

अर्थात् जिस समय आत्मा का ज्ञानगुण सम्यक् अवस्था को प्राप्त हो जाता है, केवल शुद्धात्मा का अनुभव करता है उसी समय उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यामिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तद् सम्भवात्॥198

वह ज्ञान चेतना निश्चय से सम्यग्दृष्टि के ही होती है। मिथ्यादृष्टि के कही भी नहीं हो सकती, क्योंकि मिथ्यादर्शन के होने पर उसका होना असम्भव ही है।

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम्॥199

मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अंग तक का ज्ञान हो जाता है, परन्तु आत्मा का शुद्ध अनुभव उसको नहीं होता है। यह केवल मिथ्यादर्शन के उदय का ही महात्म्य है।

तीनों चेतना का लक्षण एवं फल

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविदं भणिदं फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा॥124

ज्ञान को अर्थ का विकल्प कहते हैं- जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और पर के आकार को झलकाने वाला दर्पण के समान स्व-पर पदार्थों को जानने में समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्त, ज्ञान सुखादि रूप में परमात्मा पदार्थ हूँ तथा रागादि आस्रव को आदि लेकर सर्व पुद्गलादि द्रव्य मुझ से भिन्न हैं। इसी अर्थ विकल्प को ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीव ने अपनी बुद्धि पूर्वक मन-वचन-काय के व्यापार रूप से जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते हैं। यही कर्म चेतना है। सो कर्म चेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की कही गई है। सुख तथा दुःख को कर्म का फल कहते हैं इसको अनुभव करना सो कर्म फल चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलता को पैदा करने वाला नारक आदि

का दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है इसका फल चक्रवर्ती आदि के पंचेन्द्रियों के भोगों का भोगना है। यद्यपि इसको अशुद्ध निश्चय नय से सुख कहते हैं। तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से शुद्ध निश्चय नय से दुःख ही है और जो-रागादि रहित शुद्धोपयोग में परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलता को पैदा करने वाला परमानंदमई एक रूप सुखामृत का स्वाद है।

समीक्षा-इस गाथा में आचार्य श्री ने तीनों चेतना की परिभाषा दी है। पूर्व गाथा में समान्य रूप से चेतना का वर्णन किया था। मतिज्ञानादि आठ प्रकार के ज्ञान या पदार्थ को जानने में जो विकल्प रूप ज्ञान है, उसको ज्ञान चेतना कहते हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से भेद विज्ञान को ज्ञान चेतना कहते हैं। बुद्धि पूर्वक मन, वचन, काय से जो जीव करता है या उसे कर्म या कर्म चेतना कहते हैं। यह कर्म चेतना-अशुभोपयोग, शुभोपयोगऔर शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की हैं। अशुभ भाव सहित जो उपयोग है उसको अशुभोपयोग कहते हैं। शुभभाव से युक्त शुभोपयोग है और शुद्ध भाव से युक्त शुद्धोपयोग है। पूर्वोपार्जित पुण्य या पाप के कारण जो सुख तथा दुःख प्राप्त होता है, अशुभोपयोग से केवल दुःख ही दुःख मिलता है और शुभोपयोग से इन्द्रिय जनित सांसारिक सुख मिलता है तथापि आध्यात्मिक दृष्टि से यह इन्द्रिय जनित सुख-दुःख स्वरूप हैं क्योंकि यह इन्द्रिय जनित सुख कर्मोदय से प्राप्त होने के कारण, भोग करते वक्त-आसक्ति व अतृप्ति के कारण नवीन कर्म बन्ध के कारण होने से इन्द्रिय जनित सुख-दुःख रूप ही है। पंचाध्यायी में कहा भी है-

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम्।
स धर्मो यत्र ना धर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम्॥ 244 अध्याय-2

शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिसको वह सुख-समझता है वह सुख नहीं है। वास्तव में सुख वही है जहाँ पर कभी थोडा भी दुःख- नहीं हैं, वही धर्म है जहाँ पर अधर्म का लेश नही है और वही शुभ है जहाँ पर अशुभ नहीं है।

इद मस्ति पाराधीनं सुखं बाधा पुरस्सम्।
व्युच्छिन्नं बंध हेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः॥ 245 पृ. सं.334

यह इन्द्रियों से होने वाला सुख पराधीन है, कर्म के परतंत्र है, बाधा पूर्वक है। इसमें अनेक विघ्न आते हैं, बीच-बीच में इसमें दुःख होता जाता है, यह दुःख बंध का कारण है तथा विषम है। वास्तव में इन्द्रियों से होने वाला सुख-दुःख रूप ही हैं। इसी बात को दूसरे ग्रन्थकार भी कहते हैं-

सपरं बाधा सहियं विच्छिण्णं बधंकारणं विषमं।
जं इंदिए हि लद्धं तं सुक्खं दुःखमेव तहा॥

जो सुख इन्द्रियों से मिलता है वह अपने और पर को बाधा-पहुँचाने वाला है। हमेशा ठहरता भी नहीं है, बीच-बीच में नष्ट भी हो जाता है, बंध का कारण है और विषम है इसलिए वह दु:ख ही है।

संज्ञा की परतंत्रता

संज्ञा का लक्षण व भेद

इह जाहि वाहिया वि य जीवा पावंति दारूणं दुक्खं।
सेवंतावि य उभये ताओ चत्तारि सण्णओ ॥134

जिनसे बाधित होकर जीव इस लोक में दारुण दु:ख प्राप्त करते हैं और जिनका सेवन करने पर भी जीव दोनों ही भवों में दारुण दु:ख को प्राप्त होते हैं वे चार संज्ञाएँ हैं।

आहारादि की वांछा से बाधित होकर, संक्लेशित होकर, पीडित होकर जीव इस भव में दारुण अर्थात् तीव्र दु:ख पाता है। वांछित पदार्थ का सेवन करने से जीव इस भव में और परभव में अर्थात् दोनो भवों में तीव्र दु:खों को प्राप्त होता है। वे संज्ञाए (वांछाएँ) चार हैं- आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैंथुनसंज्ञा और परिग्रह संज्ञा यहाँ वांछा को संज्ञा कहा गया है। वाछां ही इस लोक और परलोक में महान दु:ख का कारण है।

1) आहारसंज्ञा का लक्षण व कारण

आहारदंसणेण य तस्सुबजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरूदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥135

आहार देखने से, उसके उपयोग से, कोठे (पेट) खाली होने से और साता-इतर अर्थात् असातावेदनीय कर्म की उदीरणा होने से आहारसंज्ञा होती है।

आहार के विषय में जो तृष्णा या आकांक्षा होती है वह आहार संज्ञा है। यह आहारसंज्ञा अन्तरंग और बहिरंग कारण मिलने पर उत्पन्न होती है। इसमें अन्तरंग कारण सातावेदनीय कर्म के प्रतिपक्षी असातावेदनीयकर्म का तीव्र उदय व उदीरणा है। बहिरंग-कारण (1) उदररूपी कोठे का रिक्त होना, क्योंकि जब पेट खाली होता है तब भूख लगती है और भोजन की वांछा होती है। (2) नाना प्रकार के रसयुक्त सुन्दर भोजन-पानादि को देखने से उसकी वांछा होती है। (3) पूर्व में भुक्त सुन्दर-सुस्वादु आहार आदि की स्मृति रूप उपयोग होने से आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है।

2) भयसंज्ञा का लक्षण व कारण

अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ॥136

अति भयानक रूपादि के देखने, उसकी ओर उपयोग करने, शक्ति की हीनता और भयकर्म क उदीरणा रूप चार कारणों से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है। भय संज्ञा भय रूप है। (1) तीव्र भयंकर रूप-वेष-क्रियादि तथा क्रूर पशु, सिंह, सर्पादि के अवलोकन से (2)भयंकर डाकू, व्याघ्र, सिंह, सर्पादि की स्मृति से (3) मनोबल की हीनता से इस प्रकार इन तीन बहिरंग कारणों से भय नोकषाय कर्म की उदीरणा रूप अन्तरंग कारण से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है। भय के कारण भागने की अथवा शरण स्थान की खोज करने की इच्छा होती है। शक्ति हीन जीव जब अपने से अधिक बलशाली व हानिकारक पदार्थ को देखता है तो वह उससे डरकर शरण लेने की इच्छा करता है तथा शरण्य स्थान की खोज में भागता है।

3) मैथुन संज्ञा का लक्षण व कारण

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगेण कुसील सेवाए।
वेदेस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥137

गरिष्ठ रस युक्त भोजन करने से, पूर्व भुक्त विषयों का ध्यान करने से, कुशील का सेवन करने से और वेद कर्म की उदीरणा से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।

तीनों वेदों के सामान्य उदय के निमित्त से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है। तीनों वेदों का भेदन करके सामान्य वेदकर्म तीव्र उदयरूप उदीरणा के कारण मैथुन संज्ञा होती है। तीनों वेद कर्मों में से किसी भी एक की उदीरणा से, मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है। यह अन्तरंग कारण है। कामोत्पादक गरिष्ठ व स्वादिष्ट भोजन करने से पूर्व में भोगे हुए विषयों को याद करने से, कुशील सेवन से, कुशील(विट) पुरुषों की संगति से, कुशील काव्य व कथादि सुनने से, कुशील नाटक-सिनेमा-टेलीविजन व चित्र-आदि के देखने से अर्थात् इन बहिरंग कारणों से मैथुन संज्ञा अर्थात् रतिक्रीडा करने की वांछा उत्पन्न होती है। स्त्रियों की रागकथा सुनना, स्त्रियों के मनोहर अङ्गों को देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों को स्मरण करना पौष्टिक भोजन करना, अपने शरीर का संस्कार आदि करना इन कारणों से भी मैथुन संज्ञा होती है। अत: इनका त्याग करना चाहिए।

4) परिग्रह संज्ञा की उत्पत्ति के कारण

उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायेद सण्णा ॥138 गो. जी.

बाह्य परिग्रह धनधान्य आदि उपकरणों के देखने से, उसकी कथा सुनने आदि से, परिग्रह आदि के उपार्जन की आसक्ति के सम्बन्ध से इन बाह्य कारणों से और लोभ कषाय की उदीरणा रूप अन्तरंग कारण से परिग्रह संज्ञा, उसके अर्जन करने की वांछा होती है।

संज्ञाओं के स्वामी

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारण भावा।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि ण हि कज्जे ।।139 प्र.न.271

नष्ट प्रमाद अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवों में पहली आहार संज्ञा नहीं होती। क्योंकि आहारसंज्ञा का अन्तरंग कारण असातावेदनीय की उदीरणा है और उसकी व्युच्छित्ति प्रमत्तगुणस्थान में ही हो जाती है। अत: कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव होता है। इस प्रकार प्रमाद रहित संयमियों में पहली संज्ञा नहीं है। शेष संज्ञाएँ उनके कारण कर्मों के उदय का अस्तित्व होने से उपचार से ही हैं, उनका कार्य वहाँ नहीं पाया जाता अर्थात् उक्त आहार आदि चारों संज्ञाएँ मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तगुणस्थानपर्यन्त होती हैं।

शंका- यदि ये चारो संज्ञाएँ बाह्य पदार्थों के संसर्ग से होती है तो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवों के संज्ञाओं का अभाव हो जाना चाहिए ?

समाधान- नहीं, क्योंकि अप्रमत्तों में उपचार से उन संज्ञाओं का सद्भाव स्वीकार किया गया है।

अप्रमत्तसंयत जीवों के भय, मैथुन और परिग्रह ये तीन संज्ञाएँ होती हैं। क्योंकि असातावेदनीय कर्म की उदीरणा का अभाव हो जाने से अप्रमत्तसंयत के आहार संज्ञा नहीं होती, किन्तु भय आदि संज्ञाओं के कारणभूत कर्मों का उदय सम्भव है। इसलिए उपचार से वहाँ भय, मैथुन, और परिग्रह संज्ञाएँ हैं।

अप्रमत्त गुणस्थान में संज्ञा का अस्तित्व

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणा भावा।
सेसा कम्मत्थित्तेणुबयारेणत्थि ण हि कज्जे ।।196

जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है अर्थात् अप्रमत्तगुस्थान में प्रथम (आहार) संज्ञा नहीं है, क्योंकि वहाँ पर कारण का अभाव है गया है। शेष तीन संज्ञाएँ उपचार से हैं क्योंकि उनके कारण स्वरूप कर्म का उदय वहाँ पाया जाता है किन्तु वे संज्ञाएँ कार्यरूप परिणमन नहीं होती।

मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान से प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक आहार-भय-मैथुन-परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ होती हैं। अप्रमत्तगुणस्थान में प्रथम संज्ञा अर्थात् आहार संज्ञा नहीं होती क्योंकि आहार संज्ञा का अन्तरंग कारण असातावेदनीय कर्म की उदीरणा का आभाव हो गया है। सातावेदनीय-असातावेदनीय तथा आयुकर्म की उदीरणा प्रमत्त गुणस्थान तक ही होती है। अप्रमत्तसंयतादि गुणस्थानों में वेदनीय व आयुकर्म की उदीरणा का अभाव हो जाता है। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भय-मैथुन व परिग्रह संज्ञा होती है । क्योंकि उनके कारण नो कषाय भय कर्म-वेदकर्म व लोभकषाय की उदीरणा पाई जाती है। अपूर्वकरण

आठवें गुणस्थान में भयकर्म की उदीरणा व्युच्छिति हो जाने से अनिवृत्तिकरण (नौवे) गुणस्थान में भय संज्ञा नहीं है। नौवें गुणस्थान के अवेदभाग में वेदकर्म की उदीरणा नहीं होती अत: वहाँ पर मैथुन संज्ञा भी नहीं होती है। उपशान्तमोह आदि गुणस्थानों में लोभ कषाय की उदीरणा का अभाव हो जाने से परिग्रह संज्ञा का भी अभाव हो जाता है। अप्रमत्तादि गुणस्थानों में कर्मोदीरणा निमित्त कारण के सद्भाव से उन संज्ञाओं का अस्तित्त्व उपचार मात्र से कहा गया है किन्तु वहाँ उनका कार्य रूप, रति क्रीडा व परिग्रह की वांछा नहीं होती। कर्मों का मन्द मन्दत्तर व मन्दतम अतिसूक्ष्म अनुभागोदय होने से तथा विषय संयम सहित होने से ध्यानयुक्त महामुनियों के मुख्यरूप से भय आदि संज्ञाएँ नहीं होती अन्यथा शुक्लध्यान व घातियादिकर्मों का क्षय कदाचित् घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार जीव मुक्त जीवों के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। जीवन मुक्त जीवों (अर्हन्तों) का अभाव होने से परम मुक्त (सिद्ध) जीवों का भी अभाव हो जाएगा। जिस प्रकार कुछ मत वाले संसारी जीवों की मुक्ति का अभाव मानते हैं वैसे ही अर्हन्त के मत में भी मुक्ति के अभाव का प्रसङ्ग आ जाएगा। इसलिए मोक्ष के इच्छुक स्याद्वादियों को क्षपकश्रेणी में आहार आदि चारों संज्ञाओं का अभाव मानना चाहिए। इस प्रकार आहार संज्ञा का विशेष हो जाने से केवलियों के कवलाहार भुक्ति कैसे सम्भव है? स्त्रियों (महिलाओं) के परिग्रह संज्ञा के सद्भाव के कारण क्षपक श्रेणी आरोहण का अभाव होने से स्त्रियों की मुक्ति कैसे सम्भव है? परमागम में स्त्रियों के वस्त्रत्याग पूर्वक संयम का निषेध है। आगमान्तर-जिसमें श्वेत वस्त्र आदि का विधान बताया गया है, युक्ति-आगम प्रमाण से उस आगमान्तर का खण्डन हो जाने से वह आगमान्तर (अन्य आगम) आगमाभास सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार केवलियों के कवलाहार का और स्त्री मुक्ति का निषेध हो जाता है।

परतंत्रता के कारण लेश्या

1) कृष्ण लेश्या

पंचासवप्पक्तो तीहिं अगुतो छसुं अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ खुद्ढो साहसिओ नरो ।। उतराध्ययन सूत्र पृ.स. 365

जो मनुष्य पाँच आस्रवों में प्रवृत है, तीन गुप्तियों में अगुप्त है षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ-में हिंसा आदि में संलग्न है, क्षुद्र है, साहसी अर्थात् अविवेकी है-

निद्धन्धसपरिणामो निस्ससो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे ।।

नि:शंक परिणाम वाला है, नृशंस (क्रूर) है, अजितेन्द्रिय है-इन सभी योगों से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

2) *नील लेश्या*

इस्सा अमरिस-अतवो अविज्ज-माया अहीरियाय।

गेद्धीधी पओसे य सदे पमन्ते रसलोलुए सायगवेसए य ॥

जो ईर्ष्यालु है, अमर्ष-कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, लज्जा रहित है, विषयासक्त है, द्वेषी है, धूर्त्त है, प्रमादी है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है-

आरम्भाओ अविरओ खुद्दो साहस्सिओ नरो।

एयजोग समाउत्तो नीललेसं तु परिणमे॥

जो आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, दु:साहसी है- इन योगों से युक्त मनुष्य नील लेश्या में परिणत होता है।

3) *कापोत लेश्या*

वंके वंक समायारे नियडिल्ले अणुज्जुए।

पलिउंचग ओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए॥

जो मनुष्य वक्र है-वाणी से टेढा है, आचार से टेढा है, कपट करता है, सरलता से रहित है, प्रति-कुञ्चक है- अपने दोषों को छुपाता है, औपधिक है-सर्वत्र छद्म का प्रयोग करता है मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है-

उप्फालग-दुट्टवाई य तेणे यावि य मच्छरी।

एयजोगसमाउत्तो काउलेसं तु परिणमे॥

उत्प्रासक है- गंदा मजाक करने वाला है, दुष्ट वचन बोलता है, चोर है, मत्सरी है, इन सभी योगों से युक्त वह कापोत लेश्या में परिणत होता है।

4) *तेजो लेश्या*

नीयावितीए अचवले अमाई अकुऊहले।

विणीयविणए दन्ते जोगवं उवहाणवं॥

जो नम्र है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहल है, विनय करने में निपुण है, दांत है, योगवान् है, स्वाध्याय आदि के द्वारा समाधि-सम्पन्न है, उपधान (श्रुतोपचार अर्थात् श्रुत-अध्ययन के समय विहित तप) करने वाला है।

पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरु हिएसए।

एयजोग समाउतो तेउलेसं तु परिणमे॥

प्रिय धर्मी है, दृढ धर्मी है, पाप भीरु है, हितैषी है, इन सभी योगों से युक्त वह तेजो लेश्या में परिणत होता है।

5) *पद्म लेश्या*

पयणुक्कोह-माणे य माया -लोभे य पयणुए।

पसन्तेचित्ते दन्तव्वा जोगवं उवहाणवं॥

क्रोध, मान, माया, और लोभ जिसके अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्तचित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, योगवान् है, उपधान करने वाला है-

तहा पयणुवाई य उवसन्ते जिइन्दिण।

एयजोगसमाउत्ते पम्हलेसं तु परिणमे ॥

जो मित-भाषी है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है-इन सभी योगों से युक्त वह पद्म लेश्या में परिणत होता है।

6) *शुक्ल लेश्या*

अट्टरूद्दाणि वज्जित्ता धम्मसुक्काणि झायए।

पसन्तचित्ते दन्तप्पा समिए-गुत्ते य गुत्तिहिं॥

आर्त्त और रौद्र ध्यानों को छोडकर जो धर्म और शुक्ल ध्यान में लीन है, जो प्रशान्त चित और शान्त है, पाँच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त है-

सरागे वीयरागे वा उवसन्ते जिइन्दिए।

एयजोग-समाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे॥

सराग हो या वीतराग, किन्तु जो उपशान्त है, जितेन्द्रिय है... इन सभी योगों से युक्त वह शुक्ल लेश्या में परिणत होता है।

स्थान द्वार

असंखिज्जाणोसप्पिणीण उस्सप्पिणीण जे समया।

संखाइया लोगा लेसाण हुन्ति ठाणाई॥

असंख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के जितने समय होते हैं, असंख्य योजन प्रमाण लोक के जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने ही लेश्याओं के स्थान (शुभाशुभ भावों की चढती-उतरती भूमिकाएँ) होते हैं।

स्थिति द्वार

मुहुत्तद्धं तु जहन्न तेत्तीसं सागरा मुहुत्तऽहिया।

उक्कोसा होई ठिई नायव्वा किण्हलेसाए॥

कृष्ण लेश्या की जघन्य (कम से कम) स्थिति मुहूतार्थ अर्थात् अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त-अधिक तेत्तीस सागर है।

मुहुत्तद्धं तु जहन्न दस उदही पलियमसखं-भागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा नील लेसाए॥

नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर है।

दृष्टान्त द्वारा छहों लेश्याओं के कर्म

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि ।
फल भरियरूक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति॥507
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणितु पडिदाइं।
खाउं फलाई इदि जं मणणे वयणं हवे कम्मं॥508 गो.जी. पृ.सं.586

फलों से लदे वृक्ष को देखकर कृष्ण लेश्या (अशुद्धतमभाव) वाला विचार करता है कि इस वृक्ष को जडमूल से उखाडकर फल खाने चाहिए। नील लेश्या अशुद्धतर भाव वाला विचार करता है कि इस वृक्ष के स्कन्ध (तने) को काटकर फल खाने चाहिए। कापोत लेश्या अशुद्ध भाव वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की शाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए, तेजो लेश्या शुद्ध भाव वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की उपशाखाओं को काटकर फल खाने चाहिए। पद्म लेश्या वाला (शुद्धतर भाव) विचार करता है कि फल तोडकर खाने चाहिए। शुक्ल लेश्या वाला (शुद्धतम भाव) विचार करता है कि पक कर नीचे गिरे हुए फल खाने चाहिए। इन भावों के अनुसार वे वचन भी कहते हैं। उनके मानसिक विचारों तथा वचनों से लेश्या के तारतम्य का ज्ञान हो जाता है।

कृष्णलेश्या के कर्म व लक्षण

चण्डो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयारहिओ।
दुट्ठो य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स॥509

कृष्ण लेश्या से संयुक्त जीव तीव्र क्रोधी, वैर को न छोडने वाला, गाली देने रूप स्वभाव से युक्त, दयाधर्म से रहित, दुष्ट और वश में नहीं आने वाला, यह कृष्ण लेश्या का लक्षण है। कृष्ण लेश्या का कर्म-कृष्ण लेश्या से परिणत जीव निर्दय, झगडालू, रौद्र, वैर की परम्परा से संयुक्त, चोर, असत्यभाषी, परदारा का अभिलाषी, मधुमांस व मद्य में आसक्त, जिन-शासन के श्रवण में कान न देने वाला और असंयम में मेरु के समान स्थिर स्वभाव वाला है।

नील लेश्या : कर्म व लक्षण

मंदो बुद्धि विहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य॥510

णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स॥511

कार्य करने में मन्द बुद्धि विहीन, विवेक से रहित, विषय लोलुपता, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, अभेद्य, निद्रा व धोखा देने में अधिक, धन-धान्य में तीव्र लालसा, ये नीललेश्या के लक्षण हैं।

कापोत लेश्या : कर्म व लक्षण

असुथइ परिभवइ परं पसंसये अप्पय बहुसो।
रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभय बहुलो॥512
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवन्तो ण य जाणइ हाणिवड्ढिवा॥513
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स॥514

रुष्ट होना, निन्दा करना, अन्य को बहुत प्रकार से दोष लगाना, प्रचुर शोक व भय से संयुक्त होना, ईर्ष्या करना, पर का तिरस्कार करना, अपनी अनेक प्रकार प्रशंसा करना, दूसरों को भी अपने समान समझकर उनका कभी विश्वास नहीं करना, अपनी प्रशंसा करने वालों से सन्तुष्ट होना, हानि-लाभ को नहीं जानना, युद्ध में मरण की प्रार्थना करना, स्तुति करने वालों को बहुत सा पारितोषिक देना, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के विवेक से हीन होना ये सब कापोतलेश्या के लक्षण हैं।

पीतलेश्या कर्म

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्व-समपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स॥515

'तेजोलेश्या' जीव को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य तथा सेव्य-असेव्य का जानकार समस्त जीवों को समान समझने वाला, दया-दान में लवलीन और सरल करती है। तेजोलेश्या वाला जीव अहिंसक, मधुमांस व मद्य का असेवी, सत्यबुद्धि तथा चोरी व परदारा का त्यागी होता है। अथवा अपने कार्य-अकार्य सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सब के विषय में समदर्शी हो, दया और दान में तत्पर हो, कोमल परिणामी हो, ये सब पीतलेश्या के कर्म अथवा चिन्ह है।

पद्म लेश्या वाले के लक्षण

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि।
साहु गुरु पूजणरदो लक्खणामेय तु पम्मस्स॥516

पद्म लेश्या में परिणम जीव त्यागी, भद्र, चोक्खा, ऋजुकर्मा, भारी अपराध को भी क्षमा करने वाला तथा साधु पूजा व गुरुपूजा में तत्पर रहता है। दान देने वाला हो, भद्र-परिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करने को स्वभाव हो, इष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनि-गुरु आदि की पूजा में प्रीतियुक्त हो; ये सब पद्मलेश्या वालों के चिन्ह अथवा कर्म हैं।

शुक्ललेश्या वाले के लक्षण

ण य कुणइ पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा ण होवि य सुक्कलेस्सस्स ॥517

शुक्ल लेश्या के होने पर जीव न पक्षपात करता है और न निदान करता है, वह सब जीवों में समान रहकर राग-द्वेष व स्नेह से रहित होता है। पक्षपात न करना, निदान को न बाँधना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट से राग तथा अनिष्ट से द्वेष न करना, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि में स्नेह रहित होना, ये सब शुक्ल लेश्या वाले के कर्म अथवा चिन्ह हैं।

एवं अणाइ-काले पंच-पयारे भमेइ संसारे।
णाणा-दुक्ख-णिहाणो जीवो मिच्छत-दोसेण ॥72

इस प्रकार अनेक दु:खों की उत्पत्ति के कारण पाँच प्रकार के संसार में, यह जीव मिथ्यात्वरूपी दोष के कारण अनादि काल तक भ्रमण करता रहता है।

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊणं।
तं झायह स-सरुवं संसरणं जेण णासेइ ॥73

इस प्रकार संसार को जानकर और सम्यक्तत्व, व्रत, ध्यान आदि समस्त उपायों से मोह को त्यागकर अपने उस शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करो, जिससे पाँच प्रकार के संसार भ्रमण का नाश होता है।

शल्य से दुर्दशा

अपराध की अपेक्षा करने वाले साधु दोष लगने के काल को बहुत दिन बीत जाने पर भूल जाते हैं। जो अतिचार प्रतिदिन होते हैं उनका काल सन्ध्या में अतिचार लगा था या रात में या दिन में इत्यादि भूल जाते हैं। पीछे आलोचना करते समय गुरु के पूछने पर नहीं कह पाते क्योंकि बहुत काल बीतने से भूल जाते हैं। अथवा बीते अतीचार के काल को और 'अपि (शब्द से अतिचार के हेतु क्षेत्र और भाव को नहीं जानते, उन्हे स्मरण नहीं होता। ऐसी किन्ही की व्याख्या है।

रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा।
ते दुक्खसल्लबहुले भमंति संसार कांतारे ॥544

राग और द्वेष से पीडित जो मूढ मुनि शल्य सहित मरते हैं वे दु:ख रूपी शल्यों से भरे संसाररूपी वन में भटकते हैं। शल्य की तरह दुर्द्धर होने से दु:खों को शल्य कहा है।

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धस्ताण जो कुणदि कालं।
पव्वज्जादी सव्वं स होई आराधओ मरणे ॥545

जो दीक्षा लेने के दिन से लेकर तीन प्रकार के सब भाव शल्य को निकालकर मरण करते हैं वे मरते समय दर्शन आदि के आराधक होते हैं।

जे गारवेहिं रहिदा णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य।
विहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सव्वदुक्खाणि ॥546

जो तीन प्रकार के गारव और तीन प्रकार के शल्यों से रहित से ममत्व भाव को त्याग दर्शन ज्ञान और चारित्र में विहार कहते हैं वे सब दु:खों का क्षय करते हैं।

तं एवं जाणतो महंतयं लाभयं सुविहिदाणं।
दंसण चरित सुद्धो णिस्सल्लो विहर तो धीर ॥547

हे धीर ! निरतिचार रत्नत्रय का पालन करने वाले संयमियों के ऊपर कहे महान् लाभ को जानते हुए तुम दर्शन और चारित्र की शुद्धि करके शल्य रहित होकर मोक्षमार्ग में प्रर्वतन करो। दर्शन और चरित्र की शुद्धि ज्ञान और दर्शन की शुद्धि के बिना नहीं होती। इसलिए दर्शन और चारित्र की शुद्धि से दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की शुद्धि कही है।

तम्हा सतूलमूलं अविछूढमविप्पुदं अणुव्विग्गो।
णिम्मोहियणिगूदं सम्मं अलोचए सव्वं ॥548

यत: शल्य सहित मरण में दोष है और नि:शल्य मरण में दु:ख के कारण कर्मों का अभाव होने से समस्त दु:खों से छुटकारा होता है। इसलिए दु:ख से निवृत्ति के लिए दीक्षा के दिन से लेकर आज तक जो अतिचार लगे हैं वे सब बिना भूल किये, धीरे-धीरे, बिना किसी भय और मोह के सम्यक् रूप प्रकट करो।

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्धुदो होदि।
तम्हि दु समुट्ठिदे सो णिस्सल्लो णिवुदो होदि ॥538

जैसे कण्टक से विधा हुआ सर्व शरीर में पीडा से पीडित होता है और उस कण्टक के निकल जाने पर वह दु:खी मनुष्य शल्य से रहित हो सुखी होता है।

एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होई।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होई ॥539

उसी प्रकार जो काँटे की तरह दोष को नहीं निकालता वह मायावी अपने अपराध को न कहने रूप दोष से दु:खी रहता है और वहीं दोष को प्रकट करने पर विशुद्ध होकर सुखी होता है।

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च।
अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥540

शल्य के तीन भेद हैं-मिथ्यादर्शन शल्य माया शल्य और निदान शल्य, अथवा शल्य के दो भेद जानना-द्रव्य शल्य और भावशल्य

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्त जोगे य।
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि॥541

भाव शल्य क तीन भेद हैं दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य, चारित्रयोग शल्य। शंका आदि दर्शन शल्य है। अकाल में पढना, विनय न करना आदि ज्ञान के शल्य हैं। समिति और गुप्ति में अनादर चारित्र शल्य हैं। पहले कहे अनशन आदि के अतिचार अथवा असंयमरूप परिणाम योग अर्थात् तप के शल्य हैं। तप का अन्तर्भाव चारित्र में होता है, इस विविक्षा से यहाँ भावशल्य तीन कहे हैं। द्रव्य शल्य भी तीन हैं- सचित्त, अचित्त और मिश्र। दास आदि सचित्त द्रव्य शल्य हैं। सुर्वण आदि अचित्त द्रव्यशल्य हैं। गाँव आदि मिश्र द्रव्यशल्य हैं। इन तीनों द्रव्यशल्य कहते हैं क्योंकि ये चारित्राचार के शल्य के कारण हैं।

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं।
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि॥542

सो साधु लज्जा अथवा गारव से एक भी भाव अर्थात् रत्नत्रय के शल्य अर्थात् अतिचार को निकाले बिना मरण करता है, वह मुनि आराधक नहीं है; निरतिचारता ही यतियों की आराधना है।

कल्ले परे व परदो काहं दंसणणाणचरित्तसोधित्ति।
इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणत्ति॥543

कल या परसों मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि करुँगा। ऐसा सकल्प करने वाले बीतते हुए आयुकाल को नहीं जानते। इसी से उनका मरण शल्य सहित होता है। इसी से कहा है- 'जैसे ही माया शल्य उत्पन्न हो उसे आनुपूर्वीक्रम से नष्ट कर देना चाहिए।' व्याधि, शत्रु और कर्म की यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड जम जाती है फिर सुख पूर्वक उनका विनाश नहीं होता। अथवा

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणई।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥549

जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरलभाव से ही कहता है, कुछ छिपाता नहीं हैं। वैसे ही साधु को भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूँठ को त्यागकर अपना अपराध कहना चाहिए।

दंसणणाण चरित्ते कादूणालोचणं सुपरिसुद्धं।
णिस्सल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु॥550

अत: दर्शन ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी अपने अपराधों को कहकर मायाशल्य से रहित होकर गुरु के द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रम से सल्लेखना करो।

तो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ।
सव्वंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो॥551

इस प्रकार गुरु द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिमरण करने का निश्चय करता है। उसके सब अंगों में हर्ष की लहर दौडती है और प्रीति से शरीर रोमांचित हो जाता है।

5) *भव संसार*

णेरइयादि-गदीणं अवर-ट्ठिदिदो वर-ट्ठिदी जाव।
सव्व-ट्ठिदिसु वि जम्मदि गेवेज्ज-पज्जंतं॥70 स्वा.का. पृ.सं.95

संसारी जीव नरकादि चार गतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्त सब स्थितियों में ग्रैवेयक तक जन्म लेता है। नरकगति में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। उस आयु को लेकर कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। पुन: उसी प्रकार आयु को लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं, उतनी बार दस वर्ष की आयु लेकर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। पीछे एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ। फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक एक समय बढाते बढाते नरकी की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण करता है। फिर तिर्यञ्चगति में अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ। फिर एक एक समय बढाते-बढाते तिर्यञ्चगति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य समाप्त करता है। फिर तिर्यञ्चगति ही की तरह मनुष्यगति में भी अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु समाप्त करता है। पीछे नरकगति की तरह देव गति की आयु को भी समाप्त करता है। किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि वहाँ इकतीस सागर की ही उत्कृष्ट आयु को पूर्ण करता है, क्योंकि ग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु इक्तीस सागर की होती हैं और मिथ्यादृष्टियों की उत्पत्ति गैवेयक तक ही होती है। इस प्रकार चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भवपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी है-**'नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊपर के ग्रैवेयक पर्यन्त के सब भवों में यह जीव मिथ्यात्व के आधीन होकर अनेक बार भ्रमण करता है।**

भव-परिवर्तन

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ।
सव्वाओ ताओ पत्तो अणतखुत्तो इमो जीवो।।1767 भ. आ.

नाम कर्म के गतिनामकर्म, जातिनामकर्म आदि अनेक भेद हैं। उनमें से जातिनाम के पाँच भेद हैं- एकेन्द्रिय जातिनामकर्म, दोइन्द्रिय जातिनामकर्म, त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म, चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म और पञ्चेन्द्रिय जातिनामकर्म। उन जातिनामकर्मों के उदय से एकेन्द्रिय आदि पर्याप्त में जन्म लेने वाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्द से कहे जाते हैं। उन एकेन्द्रिय आदि की बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियों को यहाँ जीवद्रव्य का आश्रय कहा है। तत्त्वार्थ सूत्र के **''सचित्तशीतसंवृता:''** इत्यादि सूत्र में जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है। क्योंकि उसी तत्त्वार्थ सूत्र के **'संसारिणो मुक्ताश्च'** सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भव पर्याय के परावर्तन को भवसागर कहा है। कहा है- ' इस जीव ने नरकगति आदि की जघन्य स्थिति से लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त अनेक भवस्थितियों को मिथ्यात्व के संसर्ग से भोगा है।'

अत: भव शब्द से योनियाँ नहीं कही जाती। जीव की पर्याय को भव कहते हैं। भव संसार तीस प्रकार का है- पृथ्वी काय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय में से प्रत्येक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार-चार भेद होने से बीस भेद होते हैं। तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय के पर्याप्त के और अपार्यप्त के भेद होने से दस भेद होते हैं।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तन का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं-

नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। कोई जीव उस आयु को लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। पुन: परिभ्रमण करके उतनी ही आयु को लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्षों के जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर नरक में उत्पन्न हुआ और मरा। पुन: दस हजार वर्ष की आयु में एक-एक समय बढाकर नरक में उत्पन्न होते हुए वहाँ की उत्कृष्ट आयु तेत्तीस सगर पूर्ण की। नरक की आयु पूर्ण करने के पश्चात् तिर्यञ्चगति में एक अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा। नरक में कहे क्रमानुसार तिर्यञ्चगति की उत्कृष्टआयु तीन पल्य पूर्ण की। तिर्यञ्चगति के समान मनुष्यगति की आयु पूर्ण की और नरक गति के समान देवगति की आयु पूर्ण की और नरक गति के समान देव गति की आयु पूर्ण की। किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम ग्रैवेयक की उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भव परिवर्तन हो जाते हैं। ऐसे भवपरिवर्तन इस जीव ने अनन्तवार किये हैं।

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णव-णवं जीवों।
पुणु पुणु अण्धं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहु-वारं।। 32 स्वा. का. पृ.सं. 16
एवं जं संसरणं णाणा -देहेसु होदि जीवस्य।
सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहि जुत्तस्स।।33

जीव एक शरीर को छोडता है और दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीर को ग्रहण करता है और अनेक बार उसे छोडता है। मिथ्यात्व, कषाय वगैरह से युक्त जीव का इस प्रकार अनेक शरीरों में जो संसरण (परिभ्रमण) होता, उसे संसार कहते हैं। तीसरी अनुप्रेक्षा का वर्णन प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने पहले संसार का स्वरूप बतलाया है। बार-बार जन्म लेने और मरने को संसार कहते हैं। अर्थात् जन्म और मरण के चक्र में पडकर जीव का भ्रमण करनी ही संसार है। यह संसार चार गतिरूप है और उसका कारण मिथ्यात्व और कषाय है। मिथ्यात्व और कषाय का नाश होने पर जीव की इस संसार से मुक्ति हो जाती है।

नरक गति के दु:ख

पाव उदएण णरए जायदि जीवो सहेदि बहु-दुक्खं।
पंच-पयारं विविहं अणोवमं अण्ण-दुक्खेहिं।। 34

पाप कर्म के उदय से वह जीव नरक में जन्म लेता है, और वहाँ पाँच प्रकार के अनेक दु:खों को सहता है, जिनकी उपमा अन्य गतियों के दु:खों से नहीं की जा सकती।

शास्त्र में कहा है कि जो प्राणियों का घात करता है, झूठ बोलता है, दूसरों का धन हरण है, पर नारियों को बुरी निगाहों से देखता है, परिग्रह में आसक्त रहता है, बहुत क्रोधी, मानी, कपटी, और लालची होता है, कठोर वचन बोलता है, दूसरों की चुगली करता है, रात-दिन धन सञ्चय में लगा रहता है, साधुओं की निंदा करता है, वह नीच और खोटी बुद्धि वाला है, कृतघ्नी है, और बात-बात पर शोक तथा दु:ख करता जिसका स्वभाव है, वह जीव मरकर नरकगति में जन्म लेता है। वहाँ उसे ऐसे-ऐसे कष्ट सहने पडते हैं, जिनकी तुलना किसी अन्य गति के कष्टों से नहीं की जा सकती।

असुरोदीरिततो-दुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णेण्ण-कयं च पंचविहं।।35

पहला असुरकुमारों के द्वारा दिया गया दु:ख, दूसरा शारीरिक दु:ख, तीसरा मानसिक दु:ख, चौथा क्षेत्र से उत्पन्न होने- वाला अनेक प्रकार का दु:ख और पाँचवा परस्पर में दिया गया दु:ख, दु:ख के पाँच प्रकार हैं।

भवनवासी देवों में एक असुर कुमार जाति के देव होते हैं। ये बडे कलह प्रिय होते हैं। इन्हें

दूसरों को लडाने-भिडाने में बडा आनन्द आता है। ये तीसरे नरक तक जा सकते हैं। वहाँ जाकर ये नाकियों को अनेक तरह का कष्ट देते हैं, उस पर इनके उकसाने से उनका क्रोध और भी भडक उठता है। तब वे अपनी विक्रिया शक्ति के द्वारा बनाये गये भाला तलवार आदि शस्त्रों से परस्पर मार-काट करने लगते हैं। इससे उनके शरीर के टुकडे-टुकडे हो जाते हैं, किन्तु बाद में वे टुकडे पारे की तरह आपस में पुनः मिल जाते हैं और अनेक प्रकार की शारीरिक वेदना होने पर भी उनका अकाल में मरण नहीं होता। कभी-कभी वे सोचते कि हम न लडें, किन्तु समय पर उन्हें उसका कुछ भी ध्यान नहीं रहता। इसलिए भी उनका मन बडा खेद खिन्न रहता है। इन दुःखों के सिवाय उन्हें नरक के क्षेत्र के कारण भी बहुत दुःख सहना पडता है। क्योंकि ऊपर के नर्क अत्यन्त गर्म हैं तथा पाँचवें नरक कौ नीचे के कुछ भाग छट्ठे तथा सातवें नरक अत्यन्त ठंडे हैं। उनकी गर्मी और सर्दी का अनुमान इससे ही किया जा सकता है कि यदि सुमेरु पर्वत के बराबर ताम्बे के एक पहाड को गर्म नरकों में डाल दिया जाये तो वह क्षण भर में पिघल कर पसीना हो सकता है। तथा उस पिघले हुए पहाड को यदि शीत नरकों में डाल दिया जाए तो वह क्षण भर में कडा होकर पहले के जैसा हो सकता है। इसके सिवाय वहाँ की घास सुई की तरह नुकीली होती है। वृक्षों के पत्ते तलवार की तरह पैने होते हैं। वैतरणी नाम की नदी खून, पीव जैसी दुर्गन्धित वस्तुओं से परिपूर्ण होती है। उसमें अनके प्रकार के कीडे बिलबिलाते रहते हैं। जब कोई नारकी उन वृक्षों के नीचे विश्राम करने के लिए पहुँचता है तो हवा के झोंके से वृक्ष के हिलते ही उसके तीक्ष्ण पत्ते नीचे गिर पडते हैं और विश्राम करने वाले के शरीर में घुस जाते हैं। वहाँ से भागकर वह शीतल जल की इच्छा से नदी में घुसता है तो दुर्गन्धित पीव और कीडों का कष्ट भोगना पडता है। इस प्रकार नरक में पाँच प्रकार के दुःख पाया जाता है।

छिज्जइ तिल-तिल-मित्तं भिंदिज्जइ तिल-तिलंतरं सयलं।
वज्जग्गीए कढिज्जइ णिहप्पए पूय कुडम्हि।।36

शरीर के तिलतिल के बराबर टुकडे कर दिये जाते हैं। उन तिलतिल के बराबर टुकडों को भी भेदा जाता है। वज्राग्नि में पकाया जाता है। पीव के कुण्ड में फेंक दिया जाता है।

इच्चेवमाइ-दुक्खं जं णरए सहदि एय-समयम्हि।
तं सयलं वण्णेदुं ण सक्कदे सहस-जीहो वि।।37

इस प्रकार नरक में छेदन-भेदन आदि का जो दुःख जीव एक समय में सहता है उस सबका वर्णन करने के लिए हजार जिह्वा वाला भी समर्थ नहीं है। जब नरक में एक समय में होने वाले दुःखों का वर्णन करना शक्य नहीं है, तब जीवन भर दुःखों की तो कथा ही क्या है ?

सव्वं पि होदि णरएखेत्त-सहावेण दुक्खदं असुहं।
कुविदा बि सव्व-कालं अण्णोण्णं होंति णेरइया।।38

नरक में सभी वस्तुएँ दुःख को देने वाली और अशुभ होती हैं, क्योंकि वहाँ के क्षेत्र का ऐसा ही स्वभाव है। तथा नारकी सदा ही परस्पर में क्रोध करते रहते हैं।

अण्ण-भवे जो सयणो सो वि य णरए हणेइ अइ-कुविदो।
एवं तिव्व-विवागं बहु विसहदे दुक्खं।।39

पूर्वभव में जो जीव अपना सगा-सम्बंधी था, नरक में वह अति क्रुद्ध होकर घात करता है। इस प्रकार जीव बहुत समय-समय तक दुःख तीव्र उदय को सहता है। पूर्व भव का मित्र भी नरक में जाकर शत्रु हो जाता है, इसे वहाँ के क्षेत्र का और अपने अशुभ कर्मों का ही परिणाम समझना चाहिये।

तिर्यञ्चगति के दुःख-

तत्तो णीसरिदूणं जायदि तिरिएसु बहु-वियप्पेसु।
तथ्य वि पावदि दुक्खं गब्भे वि य छेयणादीयं।।40

नरक से निकलकर जीव अनेक प्रकार के तिर्यञ्चों में जन्म लेता है। वहाँ भी गर्भज अवस्था में भी छेदन वगैरह का दुःख पाता है। तिर्यञ्चगति में दो जन्म होते हैं, एक सम्मूर्छन और दूसरा गर्भ। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय वगैरह के सम्मूर्छन जन्म होता है और पञ्चन्द्रियों के सम्मूर्छन और गर्भ दोनों जन्म होते हैं। दोनों ही प्रकार के तिर्यञ्चों को छेदन-भेदन का दुःख सहना पडता है। अपि शब्द से ग्रन्थकार ने यही बात प्रकट की है।

तिरिएहि खज्जयाणो दुट्ठ-मणुस्सेहिं हम्ममाणो वि।
सवत्थ वि संतट्टो भय-दुक्खं विसहदे भीमं।।41

अन्य तिर्यञ्च उसे खा जाते हैं। दुष्ट मनुष्य उसे मार डालते हैं। अतः सब जगह से भय-भीत हुआ प्राणी भय के भयानक दुःख को सहता है। तिर्यञ्च गति में जीव को अनेक कष्टों का सामना करना पडता है। सबसे प्रथम उसे उससे बलवान व्याघ्र, सिंह, भालु, बिलाव, कुत्ता, मगर-मच्छ वगैरह हिंस्र जन्तु ही खा डालते हैं। यदि किसी प्रकार उनसे बच जाता है, तो म्लेच्छ, भील, धीवर आदि हिंसक मनुष्य उसे मार डालते हैं। अतः बेचारा रात-दिन भय का मारा मरा जाता है।

अण्णोण्णं खज्जंता तिरिया पांवति दारूणं दुक्खं।
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ रक्खेदि।।42

तिर्यञ्च परस्पर में ही एक दूसरे को खा जाते हैं, अतः दारुण दुःख पाते हैं। जहाँ माता ही भक्षक है, वहाँ दूसरा कौन रक्षा कर सकता है।' जीव जीव का भक्षक है' यह

कहावत तिर्यञ्च जाति में अक्षरत: घटित होती है। क्योंकि पृथ्वी पर वनराज सिंह वनवासी पशुओं से अपनी भूख मिटाता है, आकाश में गिद्ध, चील वगैरह उडते हुए पक्षियों को झपटकर पकड लेते हैं, जल में बडे-बडे मच्छ मोटी-मोटी मछलियों को अपने पेट में रख लेते हैं। अधिक क्या सर्पिणी, बिल्ली वगैरह अपने बच्चों को ही खा डालती हैं। अत: पशुगति में यह एक बडा भारी दु:ख है।

तिव्व-तिसाए तिसिदो तिव्व-विभुक्खाई भुक्खिदो संतो।
तिव्वं पावदि दुक्खं उयर -हुयासेण डज्झंतो।।43

तिर्यञ्च जीव तीव्र प्यास से प्यासा होकर और तीव्र भूख से भूखा होकर पेट की आग से जलता हुआ बडा कष्ट पाता है। तिर्यञ्चगति में भूख और प्यास की असह्य वेदना सहनी पडती है। जो पशु पालतू होते हैं, उन्हें तो कुछ दाना-पानी मिल भी जाता है, किन्तु जो पालतू नहीं होते उन बेचारों की तो बुरी हालत होती है, वे खाने की खोज में इधर-उधर भटकते हैं, और किसी के चारे पर मुँह मारते हैं, वहीं उन्हें मार खानी पडती है।

मनुष्य गति के दु:ख

एवं वहु-प्पयारं दुक्खं विसहेदि तिरिय-जोणीसु।
तत्तो णीसरिदूणं लद्धि-अपुण्णो णरो होदि ।।44

इस प्रकार तिर्यञ्चयोनि में जीव अनेक प्रकार के दु:ख सहता है। वहाँ से निकलकर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य होता है। (स्त्रियों के काँख वगैहर प्रदेशों में ये मनुष्य नाम के प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं। इनका सर्म्मूछन जन्म होता है। तथा शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पहले ही अन्तर्मुहूर्तकाल तक जीवित रह कर मर जाते हैं।)

अह गब्भे वि य जायदि तत्थ वि णिवडीकयंग-पच्चगो।
विसहदि तिव्वं दुक्खं णिग्गममाणो वि जोणीदो।।45

अथवा यदि गर्भ में भी उत्पन्न होता है वहाँ भी शरीर के अङ्ग-उपाङ्ग संकुचित रहते हैं, तथा योनि से निकलते हुए भी तीव्र दु:ख सहना पडता है। तिर्यञ्चयोनि से निकलकर लब्ध्यपर्याप्त तक मनुष्य पर्याय में जन्म लेने का कोई नियम नहीं हैं। यही इस गाथा में 'अह' पद से सूचित किया गया है। यदि लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य न होकर गर्भज मनुष्य होता है तो गर्भ में भी नौ मास तक हाथ पैर सिर अंगुली नाक वगैरह अङ्ग-प्रत्याङ्गों को समेटकर रहना पडता है। और जब बाहर आता है तो सङ्कुचित द्वार से बाहर निकलते समय वेदना सहनी पडती है।

बालो वि वियर -चत्तो पर-उच्छिठेणँ चट्टदे दुहिदो।
एवं जायण-सीलो गमेदि कालं महादुक्खं।।46

बाल अवस्था में ही यदि माता-पिता छोडकर मर जाते हैं या विदेश चले जाते हैं, तो दु:खी होता हुआ दूसरों के उच्छिष्ट अन्न से बडा होता है और इस तरह भिखारी बनकर बडे दु:ख से समय बिताता है। गर्भ और प्रसव की वेदना सहकर जिस किसी तरह बाहर आता है। किन्तु यदि बाल्यकाल में ही माता-पिता का बिछोह हो जाता है तो दूसरों का झूठा अन्न खाकर पेट भरना पडता है।

पावेण जणो एसो दुक्कम्म-वसेण जायदे सव्वो।
पुणरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि।।47

ये सभी जन बुरे कामों से उपार्जित पाप कर्म के उदय से जन्म लेते हैं किन्तु फिर भी पाप ही करते हैं। पुण्य का उपार्जन कोई भी नहीं करता। (आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियों में से 82 पापप्रकृतियाँ होती हैं और 42 पुण्य प्रकृतियाँ होती हैं। इनके नाम जानने के लिए देखो गोम्मटसार कर्मकाण्ड-गाथा 41-44) संसार के जीव रात-दिन पाप के कामों में ही लगे रहते हैं। अत: पाप कर्म का ही बन्ध करते हैं। इस पाप कर्म के कारण उन्हें पुन: जन्म लेना पडता है। किन्तु पुन: जन्म लेकर भी वे पाप के सञ्चय में ही लगे रहते हैं। उनका समस्त जीवन खाने कमाने और इन्द्रियों की दासता करने में ही बीत जाता है। कोई भी भला आदमी दान, पूजा, तपस्या आदि शुभ कामों के करने में अपने मन को नहीं लगाता है।

विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो।
उवसम-भावों सहिदो णिंदण-गरहाहिं सजुत्तो।।48

सम्यग्दृष्टि, व्रती, उपशमभाव से युक्त तथा अपनी निन्दा और गर्हा करने वाले विरले जन ही पुण्यकर्म का उपार्जन करते हैं।

जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है। औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक। मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन सातों के क्षय से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे क्षायिक कहते हैं। तथा देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहते हुए मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क प्रकृतियों के सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय और सद्वस्थारूप उपशम से जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिसमें तीनों में से कोई भी एक सम्यक्त्व होता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में सम्यग्दृष्टि का स्वरूप

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा पि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।।

अर्थात् जो न तो इन्द्रियों के विषयों से विरत है, न त्रस अथवा स्थावर जीव की हिंसा से ही विरत है। किन्तु जो जिन भगवान् के वचनों पर श्रद्धान करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। जो सम्यग्दृष्टि व्रत से युक्त होता है, उसे व्रती कहते हैं। व्रती दो प्रकार के होते हैं- एक अणुव्रती श्रावक और दूसरे महाव्रती मुनि। श्रावक के 12 व्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत तथा महाव्रती मुनि के पाँच महाव्रत होते हैं- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह। इन्हीं पाँच महाव्रतों के एकदेश पालन करने को अणुव्रत कहते हैं। अपने किये हुए पापों के स्वयं प्रकट करने को निंदा कहते हैं, और गुरु की साक्षी पूर्वक अपने दोषों को प्रकट करने को गर्हा कहते हैं। कषायों के मंद होने से उत्तम क्षमा आदि रूप जो परिणाम होते हैं उन्हें उपशम भाव कहते हैं। इन सम्यक्त्व, व्रत, निन्दा, आदि भावों से पुण्य कर्म का बन्ध होता है। किन्तु उनकी ओर विरले ही मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। अत: विरले ही मनुष्य पुण्यकर्म का बन्ध करते हैं।

पुण्ण-जुदस्स वि दीसदि इट्ठ-विओयं-आणिट्ठ संजोयं।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुय-भाएण।।149

पुण्यात्मा जीव के भी इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग देखा जाता है। अभिमानी भरत चक्रवर्ति को भी अपने लघु भ्राता बाहुबली के द्वारा पराजित होना पडा। पहली गाथाओं में पापकर्म से पुण्यकर्म उत्तम बतलाकर पुण्य कर्म की ओर लोगों की प्रवृत्ति न होने की शिकायत की थी किन्तु इसमें कोई यह न समझे कि पुण्यात्मा जीव को सुख ही सुख मिलता है। जिन जीवों के पुण्यकर्म का उदय है, वे भी संसार में दु:खी देखे जाते हैं। उन्हें भी अपने धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, पौत्र, मित्र, आदि इष्ट वस्तुओं का वियोग सहना पडता है और सर्प, कण्टक, शत्रु आदि अनिष्ट वस्तुओं का संयोग हो जाने पर उन्हें दूर करने के लिए रात-दिन चिंता करनी पडती है। अत: यह नहीं समझना चाहिए कि जिनके पुण्यकर्म का उदय है, वे सभी सुखी ही हैं। देखो, भगवान् आदिनाथ के बडे पुत्र सम्राट भरत को अपने ही छोटे भाई बाहुबली से पराजित होना पडा और उनका सब अभिमान धूल में मिल गया

सयलट्ठ-वियस-जोओ बहु-पुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जेणिच्छिदं लहदि।।50

बहुत पुण्य शाली को भी सफल धन, धान्य, आदि पदार्थ तथा भोग पूरी तरह से

प्राप्त नहीं होते हैं। किसी के भी ऐसा पुण्य ही नहीं हैं, जिससे सभी इच्छित वस्तुएँ प्राप्त हो सकें। पूर्वोक्त शुभ कार्यों में प्रवृत्ति से पुण्यकर्म का बन्ध होता है यह पहले कहा है। किन्तु प्रवृत्ति करते हुए भी कुछ न कुछ पाप कर्म भी बँधते ही रहते हैं। फलत: जब तक जीव के साथ घातिकर्म लगे हुए हैं, तब तक पुण्य प्रकृतियों के साथ पाप प्रकृतियाँ भी बँधती ही रहती है; अत: ऐसा कोई क्षण ही नहीं होता जिसमें पुण्य ही पुण्यकर्म का बन्ध होता हो, इसलिए पुण्यात्मा से पुण्यात्मा जीव के साथ भी पाप कर्म लगे ही रहते हैं और उनके कारण महापुण्यशाली जीव को भी संसार के सभी इच्छित पदार्थ प्राप्त नहीं हो सकते।

कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलचंण पुत्त-सम्पती।
अह तेसिं संपत्ति तह वि सरोओ हवे देहो।।51

किसी मनुष्य के तो स्त्री नहीं है, किसी के स्त्री है तो उसके पुत्र नहीं होता है, किसी के पुत्र भी हुआ तो शरीर रोगी रहता है।

अह णीरीओ देहो तो धण-धण्णाण णेय संपत्ती।
अह धण-धण्णं होदि हु तो मरणं इति ढुक्केदि।।52

किसी का शरीर नीरोग हुआ तो धन-धान्य सम्पदा नहीं होती। किसी के धन धान्य भी हुआ तो उसकी मृत्यु शीघ्र हो जाती है।

कस्स वि दुट्ठ कलतं किस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरि-सम-बंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया।।53

किसी की स्त्री दुष्टा है। किसी का पुत्र जुआ आदि दुर्व्यसनों में फंसा हुआ है। किसी के भाई-बन्धु शत्रु के समान बैरी हैं। किसी की पुत्री दुराचारिणी।

मरदि सुपुत्तो कस्स वि कस्स वि महिला विणस्सेदे इट्ठा।
कस्स वि अग्नि-पलितं गिहं कुडंब च डज्झेइ।।54

किसी का सुपुत्र मर जाता है। किसी की प्रिय स्त्री मर जाती है। किसी का घर कुटुम्ब आग में पड़कर भस्म हो जाता है।

एवं मणुय-गदीए णाणा-दुक्खाई विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइं आरंभं णेय परिचयइ।।55

इस प्रकार मनुष्य गति में अनेक दु:खों को सहते हुए भी न तो धर्म में ही मन लगता है, और न आरम्भ ही छोड़ता है।

सधणो वि होदि णिधणो धण-हीणो तह य ईसरो होदि।
राया वि होदि भिच्चो भिच्चो वि च होदि णर णाहो।।56

धनवान् निर्धन हो जाता है। निर्धन धनवान् हो जाता है। राजा सेवक हो जाता

है और सेवक राजा हो जाता है। इस संसार की दशा विचित्र है। जो आज धनवान् है, कल वही निर्धन हो जाता है, और आज निर्धन है कल वही मालिक बन जाता है, अधिक क्या? पलभर में राजा रङ्क हो जाता है और रङ्क राजा हो जाता है। इसका दृष्टान्त जीवन्धर कुमार के पिता सत्यधर की कथा है। विषयासक्त राजा सत्यधर राज-काज का भार अपने मंत्री काष्ठाङ्गार को सोंप दिया था। काष्ठाङ्गार के मन में धूर्तता आई और उसने राजद्रोही बनकर राजमहल को घेरा। उस समय रानी गर्भवती थी। राजा ने रानी को मयूरयंत्र में बैठाकर आकाश मार्ग से चलता कर दिया और स्वयं युद्ध में मारा गया। मयूरयंत्र रानी को लेकर श्मशान भूमि में जा गिरा और वहीं पर रानी ने पुत्र प्रसव किया।

इस घटना का वर्णन करते हुए क्षत्रचूडामणिकार ने ठीक ही कहा है, कि प्रात:काल के समय जिस रानी की पूजा स्वयं राजा ने की थी, संध्या के समय उसी रानी को श्मशान भूमि की शरण लेनी पडी। अत: समझदारों को पाप से डरना चाहिए।

सत्तू वि होदि मित्तो मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू।
कम्म-विवाग- वसादो एसो संसार-सब्भावो ॥57

कर्म के उदय के कारण शत्रु भी मित्र हो जाता है और मित्र भी शत्रु हो जाता है। यही संसार का स्वभाव है। इस संसार में सब कुछ कार्म का खेल है। शुभ कर्म का उदय होने से शत्रु भी मित्र हो जाता है। जैसे रावण का भाई विभीषण रामचंद्र जी का मित्र बन गया था। और अशुभ कर्म का उदय होने से मित्र भी शत्रु हो जाता है। जैसे, वही विभीषण अपने सहोदर रावण का ही शत्रु बन गया था। संसार का यही नग्न स्वरूप है।

देवगति के दु:ख

अह कह वि हवदि देवो तस्स वि जाएदि मानसं दुक्खं ।
दट्ठूण महड्डीणं देवाणं रिद्धि - संपति ॥ 58

अथवा जिस किसी तरह देव होता है, तो महर्द्धिक देवों की ऋद्धि संपदा को देखकर उसे मानसिक दु:ख होता है । मनुष्य गति से निकलकर जिस किसी तरह बडा कष्ट सहकर देव होता है, क्योंकि देव पर्याय पाना सहज नहीं है, तो वहाँ भी अपने से बडे महाऋद्धि के धारक इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवों की विभूति को देखकर मन ही मन झुरता है ।

इट्ठ-विओगं-दुक्खं होदि महड्डीण विसय-तण्हादो ।
विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती॥ 59

महर्द्धिक देवों को विषय सुख की बडी तृष्णा होती है, अत: उन्हें भी अपने प्रिय देव-देवाङ्गनाओं के वियोग का दु:ख होता है । जिनका सुख विषयों के आधीन है, उनकी तृप्ति कैसे हो सकती है ?

स्वर्ग में केवल सामान्य देव ही दु:खी नहीं है किंतु महर्द्धिक देव भी दु:खी हैं । उन्हें भी विषयों की तृष्णा सतत सताती रहती है। अत: जब कोई उनका प्रियजन स्वर्ग से च्युत होता है तो उन्हें उसका बडा दु:ख होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह ठीक ही है क्योंकि जिनका सुख स्वाधीन नहीं है, पराधीन है, तथा जो विषयों के दास हैं, उनको संतोष कैसे हो सकता है ?

सारीरिय -दुक्खादो माणस दुक्खं हवेइ अइ-पउरं।
माणस-दुक्ख-जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुंति॥60

शारीरिक दु:ख से मानसिक दु:ख बडा होता है। क्योंकि जिसका मन दु:खी होता है, उसे विषय भी दु:ख दायक लगते हैं।

शायद कोई यह कहे कि देवों को शारीरिक दु:ख तो प्राय: होता ही नहीं है, केवल मानसिक दु:ख होता है और वह दु:ख साधारण है। तो आचार्य कहते हैं, कि मानसिक दु:ख को साधारण नहीं समझना चाहिये, वह शारीरिक दु:ख से भी बडा है; क्योंकि शारीरिक सुख के सब साधन होते हुए भी यदि मन दु:खी होता है तो सब साधन नीरस और दु:खदायी लगते हैं। अत: देव भी कम दु:खी नहीं हैं।

देवाणं वि य सुक्खं मणहर-विसएहिं जदि हि।
विसय-वसं जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि॥61

यदि देवों का भी सुख मन को हरने वाले विषयों से उत्पन्न होता है तो जो सुख विषयों के आधीन है, वह दु:ख का भी कारण है। सब समझते हैं कि देवलोक में बडा सुख है और किसी दृष्टि से ऐसा समझना ठीक भी है, क्योंकि वैषयिक सुख की दृष्टि से सब गतियों में देवगति ही उत्तम है। किन्तु वैषयिक सुख विषयों के आधीन है और जो विषयों के आधीन है वह दु:ख का भी कारण है। क्योंकि जो विषय आज हमें सुखदायक प्रतीत होते हैं, कल वे ही दु:ख दायक लगने लगते हैं। जब तक हमारा मन उनमें लगता है, जब तक तो वे हमारे मन के अनुकूल रहते हैं, तब तक तो वे हमें सुखदायक मालूम होते हैं, किन्तु मन के उधर से उचटते ही वे दु:खदायक लगने लगते हैं। या आज हमें जो वस्तु प्रिय है, उसका वियोग हो जाने पर वही दु:ख का कारण बन जाती है। अत: विषय सुख-दु:ख का भी कारण है।

चारों गतियों के स्वरूप एवं संख्या

नारक गति:-'गम्यते' गमन करना गति है। ऐसा कहने पर गमन क्रिया करते हुए जीव को प्राप्त कर ने वाले द्रव्य आदि को भी गति कहना सम्भव होगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, गति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न जीव की पर्याय को ही गति माना है। अथवा

गमन गति है, ऐसा कहने पर ग्राम, उद्यान आदि की ओर गमन करने को भी गति कहा जायेगा ? किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि एक भव से दूसरे भव में जाने की ही विवक्षा है। अथवा गमन में जो हेतु है, वह गति है। ऐसा कहने पर गाडी आदि को भी गतिपना प्राप्त होता है। किन्तु ऐसा नही है, क्योंकि भवान्तर के प्रति गमन में कारण गतिनाम कर्म को गति माना है। वह गति उत्तर प्रकृति सामान्य की अपेक्षा एक होने पर भी उत्तर-उत्तर प्रकृति की अपेक्षा नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के भेद से चार प्रकार की है। जिस कारण से जो जीव नरकगति सम्बन्धी अन्नपान आदि द्रव्य में, वहाँ के भूतल रूप क्षेत्र में, प्रथम समय से लेकर अपनी आयु पर्यन्त काल में और चैतन्य के पर्यायरूप भाव में, पूर्वभव के वैर के कारण उत्पन्न हुए क्रोधादि के कारण नवीन और पुराने नारकी परस्पर में रमण नहीं करते, वे जीव नरकी कहलाते हैं। नरत ही स्वार्थ में अण् करने से नारत होते हैं। अथवा जो नरकों में जन्म लेते है वे नारक हैं। जीव की इस प्रकार की नारक पर्याय नरक गति कहते हैं। अथवा जो हिंसा आदि असत् कार्यों के अनुष्ठान से निरत अर्थात् प्रवृत्त है, उनकी गति नरक गति है। अथवा 'नरान्' अर्थात् प्राणियों को'कायति' कष्ट देता है, दुर्गति करता है, बाधा पहुँचाता है, वह नरक कर्म है, उसकी सन्तान नारक है और उनकी गति नारक गति है। अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परस्पर में जो रत नहीं है, वे नरत है। उनकी गति नरक गति है। अथवा निर्गत अर्थात् चला गया है पुण्य जिनसे, वे निरय हैं और उनकी गति निरय गति है। इन व्युत्पत्तियों के द्वारा नरकगति का लक्षण कहा।

(गो. जी. पृ. 278)

तिर्यंचगति स्वरूप :- जिस कारण से जो जीव 'सुविवृत संज्ञा' अर्थात् आहार आदि की प्रकृत संज्ञा वाले होते हैं, प्रभाव-सुख-क्रान्ति-लेश्याविशुद्धि आदि से हीन होने से निकृष्ट हैं, हेय उपादेय के ज्ञान से विहीन होने से अज्ञानी हैं, नित्य निगोद की विवक्षा से अत्यन्त पापबहुल होते हैं, जिस कारण से वे जीव 'तिरोभाव'अर्थात् कुटिलभाव माया परिणामकों 'अंचन्ति'प्राप्त होते हैं, इसलिए उन्हें तिर्यंच कहते हैं। तिर्यंच ही स्वार्थ में अण्प्रत्यय करने से तैरञ्च होते हैं।इस प्रकार की तिर्यंक्पर्याय ही तिर्यक्गति कही गयी है।

मनुष्य गति का स्वरूप : - जिस कारण जो जीव **'नित्य मन्यन्ते'** अर्थात् हेय-उपादेय आदि के भेद को जानते हैं। अथवा **'मनसा निपुणा:'** अर्थात् कला,शिल्प आदि में कुशल होते हैं। अथवा **'मनसा उत्कटा'** अर्थात् अवधान आदि दृढ उपयोगी के धारी है। अथवा मनु के वंशज हैं। इसलिए वे जीव सभी मनुष्य हैं, ऐसा आगम में कहा है।

तिर्यंच गति और मनुष्यगति में जीवों के भेद:-तिर्यंच सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पर्याप्ति तिर्यञ्च, योनिमत् तिर्यंच और अपर्याप्त तिर्यंच इस तरह पाँच

प्रकार के होते हैं तथा मनुष्य भी होते हैं, किन्तु पंचेन्द्रिय नामक भेद मनुष्यों में नहीं होता, अत: वे सामान्य आदि चार ही प्रकार के होते हैं, क्योंकि सभी मनुष्य केवल पंचेन्द्रिय ही होते हैं। अत: तिर्यञ्चों की तरह पंचेन्द्रिय विशेषण से किसी का व्यवच्छेद नहीं होता।

देवगतिका कथन:- किसी कारण से जो जीव नित्य-निरन्तर कुलाचल, महासमुद्र आदि में 'दीव्यन्ति' अर्थात् क्रीडा करते हैं, मत होते हैं, कामाविष्ट होते हैं, अणिमा आदि आठ अमानवीय गुणों से युक्त, धातुमल दोष से रहित, मनोहर शरीरों से जो भासमान हैं, वे जीव परमागम में देव कहे गये हैं।

संसार से विलक्षण सिद्धगति

जन्म, जरा, मरण, भय,अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, दु:ख, संज्ञा, रोग आदि नाना प्रकार की वेदना जिसमें नहीं हैं, वह समस्त कर्मों के सर्वथा विनाश से प्रकट हुई सिद्ध पर्याय रूप सिद्धगति है।

नरक गति में जीवों की संख्या

धर्मा आदि पृथ्वी के भेदों की विवक्षा न करके सभी पृथ्वी के सब नारकी घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से गुणित जगत्श्रेणी प्रमाण है। तथा वंशा आदि नीचे की छह पृथ्वियों में नारकी क्रम से जगत् श्रेणी के बारहवें, दसवें, आठवें, छठे, तीसरे और दूसरे वर्गमूल से जगत् श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने हैं अर्थात् जगत् श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित जगत् श्रेणी प्रमाण दूसरी पृथ्वी के नारकी है। जगत्श्रेणी के दसवें वर्गमूल से भाजित जगत् श्रेणी प्रमाण तीसरे नरक के नारकी हैं। जगत् श्रेणी के आठवें वर्गमूल से भाजित जगत् श्रेणी प्रमाण चतुर्थ पृथ्वी के नारकी हैं । जगत्श्रेणी के छठे वर्गमूल से भाजित जगत्श्रेणी प्रमाण पंचम पृथ्वी के नारकी हैं। जगत्श्रेणी के तीसरे वर्गमूल से भाजित जगत्श्रेणी प्रमाण छठी पृथ्वी के नारकी हैं और जगत्श्रेणी के दूसरे वर्गमूल से भाजित जगत्श्रेणी प्रमाण सातवीं पृथ्वी के नारकी हैं। इस तरह अपने-अपने वर्गमूल का भाग जगत्श्रेणी में देने से जो लब्ध आवे, उतने उस नरक में नारकी हैं। नीचे की वंशा आदि छह पृथ्वीयों की ऊपर कही संख्या का जोड अपने बारहवें वर्गमूल से भाजित साधिक जगत्श्रेणी प्रमाण है। इस राशि को पहले कही सामन्य नारकियों की संख्या में घटाने पर प्रथम नरक के नारकियों का प्रमाण आता है। इस घटाने का त्रैराशिक इस प्रकार है- सामान्य नारकियों का प्रमाण लाने के लिए गुण्य जगत्श्रेणी का प्रमाण है और गुणाकार घनांगुल का द्वितीय वर्गमूल है। इस प्रमाण में से यदि जगत्श्रेणी मात्र घटाना हो, तो गुणाकार में से एक घटाना चाहिए। तब जो जगत्श्रेणी के बारहवाँ वर्गमूल से भाजित साधिक जगत्श्रेणी मात्र घटाना हो तो गुणाकार में से कितना घटाना

चाहिए। ऐसा त्रैराशिक करने पर यहाँ प्रमाणराशि जगत्श्रेणी है, फलराशि एक, इच्छाराशि जगत्श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित जगत्श्रेणी है। सो फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाण राशि का भाग देने पर जगत्श्रेणी के वर्गमूल का साधिक एक का बारहवाँ भाग लब्ध आया। इसे घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल में से घटाकर जो शेष रहे, उससे जगत्श्रेणी को गुणा करने पर प्रथम धर्मा पृथिवी के नारकियों का प्रमाण आता है।

तीसरी आदि सब पृथिवीयों के नारकी दूसरी पृथिवी के नारकियों के असंख्यातवें भाग मात्र ही हैं क्योंकि उनका भागहार अधिक होने से लब्ध कम आता है। इसलिए दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक के नारकियों की संख्या द्वितीय पृथ्वी के नारकियों से कुछ अधिक कही है। इसे सर्व नरक राशि में से घटाने पर प्रथम नरक के नारकियों की संख्या आती है। इस घटाने को अंक संदृष्टि से इस प्रकार जानना। गुण्यराशि 256 और गुणाकार चार हैं। यदि 256 कम करने के लिए गुणाकार चार में से एक घटाया जाता है,तो 256/4 कम करने के लिए कितना घटाना चाहिए। यहाँ फलराशि से इच्छा राशि को गुणा करके प्रमाण राशि से भाग देने पर 1/4 आता है। इसे गुणाकार 4 में से घटाने पर 15/4 आता है। इसे गुण्यराशि 256 से गुणा करने पर 960 लब्ध आता है। इसी तरह अर्थ संदृष्टि से जानना।

तिर्यचगति में जीवों की संख्या :- संसारी जीवों की राशि में से नारकी, मनुष्य और देवों की राशि घटाने पर तिर्यचगति में सामान्य तिर्यञ्चों की राशि का प्रमाण होता है। आगे इन्द्रियमार्गणा में सामान्य पंचेन्द्रिय जीवों की राशिका प्रमाण कहेंगे। उसमें से नारकी, मनुष्य और देव, इन तीन गति के जीवों की राशि घटाने पर जो शेष रहे, उतनी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या है। तथा सामान्य पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों की राशि में से उक्त तीन गति के पर्याप्तकों की राशि घटाने पर तिर्यञ्चगति में पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीवों की राशि होती है।

छह सौ योजन वर्ग का भाग जगत्प्रतर में देने से जो प्रमाण होता है, उतना तिर्यञ्च गति में योनिमती अर्थात् द्रव्यस्त्रियों का प्रमाण होता है। तथा पंचेन्द्रिय तिर्यचों के प्रमाण में पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्चों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे, वह अपर्याप्त पँचेन्द्रिय तिर्यञ्चों का प्रमाण है।

छह सौ योजन के वर्ग के अँगुल पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस से तीन लाख चौबीस हजार करोड को गुणा करने पर जो प्रमाण हो,उतने हैं। इसके प्रदेश संख्यात प्रतरांगुल मात्र होते हैं। यही जगत्प्रतर का भागहार है।

मनुष्य गति में जीव संख्या :- जगत् श्रेणी को सूच्यंगुल के प्रथम वर्ग- मूल

का भाग दो, जो लब्ध आवे उसमें पुन: सूच्यंगुल के तृतीय वर्गमूल का भाग दें। और लब्ध में-से एक घटाने पर जो शेष रहे उतनी सामान्य मनुष्य राशि है। तथा द्विरूप वर्ग धारा सम्बन्धी पंचमवर्ग वादाल प्रमाण है। उसके घन प्रमाण पर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण है। इस राशि को परस्पर में गुणित करने पर जो राशि आती है, उसे अक्षरों के द्वारा अंक रूप में बदलते हैं।

सात कोटि कोटि कोटा कोटी, बानबे लाख अट्ठाईस हजार एक सौ बासठ कोटिकोटी, इक्यावन लाख बयालीस छह हजार सौ तैंतालीस कोटि कोटि, सैंतीस लाख उनसठ हजार तीन सौ चौवन कोटि, उनतालीस लाख पचास हजार तीन सौ छत्तीस 7, 9228162, 5142643,3759354, 3950336, प्रमाण पूर्वोक्त पंचम वर्ग के घनरूप अंक होते हैं। यह ही पर्याप्त मनुष्यों की संख्या है। इसी राशि को पूर्वानुपूर्वी से अक्षरों की संख्या के द्वारा दूसरे रूप में कहा गया है। पर्याप्त मनुष्यों की राशि के तीन चतुर्थ भाग प्रमाण मानुषी अर्थात् द्रव्यस्त्रियों का परिमाण होता है। सामान्य मनुष्यों की राशि में से पर्याप्त मनुष्यों की राशि को घटाने पर अर्पाप्त मनुष्यों का प्रमाण होता है।'मानुषोत्तरपर्वत से पहले ही मनुष्यों का निवास है, ' इस सूत्र कथन के अनुसार पैंतालीस लाख विष्कम्भवाले मनुष्य लोक की 'विक्खम्भवग्ग दह गुण' इत्यादि सूत्र के अनुसार निकाली गयी परिधि एक कोटी बयालिस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन, एक कोस, सतरह सौ छियासठ दण्ड और पाँच अंगुल मात्र होती है। 14230249 योजन 1 क्रो 1766 Xदं, 5अं 1 इसका व्यास के चतुर्याश 45/4 से अर्थात् 1125000 से गुणा करने पर सोलह लाख नौ सौ तीन कोटी, छह लाख चौवन हजार छह सौ एक योजन मात्र , एक योजन के दो सौ छप्पन भागों में-से उन्नीस भाग 160090306546O1-19/256 क्षेत्रफल होता है। इसके अंगुल बनाने के लिए वर्गात्मक होने से एक योजन अंगुल के वर्ग से 768000X 768000 गुणा करने पर नौ हजार चार सौ बयालिस कोटि, कोटिकोटि, इक्यावन लाख चार हजार नौ सौ अडसठ कोटिकोटि उन्नीसलाख तैंतालीस हजार चारसौ कोटि 9442, 5104968, 19434000000000 प्रतरांगुलमात्र होता हैं। ये प्रमाणांगुल हैं। इनके उत्सेधांगुल नहीं करना चाहिए। चतुर्थ काल के आदि में और उत्सर्पिणी के तृतीयकाल के अन्त में तथा विदेह आदि क्षेत्र में आत्मांगुल भी प्रमाणांगुल रूप होता है। इन से पर्याप्त मनुष्यों की संख्या संख्यातगुणी होने पर भी आकाश की अवगाहन शक्ति की विचित्रता में सन्देह नहीं करना।

देवगति के जीवों की संख्या :- तीन सौ योजन के वर्ग का भाग जगत्प्रतर

को देने जो परिमाण हो उतना व्यन्तरों का प्रमाण है। और दो सौ छप्पनांगुल के वर्ग का भाग जगत्प्रतर में देने से जो परिमाण आवे, उतना ज्योतिष्क देवों का प्रमाण होता है।

तीन सौ योजन लम्बा, तीन सौ योजन चौडा और एक प्रदेश ऊँचा क्षेत्र में जितने आकाश के प्रदेश हों, उनका भाग जगत्प्रतर में देने से व्यन्तर देवों का प्रमाण आता है। सो उक्त क्षेत्र के प्रतरांगुल पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस से गुणित इक्यासी हजार कोटि प्रमाण होते हैं। यही जगतत्प्रतर का भागहार है। तथा ज्योतिष्क देवों की संख्या लाने के लिए दो सौ छप्पन अंगुल प्रमाण क्षेत्र के प्रतरांगुल पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस होते हैं। वही जगतत्प्रतर का भागहार है।

घनांगुल के प्रथम वर्गमूल से जगत्श्रेणी को गुणा करने पर जो परिमाण हो, उतना भवनवासी देवों का परिमाण है। तथा घनांगुल के तृतीय वर्गमूल से जगत्श्रेणी को गुणा करने पर जो परिमाण हो, उतना सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों का परिमाण है।

इससे ऊपर सनत्कुमार-माहेन्द्र युगल से लेकर शतार-सहस्रारयुगल पर्यन्त पाँच कल्प युगलों में क्रम से जगत्श्रेणी के ग्यारहवें वर्गमूल से, नवें वर्गमूल से सातवें वर्गमूल से, पाँचवें वर्गमूल से और चतुर्थवर्गमूल से जगत्श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना परिणाम होता है। उससे ऊपर आनत आदि दो कल्पयुगलों में अधोग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरिमा ग्रैवेयकों में, अनुदिश विमानों में और चार अनुत्तरविमानों में-सें प्रत्येक में देव पल्य के असंख्यातवें भाग हैं।

सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों का प्रमाण मनुष्यस्त्रियों की संख्या से तिगुणा है। अथवा अन्य आचार्य के अभिप्राय से सात गुणा है। ज्योतिष्क देवों की राशि में भवनवासी और कल्पवासी देवों से साधिक व्यन्तर देवों की राशि को; जो कि ज्योतिषी देवों के संख्यातवें भाग है, जोडने पर सामान्य देवराशि का प्रमाण होता है।

ज्योतिष्क देवों की राशि से विशेष अधिक सामान्य देवराशि है। उस विशेष अधिक का प्रमाण इस प्रकार है ज्योतिष्क देवराशि के संख्यातवें भाग व्यंतर देवों की राशि, असंख्यात श्रेणीमात्र भवनवासी देवों की राशि, और असंख्यात श्रेणी मात्र वैमानिक देवों की राशि, इन्हें ज्योतिष्क देवों की राशि में जोडने से सामान्य देवराशि का प्रमाण होता है।

गोम्मटसार में वर्णित पंच परिवर्तन

परिवर्तन, परिभ्रमण और संसार ये शब्द एकार्थक है। परिवर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पाँच प्रकार का है।

(1) द्रव्य परिवर्तन :- उनमें-से द्रव्यपरिवर्तन कर्म और नोकर्म के भेद से दो प्रकार का है। नो कर्म परिवर्तन इस प्रकार होता है - तीन शरीर, छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल किसी जीवने एक समय में ग्रहण किये, स्निग्ध- रूक्ष, वर्ण, गन्ध आदि तथा तीव्र, मन्द या मध्यम भाव से जैसे ग्रहण किये, दूसरे आदि समयों में उनकी निर्जरा हो गयी। उसके पश्चात् अनन्त बार अग्रहीत को ग्रहण करके छोडे, अनन्त बार मिश्रको ग्रहण करके छोडे। मध्य में अनन्त बार गृहीत को ग्रहण करके छोडे। तब वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उसी जीव के नोकर्म भावको जब प्राप्त हों, उतना सब काल नोकर्म द्रव्य परिवर्तन होता है।

(गो.जी.का.पेज 788)

पुद्गल परिवर्तन :- पुद्गल परिवर्तन का काल अगृहीतग्रहणाद्धा, ग्रहीतग्रहणाद्धा और मिश्रग्रहणाद्धा के भेद से तीन प्रकार हैं। अग्रहीत ग्रहण के काल को अगृहीतग्रहणद्धा कहते हैं। गृहीतग्रहण के काल को गृहीतग्रहणद्धा कहते हैं और एक साथ गृहीत और अगृहीत के ग्रहण काल को मिश्रग्रहणद्धा कहते हैं। उनके परिवर्तन का क्रम इस प्रकार है- विवक्षित नोकर्म पुद्गल परिवर्तन के प्रथम समय से लेकर निरन्तर अनन्त बार अगृहीत को ग्रहण करके एक बार मिश्र को ग्रहण करता है। पुन: निरन्तर अनन्त बार अगृहीत को ग्रहण करके एक बार मिश्र को ग्रहण करता है। इस प्रकार अनन्त बार मिश्र को ग्रहण करता है। उसके पश्चात् निरन्तर अनन्तबार अगृहीत को ग्रहण करके एक बार गृहीत का ग्रहण करता है। इस प्रकार गृहीत का भी ग्रहण अनन्त बार होने पर प्रथम परिवर्तन होता है। इसकी संदृष्टि इस प्रकार है-

0 0+	0 0+	0 0+	0 0+	0 0 +	0 0+
+ +0	+ +0	+ +1	+ +0	+ + 0	+ +1
+ +1	+ +1	+ +0	+ +1	+ + 1	+ +1
11+	11+	110	11+	11+	110

इसमें अगृहीत का चिन्ह शून्य है, मिश्रण हंसपद है और गृहीत का एक अंक है। दो बार अनन्त बार का सूचक है। प्रथम परावर्तन से मतलब है प्रथम पंक्ति के कोठों की समाप्ति हो गयी, अब आगे चलिए। आगे निरन्तर अनन्त बार मिश्र को ग्रहण करके एक बार अगृहीत का ग्रहण करता है। पुन: निरन्तर मिश्र को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार अगृहीत का ग्रहण करता है। इस तरह अनन्त बार अगृहीत का ग्रहण करता है। उसके

पश्चात् निरन्तर मिश्र को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार गृहीत का ग्रहण करता है। इस प्रकार अनन्त बार गृहीत का ग्रहण होने पर द्वितीय परिर्वतन होता है। आगे निरन्तर मिश्र को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार गृहीत का ग्रहण करता है। पुनः निरन्तर मिश्र को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार गृहीत को ग्रहण करता है।इस प्रकार अनन्त बार गृहीत को ग्रहण करता है। फिर निरन्तर मिश्र को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार अगृहीत का ग्रहण करता है। इस प्रकार अगृहीत का ग्रहण अनन्त बार होने पर तृतीय परिर्वतन होता है। आगे निरन्तर गृहीत को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार मिश्र को ग्रहण करता है। पुनः गृहीत को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार मिश्र को ग्रहण करता है। इस प्रकार अनन्त बार मिश्र को ग्रहण करता है। पुनः निरन्तर गृहित को अनन्त बार ग्रहण करके एक बार अगृहीत का ग्रहण करता है। इस प्रकार अनन्त बार अगृहीत का ग्रहण करने पर चतुर्थ परिर्वतन होता है। उसके अनन्तर समय में विवक्षित नोकर्म पुद्गल परिवर्तन के प्रथम समय में जो अनन्त नोकर्म समयप्रबद्ध पुद्गल ग्रहण किये थे और द्वितीयादि समय में जिनकी निर्जरा कर दी गयी थी, वे ही नोकर्म पुद्गल उसी रूप में ग्रहण किये जाते हैं,तो यह सब मिलाकर नोकर्म पुद्गल परिवर्तन होता है।

कर्म पुद्गलपरिवर्तन

एक समय में किसी जीवने आठ कर्म रूप से जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक आवली के बीतने पर द्वितीयादि समयों में उनकी निर्जरा कर दी। पूर्वोक्त क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उसी जीव के कर्मपने को प्राप्त हो तब तक का काल कर्म पुद्गल परावर्तन कहलाता है। शेष सब विशेष कथन नोकर्म परिवर्तन की तरह जानना। इन दोनों परिवर्तनों के काल समान है। यहाँ अगृहीत ग्रहणकाल अनन्त होने पर भी सबसे थोडा है। क्योंकि जिन पुद्रगलों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का संस्कार नष्ट हो चुका है, उनका बहुत बार ग्रहण नहीं होता है। इससे यह कहा गया है कि विवक्षित पुद्गल- परावर्तन के मध्य में गृहीतों का ही बहुत बार ग्रहण होता है। कहा भी है- जो कर्म रूप परिणत पुद्गल थोडी स्थिति को लिए हुए जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित होते हैं और निर्जरा के द्वारा कर्म रूप से छूट जाते हैं जिनका आकार कहने में नहीं आता तथा विवक्षित परावर्तन के प्रथम समय में जो स्वरूप कहा है, उस स्वरूप से रहित हो वे ही जीव के द्वारा अधिकतर ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि वे द्रव्यादि रूप चार प्रकार के संस्कार से युक्त होते हैं।

अगृहीत ग्रहण के काल से मिश्र ग्रहण का काल अनन्तगुणा है। उससे गृहीत ग्रहण का जघन्य काल अनन्तगुणा है। उससे पुद्गल परिवर्तन का जघन्य काल विशेष अधिक है। जघन्य गृहीत ग्रहण काल को अनन्त से भाजित करने पर जो प्रमाण आवे,

उतना उसमें जोडने पर जघन्य पुद्गल परिवर्तन काल होता है। उससे उत्कृष्ट गृहीतग्रहण का काल अनन्तगुणा है। उससे उत्कृष्ट पुद्गलपरार्वन काल विशेष अधिक है। उत्कृष्ट गृहीत ग्रहण काल में अनन्त से भाग देने पर जो प्रमाण आवें, उतना उत्कृष्ट गृहीत ग्रहणकाल में मिलाने पर उत्कृष्ट पुद्गल परावर्तन काल होता है। यहाँ अगृहीत ग्रहण काल और मिश्र ग्रहण काल में जघन्य और उत्कृष्टपना नहीं है, ऐसा जानना, क्योंकि उस प्रकार के उपदेश का अभाव है। यहाँ उपयोगी गाथा का अर्थ इस प्रकार है- जो द्रव्य परिवर्तन में स्पष्ट कर आये हैं कि पहला अगृहीत मिश्र गृहीत, दूसरा मिश्र अगृहीत गृहीत, तीसरा मिश्र गृहीत अगृहीत और चतुर्थ गृहीत मिश्र अगृहीत है, इस क्रम से ग्रहण करता है। पुद्गलपरिवर्तन रूप संसार में एक जीव ने अनन्त बार सब पुद्गलों को ग्रहण करके छोड दिया है।

(2) *क्षेत्रपरिवर्तन*

क्षेत्रपरिवर्तन भी स्व और पर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें- से स्वक्षेत्रपरिवर्तन को कहते हैं-कोई जीव सूक्ष्मनिगोद की जघन्य अवगाहना से उत्पन्न हुआ। अपनी स्थिति श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण जीवित रहकर मर गया। पुनः एक प्रदेश अधिक उसी अवगाहना से उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार दो आदि प्रदेश अधिक अवगाहना के क्रम से महामत्स्य की अवगाहना पर्यन्त संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहना के विकल्प उसी जीव ने जब तक धारण किये वह सब मिलकर स्वक्षेत्र परिवर्तन होता है।

परक्षेत्र परिवर्तन

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक सबसे जघन्य अवगाहना वाले शरीर के साथ लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य आठ प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ । क्षुद्रभव काल तक जीकर मरा। वहीं पुन: उसी अवगाहना के साथ दुबारा, तिबारा, चौबारा उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार घनागुंल के असंख्यात वें भाग बार वहाँ उत्पन्न हुआ। पुन: एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते समस्त लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना लेता है। यह सब परक्षेत्र परिर्वतन है। क्षेत्र संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव ने बहुत-सी अवगाहनाओं के द्वारा समस्त जगत् के क्षेत्र को अपना जन्म स्थान बनाया, कोई क्षेत्र उत्पन्न होने से शेष नहीं रहा। ऐसी कोई अवस्था रूपी अवगाहना नहीं रही जो अनेक बार धारण नहीं की।''

काल-परिवर्तन

कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु समाप्त होने पर मर गया। पुनः दूसरी उत्सर्पिणी तीसरे के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु पूर्ण कर मर गया। पुन: तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और उसी प्रकार आयु समाप्त होने पर मरा। पुन: चतुर्थ उत्सर्पिणी के चतुर्थ समय में उत्पन्न

हुआ। इसी क्रम से उत्सर्पिणी के सब समयों में उत्पन्न होकर उत्सर्पिणी को समाप्त करता है तथा इसी क्रम से अवसर्पिणी काल के सब समयों में उत्पन्न होकर अवसर्पिणी समाप्त करता है। इस प्रकार निरन्तर जन्म लेने का कथन किया। इसी प्रकार क्रम से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में मरण भी करना चाहिए। यह सब काल-परिवर्तन है। '' काल संसार में अनन्त बार भ्रमण करता हुआ जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सब समयों में क्रम से उत्पन्न हुआ और मरा।''

भवपरिवर्तन- नरक गति-में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। उस आयु से नरक में उत्पन्न हुआ। पुन: संसार में भ्रमण करके उसी आयु से वही उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्ष के समयों की जितनी संख्या है, उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मरा। पुन: एक-एक समय बढाते-बढाते तेंतीस सागर पूर्ण किये। फिर तिर्यंच गति में अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त के जितने समय है उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ फिर एक-एक समय की आयु बढाते-बढाते उसी जीव ने तीन पल्य तक सब आयु भोग डाली। इसी प्रकार मनुष्यगति में भी उसी जीव ने तीन पल्य तक की सब आयु भोगकर समाप्त की। नरकगति की तरह देवगति में भी दस हजार वर्ष के समय प्रमाण दस हजार वर्ष की आयु में उत्पन्न होकर उसे भोगने के पश्चात् एक-एक समय की आयु क्रम से बढाते-बढाते इकत्तीस सागर की आयु पूर्ण की। इस प्रकार भ्रमण करने के पश्चात् आकर पुन: पूर्वोक्त जघन्यस्थिति वाला नारकी होकर नया भवपरिवर्तन प्रारम्भ करता है। तब यह सब भव परिवर्तन होता है। ''मिथ्यात्व के उदय से जीव ने नरक की जघन्य आयु से लेकर उपरिमग्रवैयक तक की आयु प्रमाण भवस्थितियाँ अनेक बार भोगी।

भावपरिवर्तन- कोई पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव अपने योग्य सबसे जघन्य ज्ञानावरण कर्म की अन्त: कोटा कोटि सागर प्रमाण स्थिति का बन्ध करता है। एक कोटि सागर के ऊपर और कोटाकोटि सागर के मध्य को अन्त: कोटाकोटि सागर कहते हैं। उस जीव के जघन्य स्थितिबन्ध के योग्य छह प्रकार की हानि-वृद्धि को लिये असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसाय-स्थान होते हैं तथा सर्व जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान में निमित्त असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान और सबसे जघन्य योगस्थान होता है। पुन: उन्हीं स्थिति कषायाध्यवसाय और अनुभाग स्थानों का असंख्यात भाग वृद्धि को लिए हुए दूसरा योगस्थान होता है। इस प्रकार असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि नामक चतु:स्थान वृद्धि को लिये हुए श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान

होते हैं। इन समस्त योगस्थानों के समाप्त होने पर वही स्थिति, वही कषायाध्यवसाय स्थान को प्राप्त जीव के द्वितीय अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी योगस्थान पूर्वोक्त ही जानना। इस प्रकार तृतीय आदि असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागस्थानों के भी समाप्ति पर्यन्त प्रत्येक अनुभाग स्थान के साथ सब योगस्थान लगाना चाहिए। उनके भी समाप्त होने पर उसी स्थिति का बन्ध करने वाले जीव के दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान और योगस्थान पूर्व की तरह जानना। इस प्रकार तृतीय आदि असंख्यात लोकप्रमाण कषायध्यवसायस्थानों की समाप्ति पर्यन्त अनुभाग स्थानों और योगस्थानों की आवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति के साथ सबकी आवृत्ति होने पर एक समय अधिक अन्त कोटाकोटि की स्थिति बाँधता है। उसके भी कषायाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान योगस्थान जानना। इस प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थिति के भी स्थिति बन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान और योगस्थान जानना। इसी प्रकार आठों मूल कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियों का भी परिवर्तन क्रम जानना । यह सब मिलकर भाव परिवर्तन है।

योगस्थान, अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थिति स्थानों के परिवर्तन में भाव परिवर्तन होता है। आत्मा के परिवर्तन से भाव परिवर्तन होता हैं आत्मा के प्रदेशों के परिस्पन्द को योग कहते हैं। यह प्रकृति और प्रदेश बन्ध में कारण होता है। इन योगों के जघन्य आदि स्थानों को योगस्थान कहते हैं। जिन कषाययुक्त परिणामों से कर्मो में अनुभागबन्ध होता है, उनके जघन्य आदि स्थान अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान है जिन कषाय परिणामों से स्थितिबन्ध होता है, उनके जघन्य आदि स्थान कषायाध्यवसायस्थान हैं, इन्हीं को स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान भी कहते हैं। कर्मो की स्थिति जघन्यादि स्थानों को स्थिति स्थान कहते हैं। एक-एक स्थिति भेद के बन्ध के कारण असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं। एक-एक कषायाध्यवसाय-स्थान के असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं। एक-एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान के जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग/योगस्थान होते हैं।

सर्व प्रकृति स्थित्यनुभागप्रदेशबन्ध योग्यानि।
स्थानान्यनुभूतानि भ्रमता भुवि भाव संसारे॥

'भाव संसार में भ्रमण करते हुए जीव ने सब प्रकृतियों के स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध के योग्य स्थानों का अनुभव किया। सबसे जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त तत्सम्बन्धी स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान, अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान और

योगस्थान जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त स्थापित करके जैसे पहले प्रमादों में अक्षसंचार कहा है, उसी क्रम से भाव संसार में अनुभूत स्थिति आदि सम्बंधी स्थिति बन्धाध्यवसाय आदि को साधना चाहिए। **यहाँ एक पुद्गलपरावर्तन काल सबसे थोडा अर्थात् अनन्त है। उससे क्षेत्र परिवर्तन काल अनन्त गुणा है। उससे काल परिवर्तन का काल अनन्त गुणा है। उससे भव परिवर्तन का काल अनन्त गुणा है। उससे भाव परिवर्तन काल अनन्त गुणा है। इसी से एक जीव के अतीत काल में भावपरिवर्तन सबसे थोडे हुए अर्थात् अनन्त बार हुए। उनमें भव परिवर्तन अनन्त गुणी बार हुए। उनसे काल परिवर्तन अनन्तगुणी बार हुए। क्षेत्र परिवर्तन उससे भी अनन्तगुणी बार और द्रव्य परिवर्तन उनसे अनन्त गुणी बार हुए।**

पञ्चविधे संसारे कर्मवशाज्जैनदर्शितं मुक्तेः।
मार्गंपश्यन् प्राणी नाना दुःखा कुले भ्रमति॥

जिनमत के द्वारा दिखाये गये मुक्ति मार्ग का श्रद्धान न करता हुआ प्राणी अनेक प्रकार के दुःखों से भरे पाँच प्रकार के संसार में भ्रमण करता है।

एवं सुट्ठु असारे संसारे दुक्ख-सायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छयदो॥62

इस प्रकार परमार्थ से विचार करने पर ,सर्वथा असार, दुःखों के सागर इस भयानक संसार में क्या किसी को भी सुख है? चारगति रूप संसार में सुख-दुःख का विचार करके आचार्य पूछते हैं कि निश्चयनय से विचार करके देखो कि इस संसार में क्या किसी को भी सच्चा सुख प्राप्त है? जिन्हें हम सुखी समझते हैं, वस्तुतः वे भी दुःखी ही हैं। दुःखों के समुद्र में सुख कहाँ?

दुक्किय-कम्म-वसादो राया वि य असुइ-कीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रई पेक्खह मोहस्स माहप्पं॥63

पाप कर्म के उदय से राजा भी मरकर विष्ठा का कीडा होता है,और उसी विष्ठा में रति करने लगता है। मोह का माहात्म्य तो देखो।

विदेह देश में मिथिला नाम की नगरी है। उसमें सुभोग नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था। उन दोनों के देवरति नाम का युवा पुत्र था। एक बार देवकुरु नाम के तपस्वी आचार्य संघ के साथ मिथिला नगरी के उद्यान में आकर ठहरे। उनका आगमन सुनकर राजा सुभोग मुनियों की वन्दना करने के लिये गया और आचार्य को नमस्कार करके उनसे पूछने लगा-मुनिराज ! मैं यहाँ से मरकर कहाँ जन्म लूगाँ? राजा का प्रश्न सुनकर मुनिराज बोले-' हे राजेन्द्र ! आज से सातवें दिन बिजली के गिरने से

तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी और तुम मरकर अपने शौचालय में टट्टी के कीडे होओगे। हमारे इस कथन की सत्यता का प्रमाण यह है, कि आज तुम यहाँ से जाते हुए जब नगर में प्रवेश करोगे तो मार्ग में एक भौंरेकी तरह काले कुत्ते को देखोगे।' मुनि के वचन सुनकर राजा ने अपने पुत्र को बुलाकर उससे कहा,'पुत्र ! आज से सातवें दिन मरकर मैं अपने शौचालय में टट्टी का कीडा हूँगा। तुम मुझे मार देना।' पुत्र से ऐसा कहकर राजा ने अपना राजपाट छोड दिया और बिजली गिरने के भय से जल के अन्दर बने हुए महल में छिपकर बैठ गया। सातवें दिन बिजली के गिरने से राजा की मृत्यु हो गई और वह मरकर अपने शौचालय के विष्ठा में सफेद कीडा हुआ। पुत्र ने जैसे ही उसे देखा और वह उसे मारने को प्रवृत्त हुआ, वह कीडा विष्ठा में घुस गया। संसार की यह विचित्रता देखकर पुत्र को बडा अचरज हुआ और वह विचारों में डूब गया। संसार की यह स्थिति कितनी करुणा जनक है।

पुत्तो वि भाउ जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि।
माया होदि सवत्ती जणणो वि य होदि भत्तारो॥64
एयम्मि भवे एदे संबंधा होति एय-जीवस्स।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्म-रहिदाणं॥65

पुत्र भी भाई होता है। वह भाई भी देवर होता है। माता सौत होती है। पिता भी पति होता है। जब एक जीव के एक ही भव में ये नाते होते हैं,तो धर्मरहित जीवों के दूसरे भव में कहना ही क्या है?

जं किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणाम-सरुवेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि॥4 पृ . 3 का.अ.

जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है,उसका विनाश नियम से होता है। पर्याय रूप से कुछ भी नित्य नहीं है।

जो कुछ भी वस्तु उत्पन्न हुई है, अर्थात् जिसका जन्म हुआ है, उसका विनाश नियम से होता है। पर्याय रूप से चाहे वह स्वभावपर्याय हो अथवा विभावपर्याय हो-कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। गाथा में एक'अपि' शब्द अधिक है। वह ग्रन्थकार के इस अभिप्राय को बतलाता है कि वस्तु द्रव्यत्व और गुणत्व की अपेक्षा से कथंचित् नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से कथंचित् अनित्य है। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य कुछ भी नहीं है। गाथा के पूर्वार्द्ध से ग्रन्थकार ने उन्हीं वस्तुओं को अनित्य बतलाया है, जो उत्पन्न होती हैं, जिन्हें उत्पन्न होते और नष्ट होते हम दिन रात देखते हैं । स्थूल बुद्धि वाले मनुष्य भी जिन्हें अनित्य समझते हैं। किन्तु उत्तरार्द्ध से वस्तु मात्र को अनित्य बतलाया है। जिसका खुलासा इस प्रकार है- जैन दृष्टि से प्रत्येक वस्तु-द्रव्य, गुण और पर्यायों का एक समुदाय मात्र है। गुण

और पर्यायों के समुदाय से अतिरिक्त वस्तु नाम की कोई पृथक् चीज नहीं है। यदि संसार की किसी भी वस्तु की बुद्धि और यंत्रों के द्वारा परीक्षा की जाये तो उसमें गुण और पर्याय के सिवा कुछ भी प्रमाणित न हो सकेगा। अथवा यदि किसी वस्तु में से उसके सब गुणों और पर्यायों को अलग कर लिया जाये तो अन्त में शून्य ही शेष रह जायेगा। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि गुण कोई जुदी चीज है और पर्याय कोई जुदी चीज है, और दोनों के मेल से एक वस्तु तैयार होती है। यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये कि गुण और पर्याय की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वस्तु एक अखण्ड पिण्ड है, बुद्धि भेद से उसमें भेद की प्रतीति होती है। किन्तु वास्तव में वह भेद नहीं है। जैसे सोने में पीलेपन का एक गुण है और तिकोर, चौकोर, कटक, केयूर आदि उसकी पर्यायें है। सोना सर्वदा अपने गुण पीलेपना और किसी न किसी पर्याय से विशिष्ट ही रहता है। सोने से उसके गुण और पर्याय को क्या किसी ने कभी पृथक् देखा है? और क्या पीलेपना गुण और किसी भी पर्याय के बिना कभी किसी ने सोने को देखा है, अत: पीतता आदि गुण और कटक आदि पर्यायों से भिन्न सोने का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, और न सोने से भिन्न उन दोनों का कोई अस्तित्व है। अत: वस्तु गुण और पर्यायों के एक अखण्ड पिण्ड का नाम है। उसमें से गुण तो नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती है। जैसे, सोने में पीलेपना सर्वदा रहता है, किन्तु उसकी पर्यायें बदलती रहती है, कभी उसका कडा बनाया जाता है, कभी कडे को गलाकर अंगूठी बनाई जाती है। इस प्रकार जीव में ज्ञानादिक गुण सर्वदा रहते है, किन्तु उसकी पर्याय बदलती रहती है। कभी वह मनुष्य होता है, कभी तिर्यञ्च होता है और कभी कुछ और होता है। इस प्रकार जिन वस्तुओं को हम नित्य समझते हैं, वे भी सर्वथा नित्य नहीं है। सर्वथा नित्य का मतलब होता है उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन न होना, सर्वदा ज्यो का त्यों कूटस्थ बने रहना। किन्तु संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो सर्वदा ज्यों की त्यों एक रूप ही बनी रहे और उसमें कुछ भी फेरफार न हो। हमारी आँखों से दिखाई देने वाली वस्तुओं में प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहा है, वह तो स्पष्ट ही है, किन्तु जिन वस्तुओं को हम इन चर्मचक्षुओं से नहीं देख सकते, जैसे कि सिद्धपरमेष्ठी उनमें भी परपदार्थो के निमित से तथा अगुरुलघु नामके गुण के कारण प्रतिसमय फेरफार (परिवर्तन) होता रहता है। इस प्रतिक्षण की परिवर्तनशीलता को दृष्टि में रखकर ही बौद्ध धर्म में प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना गया है। किन्तु जैसे कोई वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, वैसे ही सर्वथा क्षणिक भी नहीं है। सर्वथा क्षणिक का मतलब होता है वस्तु का समूल नष्ट हो जाना , उसका कोई भी अंश बाकी न बचना। जैसे,घडे के फूटने से ठीकरे हो जाते हैं। यदि ये ठीकरे भी बाकी न बचें तो घडे को सवर्था क्षणिक कहा जा सकता है। किन्तु घडे का रुपान्तर ठीकरे होने से तो यही मानना

पडता है कि घडा घडा रूप से अनित्य है, क्योंकि उसके ठीकरे हो जाने पर घडे का अभाव हो जाता है। किन्तु मिट्टी की दृष्टि से वह नित्य है,क्योंकि जिस मिट्टी से वह बना है, वह मिट्टी घडे के साथ ही नष्ट नहीं हो जाती। अत: प्रत्येक वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य।

जन्म- यौवन-मरण-अनुबन्ध

जन्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं जरा-सहियं।
लच्छी विणास- सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥5

जन्म मरण के साथ अनुबद्ध होता है, यौवन बुढापे के साथ सम्बद्ध होता है और लक्ष्मी विनाश के साथ अनुबद्ध होती है। इस प्रकार सभी वस्तुओं को क्षणभङ्गुर जानो। प्रसिद्ध कहावत है कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। आज तक कोई भी प्राणी ऐसा नहीं देखा गया जो जन्म लेकर अमर हुआ हो। अत: जीवन और मरण का साथ है। जीवन और मरण की ही तरह जवानी और बुढापे का भी साथ है। आज जो जवान है, कुछ दिनों के बाद वह बूढा हो जाता है।सदा जवान कोई नहीं रहता। अत: जवानी जब आती है तो अकेली नहीं आती, उसके पीछे-पीछे बुढापा भी आता है। इसी प्रकार लक्ष्मी और विनाश का भी साथ है। आज जो धनी है, कल उसे ही निर्धन देखा जाता है। सदा धनवान कोई नहीं रहता। यदि ऐसा होता तो राजसिंहासन पर बैठने वाले नरेशों को पथ का भिखारी न बनना पडता। अत: क्या जीवन, क्या यौवन और क्या लक्ष्मी, सभी-सभी वस्तुएँ नष्ट होने वाली हैं।

परिवार, शरीरादि अस्थिर

अथिरं परियण-सयणं पुत्तं-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥6

परिवार, बन्धु-बान्धव, पुत्र, स्त्री, भले मित्र, शरीर की सुन्दरता, घर, गाम, बैल वगैरह सभी वस्तुएँ नये मेघ पटल के समान अस्थिर हैं। अर्थात् जैसे नये मेघों का पटल क्षणभर में इधर-उधर उडकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही कुटुम्ब वगैरह भी जीते जी की माया है।

सुरधणु-तडिव्व चवला इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गा य।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे तुरय- गया रहवरादी य ॥7

इन्द्रियों के विषय, भले नौकरों का समूह तथा घोडे, हाथी, उत्तम रथ वगैरह सभी वस्तुएँ इन्द्रधनुष और बिजली की तरह चञ्चल हैं, पहले दिखाई देते हैं,बाद में नष्ट हो जाते हैं। भावार्थ- जैसे आकाश में इन्द्रधनुष और बिजली पहले दिखाई देती है, पीछे तुरन्त ही नष्ट हो जाती है, वैसे ही स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषय, आज्ञाकारी सेवक तथा अन्य ठाट-चार दिनों का मेला है।

पंथे पहिय- जणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं।
बंधु-जणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ ॥8

जैसे मार्ग में पथिकजनों का संग-साथ क्षणभर के लिये हो जाता है, वैसे ही बन्धु जनों का सयोग भी अस्थिर होता है। यह संसार एक मार्ग है और उसमें भ्रमण करने वाले प्राणी उसके पथिक हैं। उसमें भ्रमण करत हुए किन्ही प्राणियों का परस्पर में साथ हो जाता है, जिसे हम सम्बध कहते हैं । उस संम्बध के बिछुडने पर सब अपने-अपने मार्ग से चले जाते हैं। अत: कुटुम्बीजनों का संयोग पथिकजनों के संयोग के समान ही अस्थिर है।

अइलालिओ वि देहो ण्हाण-सुयंधेहिं विविह - भक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ जल भरिओ आम -घडओ व्व॥9

स्नान और सुंगधित द्रव्यों से तथा अनेक प्रकार के भोजनों से लालन पालन करने पर भी जल से भरे हुए कच्चे घडे के समान यह शरीर क्षण मात्र में ही नष्ट हो जाता है।

यह शरीर भी अस्थिर है । इसे कितना ही शृङ्गारित करो और पुष्ट करो किन्तु अन्त में एक दिन यह भी मिट्टी में मिल जाता है।

सम्पत्ति भी अस्थिर

जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बंधेइ रइं इयर-जणाणं अपुण्णाणं।।10

जो लक्ष्मी पुण्यशाली चक्रवर्तियों के भी सदा नहीं रहती, वह भला पुण्यरहित अन्य साधारण जनों से प्रेम कैसे कर सकती है। राजागण बडे पुण्यशाली होते हैं, किन्तु उनकी भी लक्ष्मी, हाथी, घोडा, रथ, प्यादे, कोष, रत्न वगैरह सम्पदा स्थायी नहीं होती है। इसी दशा में जिन साधारण मनुष्यों के पुण्य का उदय ही नहीं है, उनसे वह चंचला लक्ष्मी कैसे प्रीति कर सकती है? सारांश यह है कि जब बडे-बडे पुण्यशालियों की विभूति ही स्थिर नहीं है तब साधारण जनों कि लक्ष्मी की तो कथा ही क्या है?

कत्थ वि ण रमइ लच्छी कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य सुवत्त -सुयणे महासत्ते॥11

यह लक्ष्मी कुलीन, धैर्यशील, पण्डित, शूरवीर, पूज्य, धर्मात्मा, सुन्दर, सज्जन, पराक्रमी आदि किसी भी पुरुष में अनुरक्त नहीं होती।

यह लक्ष्मी गुणीजनों से भी अनुराग नहीं करती है। सम्भवत: गुणीजन ऐसा सोचे कि हम उत्तम कुल के हैं, धीरजवान हैं, समस्त शास्त्रों के जानने वाले हैं, बडे शूरवीर हैं, संसार हमें पूजता है, हम बडे धर्मात्मा हैं, हमारा रूप कामदेव के समान है, हम सदा दूसरों का उपकार करने में तत्पर रहते हैं, बडे पराक्रमी हैं, अत: हमारी लक्ष्मी सदा बनी रहेगी।

हमारे पाण्डित्य, शूरवीरता, रूप और पराक्रम वगैरह से प्रभावित होकर कोई उसे हमसे न छीनेगा। किन्तु ऐसा सोचना मूर्खता है; क्योंकि ऐसे पुरुषों में भी लक्ष्मी का अनुराग नहीं देखा जाता, वह उन्हें भी छोडकर चली जाती है।

ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ॥12

यह लक्ष्मी पानी में उठने वाली लहरों के समान चञ्चल है, दो तीन दिन तक ठहरने वाली है। तब तक इसे भोगों और दयालु होकर दान दो।

जैसे पानी की लहरे आती है और जाती है, वैसे ही इस लक्ष्मी की भी दशा जाननी चाहिए । यह अधिक दिनों तक एक स्थान पर नही ठहरती है। अत: जब तक यह बनी हुइ है तब तक इसे खूब भोगों और अच्छे कामों में दान दो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो यह यों ही नष्ट हो जायेगी । क्योंकि कहा है कि धन की तीन गति होती हैं- दान दिया जाना, भोग होना और नष्ट हो जाना। जो उसे न दूसरों को देता है और न स्वयं भोगता है, उसके धन की तीसरी गति होती है। अत: सम्पत्ति पाकर उसका उचित उपयोग करो।

सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं करने वाला आत्म वंचक

जो पुण लच्छिं संचदि ण य भुंजदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिण्फलं तस्स॥13

जो मनुष्य लक्ष्मी का केवल संचय करता है, न उसे भोगता है और न जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम पात्रों में दान देता है, वह अपनी आत्मा को ठगता है और उसका मनुष्य पर्याय में जन्म लेना वृथा है।

मनुष्य पर्याय केवल धन सञ्चय करने के लिए नहीं है। अत: जो मनुष्य इस पर्याय को पाकर केवल धन एकत्र करने में ही लगा रहता है, न उसे भोगता है और न पात्र दान में ही लगाता है, वह अपने को ही ठगता है; क्योंकि वह धनसञ्चय को ही कल्याण कारी समझता है, और समझता है कि यह मेरे साथ रहेगा। किन्तु जीवन भर धनसञ्चय करके जब वह मरने लगता है तो देखता है कि उसके जीवन भर की कमाई वहीं पडी हुई है और वह उसे छोडे जाता है तब पछताता है। यदि वह उस संचित धन को अच्छे कामों में लगाता रहता तो उसके शुभ कर्म तो उसके साथ जाते। किन्तु उसने तो धन को ही सब कुछ समझकर उसी के कमाने में अपना सारा जीवन गँवा दिया। अत: उसका मनुष्य जन्म व्यर्थ ही गया।

जो संचिऊण लच्छिं धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण- समाणियं कुणदि॥14

जो मनुष्य लक्ष्मी का संञ्चय करके पृथिवी के गहरे तल में उसे गाड देता है, वह मनुष्य उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है।

प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य रक्षा के विचार से धन को जमीन के नीचे गाड देते हैं। किन्तु ऐसा करने वे मनुष्य उस लक्ष्मी को पत्थर के समान बना देते हैं। क्योंकि जमीन के नीचे ईंट, पत्थर वगैरह ही गाडे जाते हैं।

अणवरयं जो संचिदि लच्छिं ण य देदि णेय भुंजेदि।
अप्पणिया वि य लच्छी पर-लच्छिं समाणिया तस्स ॥15

जो मनुष्य सदा लक्ष्मी का सञ्चय करता रहता है, न उसे किसी को देता है और न स्वयं ही भोगता है उस मनुष्य की अपनी लक्ष्मी भी पराई लक्ष्मी के समान है।

जैसे पराये धन को हम न किसी दूसरे को दे ही सकते हैं और न स्वयं भोग सकते हैं, वैसे ही जो अपने धन को भी न किसी दूसरे को देता है और न अपने ही लिए खर्च करता है, उसका अपना धन भी पराये धन के समान ही जानना चाहिए। वह तो केवल उसका रखवाला है।

लच्छी संसत्तमणो जो अण्पाणं धरदि कट्टेण।
सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि मूढप्पा॥16

जो मनुष्य लक्ष्मी में आसक्त होकर कष्ठ से अपना जीवन बिताता है, वह मूढ राजा और अपने कुटुंबियों का काम साधता है।

मनुष्य धन कमाने के लिए बडे-बडे कष्ठ उठाता है। परदेश गमन करता है। समुद्र यात्रा करता है, कडकडाती हुई धूप में खेत में काम करता है, लडाई में लडने जाता है। इतने कष्टों से धन कमाकर भी जो अपने लिए उसे नहीं खर्चता केवल जोड-जोड कर रखता है, वह मूर्ख, राजा और कुटुंबियों का काम बनाता है, क्योंकि मरने के बाद उसके जोडे हुए धन को या तो कुटुम्बी बाँट लेते हैं या लावारिस होने पर राजा ले लेता है।

सम्पत्ति के गुलाम

जो वड्ढारदि लच्छिं बहु- विह -बुद्धिहिं णेय तिप्पेदि।
सव्वरंभं कुव्वदि रन्ति-दिणं तं पि सुवदि रयणीए॥17
ण य भुंजदि बेलाए चिंतावत्थो ण सुवदि रयणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि विमोहिदो लच्छि-तरुणीएँ॥18

जो पुरुष अनेक प्राकर की चतुराईयों से अपनी लक्ष्मी को बढाता है, उससे तृप्त नहीं होता है, असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि सब आरम्भों को करता है, रात-दिन उसकी चिन्ता करता है, न समय पर भोजन करता है और न चिंता के कारण सोता है,

वह मनुष्य लक्ष्मी रुपी तरुणी पर मोहित होकर उसकी दासता करता है।

जिस मनुष्य को कोई तरुण स्त्री मोह लेती है, वह मनुश्य उसके इशारे पर नाचने लगता है, उसके लिए वह सब कुछ करने को तैयार रहता है, में रात-दिन उसे उसी का ध्यान रहता है उठते, सौते-जागते उसे उसी की चिंता सताती रहती है, वह उसका खरीदा हुआ दास बन जाता है । इसी प्रकार जो मनुष्य लक्ष्मी के सञ्चय में ही दिन रात लगा रहता है। उसके लिए अच्छे बुरे सभी काम करता है। में इस की चिंता के द्वारा न खाता है, न सोता है, वह लक्ष्मी का दास है। उसके भाग्य में लक्ष्मी की दासता करना ही लिखा है, मालिकी नहीं लिखी ।

जो वड्ढामाण लच्छिं अणवरयं देदि धम्म कज्जेसु।
सो पंडिएहि थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी॥19

जो मनुष्य अपनी बढती हुई लक्ष्मी को सर्वदा धर्म के कामों में देता रहता है, उसकी लक्ष्मी सफल है और पण्डित भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा और चार प्रकार का दान आदि शुभ कार्यो में लक्ष्मी का लगाना सफल है । अत: धनवानों को धर्म और समाजके उपयोगी कार्यों में अपनी बढती हुई लक्ष्मी को लगाना चाहिये।

एवं जो जाणिन्ता विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥20

इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य समझकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और बदले में उनसे किसी प्रत्युपकार की वाञ्छा नहीं करता, उसी का जीवन सफल है।

ग्रन्थकार ने इस गाथा के द्वारा उस उत्कृष्ट दान की चर्चा की है, जिसकी वर्तमान में अधिक आवश्यकता है। हमारे बहुत से साधर्मी भाई आज गरीबी और बेकारी से पीडित हैं किन्तु उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। धनी लोग नाम के लिए हजारों रूपये व्यर्थ खर्च कर देते हैं, पदवियों की लालसा से अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिये पैसे को पानी की तरह बहाते हैं, आवश्यकता न होने पर भी मान कषाय के वशीभूत होकर नये-नये मन्दिरों और जिनबिम्बों का निर्माण कराते हैं किन्तु अपने ही पडोस में बसने वाले गरीब साधर्मियों के प्रति सहानुभूति के चार शब्द कहते हुए भी उन्हें संकोच होता है। जो उदार धनिक वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर, किसी प्रकार के स्वार्थ के बिना अपने दीन-हीन साधर्मी भाईयों की सहायता करते हैं उनकी जीविका का प्रबन्ध करते हैं, उनके बच्चों की शिक्षा में धन लगाते हैं उनकी लडकियों के विवाह में सहयोग देते हैं और कष्ट में उनकी बात पूछते हैं, उन्हीं का जीवन सफल है ।

जल-बुब्बुय-सारिच्छं धण-जोव्वण-जीवियं पि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइ-बलिओ मोह-माहण्णे ॥21

धन, यौवन और जीवन को जल के बुलबुले के समान देखते हुए भी लोग उन्हें नित्य मानते हैं। मोह का माहात्म्य बडा बलवान है।

सब जानते हैं कि धन सदा नहीं रहता है, क्योंकि अपने जीवन में सैंकडों अमीरों को गरीब होते हुए देखते हैं। सब जानते हैं कि यौवन चार दिन की चाँदनी है, क्योंकि जवानों को बूढा होते हुए देखते हैं। सब जानते है कि जीवन क्षण भंगुर है क्योंकि प्रतिदिन बहुत से मनुष्यों को मरते देखते हैं। सब जानते और देखते हुए भी हमारी चेष्टाएँ बिल्कुल विपरीत देखी जाती हैं। इसका कारण यह है कि धन वगैरह को अनित्य देखते हुए भी उन्हें हमने नित्य समझ रखा है। आँखों से देखते हुए और मुख से कहते हुए भी उनकी क्षण भंङ्गुरता अभी हृदय में नही समाइ है। यह सब बलवान मोह की महिमा है। उसी के कारण हम वस्तु की ठीक-ठीक स्थिति का अनुभव नहीं करते।

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ॥ 22

हे भव्य जीवों ! समस्त विषयों को क्षणभंगुर जानकर महामोह को त्यागों और मन को विषयों से रहित करो, जिससे उत्तम सुख प्राप्त हो।

अनित्य भावना का वर्णन करके, उसका उपसंहार करते हुए आचार्य अनित्य भावना का फल बतलाने के बहाने से भव्य जीवों को उपदेश करते हैं कि-हे भव्य जीवों ! अनित्य अनुप्रेक्षा का यहीं फल है कि संसार के विषयों को विनाशी जानकर उनके बारे में जो मोह है, उसे त्यागो और अपने मन से विषयों की अभिलाषा को दूर करो। जब तक मन में विषयों की लालसा बनी हुई है, तब तक मोह का जाल नहीं टूट सकता। और जब तक मोह का जाल छिन्न भिन्न नहीं होता, तब तक विषयों का वास्तविक स्वरूप अंत:करण में नहीं समा सकता और जब तक यह सब नहीं होता तब तक सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अत: यदि सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हो तो अनित्य अनुप्रेक्षा का आश्रय लो।

तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाणं दीसदे विलओ।
हरि हर बंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ॥23

जिस संसार में देवों के स्वामी इन्द्रों का विनाश देखा जाता है और जहाँ हरिहर, ब्रह्मा वगैरह तक काल के ग्रास बन चुके हैं, उस संसार में क्या शरण है ?

प्राणी सोचता है, कि यह संसार मेरा शरण है, इसमें रहकर मैं मृत्यु से बच सकता हूँ किन्तु आचार्य कहते हैं, कि जिस संसार में इन्द्र, हरिहर, ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली देवता तक मृत्यु के मुख से नहीं बच सके, वहाँ कौन किसका शरण हो सकता है?

सीहस्स कमे पडिंद सारंगं जह ण रक्खदे को वि ।
तह मिञ्चुणा य गहिदं जीवं पि रक्खदे को वि ॥ 24

जैसे शेर के पंजे में फँसे हुए हिरण को कोई भी नही बचा सकता, वैसे ही मृत्यु के मुख में पडे हुए प्राणी को भी नहीं बचा सकता।

जई देवो वि य रक्खदि मंतों तंतो य खेत्तपालो य ।
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥ 25

यदि मरते हुए मनुष्य को देव, मंत्र, तंत्र और क्षेत्र पाल बचा सकते होते तो मनुष्य अमर हो जाते ।

मनुष्य अपनी और अपने प्रियजनों की रक्षा के लिये देवी-देवताओं की मनौती करते हैं । कोई महामृत्युञ्जय आदि मंत्रों का जप करवाते हैं। कोई टोटका करवाते हैं। कोई क्षेत्रपाल को पूजते हैं। कोइ राजा की सेवा करते हैं। किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं, कि उनकी ये सब चेष्टायें व्यर्थ हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी उनको मृत्यु के मुख से नहीं बचा सकता। यदि ऐसा होता तो सब मनुष्य अमर हो जाते, किसी न किसी की के शरण में जाकर अपनी प्राणरक्षा कर लेते।

अइ बलिओ वि रजद्यो मरण-विहीणो ण दीसदे 'कोवि।
रक्खिज्जंतो वि सया रक्ख-पयारेहिं विविहेहीं॥26

अत्यन्त बलशाली भयानक और रक्षा के अनेक उपायों से सदा सुरक्षित होते हुए भी कोई ऐसा दृष्टि गोचर नहीं होता, जिसका मरण नहीं होता हो।

कोई कितना ही बलशाली हो, कितना ही भयानक हो, और सदा अपनी रक्षा के लिए हाथी, घोडा, तीर, तलवार, मंत्र, तंत्र आदि कितने ही रक्षा के उपायों से सुसज्जित रहता हो, किन्तु मृत्यु से बचते हुए किसी को नहीं देखा।

एवं पेच्छ तो वि हु गह-भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं ।
संरण मण्णइ मूढो सुगाढ-मिच्छत-भावादो ॥ 27

ऐसा देखते हुए भी मूढ जीव प्रबल मिथ्यात्व के प्रभाव से ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्ष को शरण मानता है। मनुष्य देखता है कि संसार में कोई शरण नहीं हैं। एक दिन सभी को मृत्यु के मुख में जाना पडता है, इस विपत्ति से उसे कोई भी नहीं बचा सकता। फिर भी उसकी आत्मा मिथ्यात्व का ऐसा प्रबल उदय है कि उसके प्रभाव से वह अरिष्ट निवारण के लिए ज्योतिषियों के चक्कर में फँस जाता है और सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नाम के ग्रहों को तथा भूत, पिशाच, चण्डिका वगैरह व्यन्तरों को शरण मानकर उनकी आराधना करता है।

अप्पाणं पि' चवंतं जह सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि ।
तो किं छडदि सग्गं सव्वुत्तम -भोय- संजुत्तं ॥29

यदि देवों का स्वामी इन्द्र मरण से अपनी भी रक्षा करने में समर्थ होता तो सबसे उत्तम भोग सामग्री से युक्त स्वर्ग को क्यों छोडता ? दूसरों को मृत्यु से बचाने की बात तो दूर है किन्तु इन्द्र अपने को भी मृत्यु से नहीं बचा सकता। यदि वह ऐसा कर सकता तो कभी भी उस स्थान को नहीं छोडता, जहाँ संसार के उत्तम से उत्तम सुख भोगने को मिलते हैं, जिन्हें प्राप्त करने के लिए संसार के प्राणी लालायित रहते हैं ।

दंसण णाण चरित्तं सरणं सेवेहं परम सद्धाए।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥30

हे भव्य ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र शरण हैं। परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन कर। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है ।

संसार की अशरणता का चित्रण करके ग्रन्थकार कहते हैं, कि संसार में यदि कोई शरण हैं तो व्यवहार और निश्चय रूप सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र है । अत: प्रत्येक भव्य को उन्हीं का सेवन करना चाहिए। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व हैं और व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा साधने योग्य वीतराग सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। आत्मा के और परपदार्थों के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को व्यवहार सम्यक् ज्ञान कहते हैं, और अपने स्वरूप के निर्विकल्प रूप से जानने को अर्थात निर्विकल्प संवेदन ज्ञान को निश्चय ज्ञान कहते हैं। अशुभ कार्यो से निवृत्त होना और शुभ कार्यो में प्रवृत्त होना व्यवहार सम्यक्चारित्र हैं, और संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए ज्ञानी के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग क्रियाओं के रोकने को निश्चय चारित्र कहते हैं ।

अप्पाणं पि य सरणं खमादि भावेहिं परिणदो होदि ।
तिव्व कसाया विट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥31

आत्मा को उत्तम क्षमा आदि भावों से युक्त करना भी शरण हैं। जिसकी कषाय गति तीव्र होती हैं, वह स्वयं अपना ही घात करता है ।

संसार के मुढ प्राणी शरीर को ही आत्मा समझकर उसकी रक्षा के लिए भटकते फिरते हैं। किन्तु आत्मा शरीर से पृथक् वस्तु है। वह अजर और अमर है। शरीर के उत्पन्न होने पर न वह उत्पन्न होता है और न शरीर के छूटने पर नष्ट होता है। अत: उसके विनाश के भय से शरण की खोज में भटकते फिरना और अपने को अशरण समझकर घबराना

अज्ञानता है। वास्तव में आत्मा स्वयं ही अपना रक्षक है, और स्वयं ही अपना घातक है, क्योंकि जब हम क्रोध आदि के वश में होकर दूसरों को हानि पहुचाने पर उतारु होते हैं, तो पहले अपनी ही हानि करते हैं, क्योंकि काम क्रोध आदि हमारी सुख शान्ति को नष्ट कर देते हैं, तथा हमारी बुद्धि को नष्ट करके हमसे ऐसे दुष्कर्म करा डालते हैं जिसका हमें बुरा फल भोगना पडता है। अत: आत्मा स्वयं ही अपना घातक है। तथा यदि हम क्रोध आदि को वश में करके, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य आदि सदगुणों को अपनाते हैं और अपने अन्दर कोई ऐसा विकार उत्पन्न नहीं होने देते, जो हमारी सुख-शान्ति को नष्ट करता हो, तथा हमारी बुद्धि को भ्रष्ट करके हमसे दुष्कर्म करवा डालता हो तो हम स्वयं ही अपने रक्षक है। और क्योंकि ऐसा करने से हम अपने को दुर्गति कि दु:खों से बचाते है और अपनी आत्मा की उन्नति में सहायक होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा का दुर्गुणो से लिप्त हो जाना ही उसका घात है और उसमें सद्गुणों का विकास होना ही उसकी रक्षा है क्योंकि आत्मा एक सी वस्तु है जो न कभी मरता है और न जन्म लेता है। अत: उसके मरण की चिन्ता ही व्यर्थ हैं। इसी से ग्रन्थकार ने बतलाया है कि रत्नत्रय का शरण लेकर आत्मा को उत्तम क्षमादि रूप से परिणत करना ही संसार में शरण है, वही आत्मा को कष्टों से बचा सकता है। और कुछ भी शरण नहीं है। संसार की अशरणता का चित्रण करके ग्रन्थकार कहते हैं, कि संसार में यदि कोइ शरण हैं तो व्यवहार और निश्चय रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। अत: प्रत्येक भव्य को उन्हीं का सेवन करना चाहिए। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है, और व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा साधने योग्य वीतराग सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। आत्मा के और पर पदार्थो के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं, और अपने स्वरूप के निर्विकल्प रूप से जानने को अर्थात् निर्विकल्प संवेदन ज्ञान को निश्चय ज्ञान कहते हैं।

मरण के कारण

आचरण एण मरणं आउं दाउंण सक्कदे को वि ।
तम्हा देविंदो वि य मरणाउ ण रक्खदे को वि ॥28

आयु के क्षय से मरण होता है और आयु देने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है। अत: देवों का स्वामी इन्द्र भी मरण से नहीं बचा सकता हैं। अभी तक ग्रन्थकार यही कहते आये थे कि मरण से कोई नहीं बचा सकता किन्तु उसका वास्तविक कारण उन्होंने नहीं बतलाया था। यहाँ उन्होंने उसका कारण बतलाया है उनका कहना है कि आयुकर्म के समाप्त हो जाने से ही मरण होता है, जब तक आयुकर्म बाकी है, तब तक कोई किसी को

मार नहीं सकता। अत: प्राणी का जीवन आयुकर्म के आधीन है। किन्तु आयु का दान करने की शक्ति किसी में भी नहीं हैं क्योंकि उसका बन्ध तो पहले भव में स्वयं जीव ही करता है। पहले भव में जिस गति की जितनी आयु बन्ध जाती है आगामी भव में उस गति में जन्म लेकर जीव उतने ही समय तक ठहरा रहता है। बान्धी हुई आयु में घट-बढ उसी भव में हो सकती है, जिस भव में वह बान्धी गई हैं। नया जन्म ले लेने के बाद वह बढ तो सकती ही नहीं, घट जरुर सकती है। किन्तु घटना भी मनुष्य और तिर्यञ्च गति में ही संभव है, क्योंकि इन दोनों गतियों में अकाल मरण हो सकता है किन्तु देवगति और नरकगति में अकाल मरण नहीं हो सकता, अत: वहाँ आयु घट भी नहीं सकती ।

शङ्का -यदि आयु बढ नहीं सकती तो मनुष्यों का मृत्यु के भय से औषधी सेवन करना भी व्यर्थ है।

समाधान - ऊपर बतलाया गया है कि मनुष्य गति में अकाल मरण हो सकता है। अत: औषधी का सेवन आयु को बढाने के लिये नहीं किया जाता, किन्तु हो सकने वाले अकाल मरण को रोकने के लिये किया जाता है। अत: मृत्यु से कोई भी नहीं बचा सकता।

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥1776

आकाश में विचरण करते हुए पक्षियों को दूसरे पक्षी बाधा देते हैं। जल में मच्छ बाधा करते हैं। थल में थलचारी बाधा करते हैं। इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरे की हिंसा करते हैं। अत: संसार में सर्वत्र भय है।

ससगो वाहपरद्धो बिलत्ति णाऊण अजगरस्य मुंह।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि॥1777

जैसे खरगोश व्याघ से सताये जाने पर बिल समझकर अजगर के मुख में प्रवेश करता हैं। वह उसे अपना शरण मानकर मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है।

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादि बाहेहिं।
अदिगच्छन्ति महादुह हेदु संसारसप्पमुहं॥1778

उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख, प्यास आदि व्याधियों के द्वारा पीडित होने पर महान् दु:ख में निमित्त संसार रूपी सर्प के मुख में प्रवेश करते हैं।

जावदियाइं सुहाइं होंति लोगम्मि सव्वजोणिसु।
ताइंपि बतुविधाइं अणंतखुत्तो इमो पत्तो॥1779

लोक में सब योनियों में जितने प्रकार के सुख होते हैं। उन सब में अनेक प्रकार के सुखों को भी इस जीव ने अनन्त बार भोगा है।

दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहि वि।
तह विय अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥1880

अनन्त बार दु:खो को प्राप्त करके कदाचित् सुख को भी प्राप्त करता है। तथापि अनन्त बार इस जीव ने सब सुखों को प्राप्त किया है।

करणें हि होदि विगलो बहुसो चित्तवचिसोदणित्तेहिं।
घाणेण य जिब्भाए चिट्टा बल विरिय जोगेहिं ॥1781

यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्य से हीन विकलेन्द्रिय होता है।

जच्चंधबहिर मूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई।
भमई सुचिरं पि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥1782

कभी यह जीव जन्म से ही अन्धा, बहिरा, गूँगा होता है और भूख तथा प्यास से पीडित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वन में अकेला भ्रमण करता है। कहा भी है -अपने बुरे आचरणों से संचित किये कर्मों के द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है। तथा कर्मों से प्रेरित हो संसार रूपी समुद्र में गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, आँखे बन्द कर के भ्रमण करता है। उसका कोई रक्षक नहीं होता। जैसे कोई बहरा, गूँगा, अंधा मूर्ख प्राणी प्यास से व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वन में भटकता है। उसी प्रकार यह संसारी प्राणी मार्ग दर्शन के बिना मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट होकर बार-बार त्रस स्थावर पर्याय को ग्रहण करता और छोडता हुआ चिरकाल तक जन्म रूपी वन में अकेला भ्रमण करता है। कहा भी है अपने बुरे आचारणों से संचित किए कर्मों के द्वारा अपना ज्ञान खोलकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मों से प्रेरित होकर संसार रूपी समुद्र में गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो आँख बन्द करके भ्रमण करता है। जैसा कोई बहरा, गूंगा, अंधा मूर्ख प्राणी प्यास से व्याकुल हो मार्ग भूलकर अकेला भटकता है। उसी प्रकार यह संसार प्राणी मार्ग दर्शक के बिना बार-बार त्रस स्थावर पर्याय को ग्रहण करता और छोडता हुआ चिर काल तक जन्म रूपी वन में भ्रमण करता है।

एइंदियेसु पंचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो।
भमदि अणंतं कालं दुक्खसहस्साणि पावेंतो ॥1783

पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति का शरीर धारण करने वाले पाँच प्रकार के एकेन्द्रियों में यह जीव हजारों कष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है। उसमें इतनी भी शक्ति नहीं होती कि पृथिवी आदि कायों का त्याग करके त्रसकाय की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर सके।

बहुदुक्खावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए।
भमई वरागो जीवो अण्णाणनिमीलिदो सुचिरं॥1784

अज्ञान में पडा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मैले पानी से भरी और बहुत दु:ख रूपी भँवरों से युक्त संसार रूपी नदी में चिरकाल भ्रमण करता है।

विसयामिसारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं।
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टियाबंधं॥1785
बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं।
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो॥1786

यह संसार रूपी चक्र (पहिया) विषयों की अभिलाषा रूपी आरों से जकडा हुआ है, कुयोनिरूपी नेमि-फाल उस पर चढी हुई है। उसमें सुख दु:ख रूपी मजबूत कीलें लगी हैं। अज्ञानरूपी तुम्ब पर वह स्थित है, कषाय रूपी दृढ पहियों से कसा हुआ है। अनेक हजार जन्म रूपी उसका विशाल मार्ग है। उस पर वह संसार चक्र चलता है। मोहरूपी वेग से अतिशीघ्र चलता है। ऐसे संसार रूपी चक्र पर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है।

भारं णरो वहंतो कहिंचि विस्समदि ओरुहिय भारं।
देह भरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिदुं॥1787

भार वाही मनुष्य तो किसी देश और काल में अपना भार उतारकर विश्राम कर लेता है। किन्तु शरीर के भार को ढोने वाले जीव एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं पाते औदारिक और वैक्रियिक शरीरों के छूट जाने पर भी कार्मण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं

कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहंधयारगहणम्मि।
अंधो व दुग्गमग्गे भमदि हु संसार कंतारे॥1788

इस प्रकार असाता वेदनीय आदि पापकर्मों के प्रभाव से दु:खी जीव मोहरूपी अंधकार से गहन संसार रूपी वन में उसी प्रकार भ्रमण करता है, जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्ग में भटकता है।

दुक्खस्स पडिगरेंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो।
पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो॥2789

मोह से आच्छादित यह जीव दु:ख से बचने का उपाय करता है और इन्द्रिय सुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषों को- करता है। आशय यह है कि दु:ख से डरता है किन्तु समस्त दु:खों के विनाश का उपाय नहीं जानता है। यद्यपि दु:खों

को दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति होता है जो इन्द्रिय सुख का लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापों में लगा रहता है जो दु:ख के हेतु हैं जो दु:ख के कारण हैं। इसलिये उसका सब काम दु:ख का ही मूल होता है।

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो।
अधतेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो॥1790

उन हिंसा आदि दोषों को करने से जीव बहुत-सा नया कर्म बाँधता है। कर्म बन्ध के पश्चात् उस कर्म का फल भोगता है। इस प्रकार जैसे कोई एक आग से निकलकर दूसरी आग में प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्व बद्ध कर्मों को भोगकर पुन: नवीन कर्म रूपी आग में जलता है।

बंधंतो मुच्चंतो एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो।
सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमई॥1791

इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हे छोड देता है और कर्मों का फल भोगते समय होने वाले राग-द्वेष रूप परिणामों से नवीन कर्मों का बन्ध करता है। सुख की अभिलाषा रखकर बहुत दु:खों से भरे अनादि संसार में भ्रमण करता है।

अनाथ (पराधीन) एवं सनाथ (स्वाधीन)

गज-अश्व तथा मणि-माणिक्य आदि प्रचुर रत्नों से समृद्ध मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि चैत्य उद्यान में विहार-हेतु यात्रा के लिए नगर से निकला, वह उद्यान विविध प्रकार के वृक्षों एवं लताओं से आकीर्ण था, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित था और विविध प्रकार के पुष्पों से भली-भाँति आच्छादित था। किंबहुना नन्दन वन के समान था। राजा के उद्यान में वृक्ष के नीचे बैठ हुए एक समाधि-संपन्न, सुकुमार एवं सुखोचित-सुखोपयोग के योग्य संयत साधु को देखा, साधु के अनुपम रूप को देखकर राजा को उसके प्रति बहुत ही अधिक अतुलनीय विस्मय हुआ। अहो क्या वर्ण (रंग) है। क्या रूप (आकार) है ! अहो, आर्य की कैसी सौम्यता है ! अहो, अहो !, क्या शान्ति है, क्या मुक्ति-निर्लोभता है ! भोगों के प्रति कैसी असंगता है ! मुनि के चरणों में वन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात् राजा न अति दूर न अति निकट अर्थात् योग्य स्थान में खडा रहा और हाथ जोडकर मुनि से पूछने लगा-राजा श्रेणिक'' हे आर्य ! तुम अभी युवा हो। फिर भी हे संयत ! तुम भोग काल में दीक्षित हुए हो, श्रामण्य में उपस्थित हुए हो। इसका क्या कारण है, मैं सुनना चाहता हूँ।''

मुनि :-'' महाराज ! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ-अभिभावक एवं संरक्षक नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा रखने वाला कोई सुहृदय-मित्र मैं नहीं पा रहा हूँ।'' यह सुनकर मगधाधिपति

राजा श्रेणिक जोर से हँसा और मुनि से बोला ''इस प्रकार तुम देखने में ऋद्धि सम्पन्न-सौभाग्य शाली लगते हो, फिर भी तुम्हारा कोई कैसे नाथ नहीं है ?''

राजा श्रेणिक :- '' भदन्त ! मै तुम्हारा नाथ होता हूँ। हे संयत ! मित्र और ज्ञानीजनों के साथ भोगों को भोगो। यह मनुष्य- जीवन बहुत दुर्लभ है।''

मुनि - ''श्रेणिक ! तुम स्वयं अनाथ हो। मगधाधिप ! जब तुम स्वयं अनाथ हो तो किसी के नाथ कैसे हो सकोगे ?'' राजा पहले ही विस्मित हो रहा था, अब तो मुनि से अभूत पूर्व (पहले कभी नहीं सुना गया-''अनाथ'' यह) वचन सुनकर तो और भी अधिक संभ्रान्त-संशयाकुल एवं विस्मित हुआ।

राजा श्रेणिक-'' मेरे पास अश्व है हाथी है- नगर और अन्त:पुर है। मैं मनुष्य जीवन के सभी सुख-भोगों को भोग रहा हूँ। मेरे पास आज्ञा-शासन और ऐश्वर्य-प्रभुत्व भी है।''

इस प्रकार प्रधान-श्रेष्ठ सम्पदा, जिसके द्वारा सभी काम भोग मुझे समर्पित होते हैं, मुझे प्राप्त हैं। इस स्थिति में भला में कैसे अनाथ हूँ ? भदन्त ! आप झूँठ न बोलें।'' मुनि '' पृथ्वी पति-नरेश ! तुम 'अनाथ' के अर्थ और परमार्थ को नहीं जानते हो कि मानव अनाथ और सनाथ कैसे होता है ''? ''महाराज ! अध्याक्षिप्त-अनाकुल चित से मुझे सुनिये कि यथार्थ में अनाथ कैसे होता है, किस भाव से मैंने उसका प्रयोग किया है ?''

प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर ..... कौशाम्बी नामक नगरी है। वहाँ मेरे पिता थे। उनके पास प्रचुर धन का संग्रह था।'' महाराज ! प्रथम वय में युवावस्था में मेरी आँखों में अतुल-असाधारण वेदना उत्पन्न हुई । पार्थिव ! उससे मेरे सारे शरीर में अत्यन्त जलन होती थी ।'' क्रुद्ध शत्रु द्वारा जैसे शरीर के मर्म स्थानों में अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र घोंपने पर उससे जैसी वेदना होती है, वैसे ही मेरी आँखों में भयंकर वेदना हो रही थी। '' जैसे इन्द्र के वज्र प्रहार से भयंकर वेदना होती है।'' वैसे ही मेरे त्रिकटि भाग में, अन्तरेच्छ हृदय में और उत्तमांग -मस्तक में अति दारुण वेदना हो रही थी । विद्या और मंत्र से चिकित्सा करने वाले, मंत्र तथा औषधियों के विशारद, अद्वितीय शास्त्र कुशल, आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा के लिए उपस्थित थे। उन्होंने मेरे हितार्थ वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक-रूप चतुष्पाद चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दु:ख से मुक्त नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है। मेरे पिता ने मेरे लिए चिकित्सकों को उपहार स्वरूप सर्वसार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तुएँ दीं, किन्तु वे मुझे दु:ख से मुक्त नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है। महाराज ! मेरी माता पुत्र शोक के दु:ख से पीडित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दु:ख से मुक्त नहीं कर सकी, यह मेरी अनाथता है। महाराज ! मेरे बडे और छोटे सभी सगे भाई मुझे दु:ख से मुक्त नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है। महाराज ! मेरी बडी और छोटी सभी बहिनें

भी मुझे दु:ख से मुक्त नहीं कर सकी, यह मेरी अनाथता है। महाराज ! मुझ में अनुरक्त और अनुव्रत मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण नयनों से मेरे उर 'स्थल (छाती) को भिगोती रहती थी। वह बाला मेरे प्रत्यक्ष में या परोक्ष में कभी अन्न, पान, स्नान, गंध, माल्य और विलेपन का उपयोग नहीं करती थी। वह एक क्षण के लिए भी मुझे से दूर नहीं होती थी। फिर भी वह मुझे दु:ख से मुक्त नहीं कर सकी। महाराज ! यही मेरी अनाथता है।'' तब मैंने इस प्रकार कहा-विचार किया कि प्राणी को इस अनन्त संसार में बार-बार असह्य वेदना का अनुभव करना होता है।'' इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मुक्त हो जाऊँ, तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ अनागरवृति में प्रव्रजित-दीक्षित हो जाऊँगा। नराधिप इस प्रकार विचार करके मैं सो गया। परिवर्तमान (वीतती हुई) रात के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई। तदन्तर प्रात:काल में कल्प- नीरोग होते ही मैं बन्धुजनों को पूछकर क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृति में प्रव्रजित हो गया

सनाथ का स्वरूप

ततो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाण थावराण य ।।

तब में अपना और दूसरों का त्रस और स्थावर सभी जीवों का नाथ हो गया।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ।।

मेरी अपनी आत्मा ही वेतरणी नदी है, कूट शाल्मलीवृक्ष है, काम दुधा-धेनु है और नन्दन वन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममितं च दुप्पट्ठिप-सुपट्ठिओ ।।

'' आत्मा ही अपने सुख-दु:ख का कर्ता है और विकर्त्ता-भोक्ता है। सत् प्रवृति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है। और दुष्प्रवृति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।

अनाथ साधु का स्वरूप

राजन् ! एक और भी अनाथता है। शान्त और एकाग्रचित होकर उसे सुनो। बहुत से ऐसे कायर व्यक्ति होते हैं जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी खिन्न हो जाते हैं- स्वीकृत अनगार धर्म का सोत्साह पालन नहीं कर पाते हैं। जो महाव्रतों को स्वीकार कर प्रमाद के कारण उनका सम्यक् पालन नहीं करता है, इच्छाओं का निग्रह नहीं करता है, रसों में आसक्त है वह मूल से राग-द्वेष रूप बन्धनों का उच्छेद नहीं कर सकता है। जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा और आदान-निक्षेप में और उच्चार-प्रसवण के परिष्ठापन में अयुक्तता-

सजगता नहीं है, वह उस मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता, जो विरयात है- अर्थात् जिस पर वीर पुरुष चले हैं। जो अहिंसादि व्रतों में अस्थिर है, तप और नियमों से भ्रष्ट है- वह चिर काल तक मुण्ड रुचि (और कुछ साधन न कर केवल सिर मूंडा देने वाला भिक्षु) रहकर और आत्मा को कष्ट देकर भी वह संसार से पार नहीं हो सकता। जो पोली (खाली) मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे-सिक्के की तरह अयान्त्रित- अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि-काच-मणि है, वह जानने वाले परीक्षकों की दृष्टि में मूल्यहीन है।'' जो कुशील-आचार-हीनों का वेष, और ऋषि-ध्वज (रजो हरणादि मुनि चिन्ह पिच्छी)धारण कर जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने आप को संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनिघात-विनाश को प्राप्त होता है। पीया हुआ काल कूट-विष, उलटा पकडा हुआ शस्त्र, अनियन्त्रित वेताल - जैसे विनाश कारी होता है, वैसै ही विषय-विकारों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है। जो लक्षण और स्वप्न-विद्या का प्रयोग करता है, निमित शास्त्र और कौतुक-कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्याआश्चर्य को उत्पन्न करने वाली कुहेर विद्याओं से-जादूगरी के खेलों से जीविका चलाता है, वह कर्म फल-भोग के समय किसी की शरण नही पा सकता। वह शील रहित साधु अपने तमस्तमस्-तीव्र अज्ञान के कारण विपरीत-दृष्टि को प्राप्त होता है, फलत: असाधु प्रकृति वाला वह साधु मौन-मुनि धर्म की विराधना कर सतत दु:ख भोगता हुआ नरक और तिर्यंच गति में आवागमन करता रहता है। जो औद्देशिक, क्रीत-कृत, नियाग-नित्यपिण्ड आदि के रूप में थोडा सा-भी अनेषणीय आहार नहीं छोडता है, वह अग्नि की भाँति सर्व भक्षी भिक्षु पाप कर्म करके यहाँ से मरने के बाद दुर्गति में जाता है। स्वयं की अपनी दुष्प्रवृति-शील दुरात्मा जो अनर्थ करती है, वह गला काटने वाला शत्रु भी नहीं कर पाता है। उक्त तथ्य को निर्दय-संयम हीन मनुष्य मृत्यु के क्षणों में पश्चाताप करते हुए जान पाएगा। जो उत्तमादि में अन्तिम समय की साधना में विपरीत दृष्टि रखता है, उसकी श्रामण्य में अभिरुचि व्यर्थ है। उसके लिए न यह लोक न पर लोक है। दोनों लोक के प्रयोजन से शून्य होने के कारण वह उभय-भ्रष्ट भिक्षु निरन्तर चिन्ता में घुलता जाता है। इसी प्रकार स्वच्छन्द और कुशील साधु भी जिनोत्तम-भगवान् के मार्ग की विराधना कर वैसे ही परिताप को प्राप्त होता है, जैसे कि भोग-रसों में आसक्त होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी (गीध) पक्षिणी परिताप को प्राप्त होती है।

सनाथ साधु का (लक्षण) स्वरूप :- मेधावी साधक इस सुभाषित को एवं ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को सुनकर कुशील व्यक्तियों के सब मार्गों को छोडकर, महान् निर्ग्रन्थों के पथ पर चले। चारित्राचार और ज्ञानादि गुणों से संपन्न निर्ग्रन्थ

निराश्रव होता है। अनुत्तर शुद्ध संयम का पालन कर वह निराश्रव (राग-द्वेषाादि बन्ध-हेतुओं से मुक्त) साधक कर्मों का क्षय कर , विपुल, उत्तम एवं शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। इस प्रकार उग्र-दान्त, महान् तपोधन महा-प्रतिज्ञ, महान्-यशस्वी उस महामुनि ने इस महा निर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महान् विस्तार से कहा। राजा श्रेणिक संतुष्ट हुआ और हाथ जोडकर इस प्रकार बोला "भगवन् अनाथ का यथार्थ स्वरूप आपने ढीक तरह समझाया है।

राजा श्रेणिक- हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य जन्म सफल है, तुम्हारी उपलब्धियाँ सफल हैं, तुम सच्चे सनाथ और सबान्धव हो, क्योंकि तुम जिनेश्वर, के मार्ग में स्थिर हो । हे संयत ! तुम अनाथों के नाथ हो, तमु सब जीवों के नाथ हो। हे महाभाग ! मैं तुम से क्षमा चाहता हूँ। मैं तुम से अनुशासित होने की इच्छा रखता हूँ। मैंने तुम से प्रश्न कर जो ध्यान में विघ्न किया और भोगों के लिए निमन्त्रण दिया, उन सब के लिए मुझे क्षमा करें। इस प्रकार राजसिहं श्रेणिक राजा अनगार-सिंह मुनि की परम भक्ति से स्तुति कर अन्त:पुर (रानियों) तथा अन्य परिजनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया। राजा के रोम कूप आनन्द से उच्छ्वसित-उल्लसित हो रहे थे। वह मुनि की प्रदक्षिणा और सिर से वन्दना करके लौट गया। और वह गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरक्त, मोह मुक्त मुनि पक्षी की भाँति विप्रमुक्त- अप्रतिबद्ध होकर भूतल पर विहार करने लगे।

(उत्तराध्यन सूत्र अ. 20)

विभिन्न शरीर धारी जीव

काय (शरीर) की परिभाषा

जातिनाम कर्म के उदय के अविनाभावी त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न आत्मा की त्रस रूप और स्थावर रूप पर्याय को काय कहते हैं। वह काय पृथ्वी काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस काय के भेद से छह प्रकार का जिनमत में कहा है। 'कायते' अर्थात् व्यवहारी पुरुषों के द्वारा 'त्रस' स्थावर इस प्रकार से कही जाती है; वह काय है। 'त्रस' धातु का अर्थ उद्वेग रूप किया है , उससे त्रस शब्द निष्पन्न हुआ है और स्थान क्रिया से स्थावर शब्द निष्पन्न हुआ है, अत: त्रस और स्थावर का लक्षण निरुक्ति सिद्ध है। अथवा ' चीयते' अर्थात् पुद्गलस्कन्दों के द्वारा जो पुष्टि को प्राप्त हो वह काय है; अर्थात् औदारिक आदि शरीर काय में स्थित आत्मपर्याय को भी उपचार से काय कहते हैं। जातिनाम कर्म, त्रसनामकर्म और स्थावर कर्म जीवविपाकी होने से उनका कार्य जीव पर्याय काय है, यह व्यवहार सिद्ध है। पुद्गलविपाकी शरीर नाम कर्म के उदय का कार्य होने से यहाँ काय शब्द से शरीर ही ग्रहण नहीं है। **(गो. जी. I पृ. 311 से 347)**

स्थावर काय के पाँच भेदों का कथन

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों में एक स्थावर नाम कर्म है और उनकी भी उत्तर प्रकृतियाँ पृथ्वी, अप, तेज और वायु नामकर्म है। इस प्रकार नामकर्म की इन उत्तरोत्तर प्रकृतियों के उदय से पृथ्वी रूप, जलरूप, तेजरूप, और वायुरूप पुद्गल स्कन्धों में अपने-अपने रूप, रस गन्ध और स्पर्श गुणों से युक्त उन जीवों के शरीर नियम से होते हैं। ऐसे होने पर वे जीव पृथ्वीकायिक, तैजस्कायिक और वायुकायिक होते हैं। पृथ्वीकाय अर्थात् पृथ्वीत्व विशिष्ट स्थावर पयार्य जिनकी है वे पृथ्वीकायिक हैं अथवा पृथ्वी जिनकी काय अर्थात् शरीर है, वे पृथ्वीकायिक हैं अप्काय और अपत्व विशिष्ट पर्याय जिनके हैं वे अप्कायिक हैं अथवा अप् जिनका काय अर्थात् शरीर है, वे अप्कायिक हैं। तैजस्काय अर्थात तैजस्वत्व विशिष्ट स्थावर पर्याय जिनकी है, वे तैजस्कायिक हैं अथवा तेज जिनका काय अर्थात् शरीर है वे तैजस्कायिक हैं। वायुकाय अर्थात् वायुत्व विशिष्ट स्थावर पर्याय जिनके हैं वे वायुकायिक हैं, अथवा वायु जिनका काय है, वे वायुकायिक हैं । तिर्यंक्गति, एकेन्द्रिय-जाति, औदारिक शरीर, स्थावरकाय आदि नाम कर्म की प्रकृतियों के उदय को लेकर ही इस प्रकार की निरुक्ति होती है। जो जीव पूर्व पर्याय को छोडकर पृथ्वीकायिक रूप पर्याय को धारण करने के अभिमुख होता हुआ जब तक विग्रहगति में वर्तमान है, तब तक उसे पृथ्वीजीव कहते हैं। जिसने पृथ्वी को शरीर रूप से ग्रहण कर लिया है वह पृथ्वीकायिक है। जिस पृथ्वी में-से जीव निकल गया है, वह पृथ्वीकाय है। इसी तरह अप्जीव, अप्कायिक, अप्काय, तेजोजीव, तैजस्कायिक, तैजस्काय, वायुजीव, वायुकायिक, वायुकाय इस प्रकार प्रत्येक के तीन-तीन भेद जानना।

बादर एवं सूक्ष्म

बादर नामकर्म के उदय से पृथ्वीकायिक आदि जीव बादर होते हैं और सूक्ष्मनाम कर्म के उदय से पृथ्वीकायिक आदि जीव सूक्ष्म होते हैं, क्योंकि बादर और सूक्ष्मनाम कर्म जीव विपाकी हैं। अत: उनके उदय से जीव बादर और सूक्ष्म कहे जाते हैं। और उनके सम्बन्ध से उनके शरीर भी बादर और सूक्ष्म होते हैं। इस कारण से इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न सुख-दु:ख की तरह पर से अपना और अपने से पर का घात सम्भव होने से घात शरीर स्थूल होता है और अघात शरीर सूक्ष्म होता है। उन शरीरों के धारी भी घात शरीर वाले स्थूल और अघात शरीर वाले सूक्ष्म होते हैं । जिनका शरीर घात सहित होता है अर्थात् घाता जाता है, वे घात शरीर है और जिनका शरीर घात रहित होता है वे अघात शरीर हैं । इस प्रकार बाध्यत्व और अबाध्यत्व रूप परिणमन सम्भव होने से शरीर बादर-सूक्ष्म होते हैं।

उन बादर और सूक्ष्म पृथ्वीकायिक आदि चार प्रकार के जीवों के शरीर घनांगुल के असख्यातवें भाग मात्र होते हैं, क्योंकि सूक्ष्मवायुकायिक अपर्याप्तक की जघन्य शरीर अवगाहना से लेकर बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त बयालीस स्थानों में घनांगुल का पल्य के असख्यातवें भाग मात्र भागहार होता है अथवा परमागम में कहा है कि 'दोइन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यातवें भाग गुणाकार है और आगे संख्यातवें भाग गुणाकार है, इस सूत्र से बयालीसवें स्थान को असंख्यात से गुणा करने पर अगले स्थान में संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहना होती है। अत: बयालीसवें स्थान में घनांगुल का भागहार असंख्यात सिद्ध है, यह स्पष्ट है। पीछे जीव समासाधिकार में सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायिक की जघन्य अवगाहना और बादर पर्याप्तक पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण कहा ही है सो जानना। वर्तमान शरीर के विशिष्ट जो जीव आधार अर्थात् आश्रय से रहते हैं, वे सब बादर होते हैं। आधार से उनके बादर स्वभाव का प्रतिघात नहीं होने पर भी नीचे गिरने रूप स्वभाव का प्रतिघात होता है। अत: पहले जो घात रूप लक्षण बादर शरीर का कहा था, उसी का समर्थन होता है। गाथा में 'ओ' पद शिष्य के लिए सम्बोधन है। यद्यपि बादर अपर्याप्त वायुकायिक आदि की जघन्य शरीर अवगाहना अल्प है और उससे असंख्यात गुणी होने से सूक्ष्म पर्याप्तक वायुकायिक से लेकर पृथ्वीकायिक पर्यन्त जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट शरीर अवगाहना महान् है। फिर भी **सूक्ष्मनामकर्म के उदय के सामर्थ्य से उनका अन्य से प्रतिघात नहीं होता, और जैसे महीन वस्त्र से जल की बूँद निकल जाती है, उसी तरह वे सूक्ष्म जीव निकल कर चले जाते हैं। किन्तु बादरों का शरीर अल्प होने पर भी बादर-नाम कर्म का उदय होने से अन्य से प्रतिघात होता ही है, जैसे सरसों छोटी होने पर भी महीन वस्त्र में-से नहीं निकलती।**

शङ्का-यदि ऐसा है तो ऋद्विधारी मुनियों का शरीर स्थूल होने पर भी वज्रशिला आदि में से कैसे निकल जाता है।

समाधान- तप के अतिशय के महात्म्य से निकल जाता है। तप, विद्या, मणि, मन्त्र, औषध की शक्ति के अतिशय का महात्म्य अचिन्त्य है। सभी वादी इस बात से सहमत हैं कि वस्तु का स्वभाव तर्क का विषय नहीं है। अतिशय रहित वस्तु के विचारों में पूर्वोक्त शास्त्रमार्ग ही बादर और सूक्ष्मों का सिद्ध है।

प्रत्येक एवं सामान्य

वनस्पति विशिष्ट स्थावर नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृति का उदय होने पर जीव वनस्पतिकायिक होते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं।-एक प्रत्येक शरीर और एक सामान्य

शरीर। एक के प्रति नियत जो है, वह प्रत्येक है अर्थात् एक जीव का एक शरीर। जिनका शरीर प्रत्येक है, वे प्रत्येक शरीर हैं। समान ही हुआ सामान्य। जिनका सामान्य शरीर है, वे सामान्य शरीर अर्थात् साधारण शरीर हैं। उनमें-से प्रत्येक शरीर प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार के हैं। यहाँ इति शब्द प्रकारवाची है। जो प्रत्येक शरीर वनस्पति बादर निगोद जीवों के द्वारा आश्रय रूप से स्वीकार किया गया है, वह प्रतिष्ठित है, और जो उनसे आश्रित नहीं है, वह अप्रतिष्ठित है। इस प्रकार उन दोनों में भेद जानना।

सप्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित आदि

जिन वनस्पतियों का बीज उनका मूल होता है; जैसे अदरक, हल्दी वगैरह वे **मूलबीज** हैं। जिनका बीज उनका अग्रभाग होता है; जैसे आर्यक उदीचि आदि, वे **अग्रबीज** हैं। जिनका बीज पर्व होता है; जैसे ईख, वेंत वगैहर वे **पर्वबीज** हैं। जिनका बीज कन्द होता है ; जैसे सूरण वगैरह वे **कन्दबीज** हैं। जिनका बीज स्कन्ध होता है; जैसे पलास, सल्लकी वगैरह वे **स्कन्धबीज** हैं। जो बीज से पैदा होते है, जैसे धान, गेहूँ वगैरह , वे **बीजरुह** हैं। **सम्मूच्छ्न अर्थात् चारों और से आये पुद्गलस्कन्धों से होने वाली वनस्पति सम्मूर्च्छिम है।** उनके लिए मूल आदि नियत बीज की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार परमागम में जो ये प्रत्येक शरीर वनस्पति कायिक जीव कहे हैं, वे अनन्तकाय होते हैं। जिनमें अनन्तकाय अर्थात् अनन्तानन्तनिगोद जीवों के शरीर रहते हैं, उन्हें अनन्तकाय अर्थात् प्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं तथा 'च' शब्द से अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी होते हैं। जिनका प्रत्येक शरीर प्रतिष्ठित अर्थात् साधारण शरीरों के आश्रित होता है, वे प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं। और जिनका प्रत्येक शरीर साधारण शरीरों के आश्रित नहीं होता, वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होते हैं। ये मूलबीज से लेकर सम्मूर्छिम पर्यन्त जो प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर और अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीव कहे हैं, वे भी सम्मूर्छन जन्म वाले ही होते हैं। अर्थात् सम्मूर्छिम वनस्पति से यह नहीं समझना चाहिए कि अकेले उन्हीं का सम्मूर्छन जन्म होता है। **प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव के शरीर की सबसे उत्कृष्ट अवगाहना भी घनांगुल के असंख्यातवें भाग-मात्र ही है।** अत: पूर्वोक्त अदरक आदि स्कन्धों में एक-एक में असंख्यात-असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होते हैं। घनांगुल को दो बार पल्य के असंख्यातवें भाग में नौ बार संख्यात से देने पर जो प्रमाण आता है, उतने क्षेत्र में यदि एक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर रहता है, तो संख्यात घनांगुल प्रमाण अदरक आदि में कितने रहेंगे? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर लब्ध राशि दो बार पल्य का असंख्यातवाँ भाग और दस बार संख्यात को रखकर परस्पर गुणा करने से जितना प्रमाण आता है, उतने क्षेत्र में यदि एक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर रहता है तो संख्यात घनांगुल प्रमाण अदरक आदि में

कितने रहेंगे? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर लब्धराशि दो बार पल्य का असंख्यातवाँ भाग और दस बार संख्यात को रखकर परस्पर गुणा करने से जितना प्रमाण होता है, उतने प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर एक अदरक आदि स्कन्ध में रहते हैं। तथा एक स्कन्ध में अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर वनस्पति जीव यथा सम्भव असंख्यात अथवा संख्यात होते हैं। जितने प्रत्येक शरीर होते हैं, उतने ही प्रत्येक वनस्पति जीव होते हैं, क्योंकि उनमें प्रत्येक शरीर में एक-एक जीव के होने का नियम है।

साधारण शरीर : वनस्पति जीव

जिस प्रत्येक शरीर वनस्पति के उपर की बाह्य स्नायु, भीतर में फाँकों की सन्धियाँ, पोरियाँ जैसे ईख में अदृश्य हो, प्रकट नही हुई हों, तोडने पर बिल्कुल समान रूप से दो टुकडों में टूट जाये, तोडने पर दोनों टुकडों के बीज में कोई तार-सा लगाव न हों, तथा काटने पर भी उग आवे तो वह साधारण है। साधारण जीवों के द्वारा आश्रित होने से प्रतिष्ठित प्रत्येक को उपचार से साधारण कहा है। यहाँ वैसे साधरण का अर्थ प्रतिष्ठित शरीर है। जो इससे विपरीत है अर्थात् जिसके सिर आदि प्रकट है, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर है; जैसे तालफल, नारियल, इमली वगैहर। गाथा का 'च' शब्द इस भेद का सूचक है। जिन प्रत्येक वनस्पतियों के मूल, कन्द, छाल, कोंपल, अंकुर, छोटी टहनी, बडी डाल, पत्ते, फूल फल और बीज यदि तोडने पर इनका समभंग होता है तो ये अनन्तकाय अर्थात्, प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं और यदि समभंग नहीं होता तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर है।

जिस प्रत्येक वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्र शाखा या स्कन्ध की छाल मोटी हो, तो वे वनस्पति अनन्तकाय होती है अर्थात् निगोद जीवों से सहित प्रतिष्ठित प्रत्येक होती है। किन्तु जिनकी छाल पतली होती है, वे वनस्पतियाँ अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं।

बीज अर्थात् मूल से लेकर बीज पर्यन्त, योनिभूत अर्थात् जीवों की उत्पत्ति के योग्य हो जाने पर वही जीव जो उसमें वर्तमान है, मरकर अर्थात् अपनी आयु के क्षय हो जाने से शरीर को छोडकर पुन: उसी में उत्पन्न होता है। अथवा अन्य शरीर में रहने वाला जीव अपनी आयु के क्षय हो जाने से वह शरीर को छोडकर अपने योग्य मूल आदि बीज पर्यन्त में उत्पन्न होता है। जो भी मूली आदि प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर रूप से प्रतिबद्ध हैं, वे भी अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय में अन्तर्मुहूर्त काल तक साधारण जीवों से अप्रतिष्ठित ही होते हैं।

मूल से लेकर बीज पर्यन्त वनस्पति में जो जीव पहले था, उसकी आयु पूरी होने से मर गया। किन्तु उस वनस्पति की उत्पादन शक्ति नष्ट नहीं हुई है, तो बाह्य कारण मिलने पर वही जीव जो पहले उसमें प्रत्येक शरीर रूप में जीकर मर गया

था, पुन: उसी मूलादि बीज को शरीर बनाकर उत्पन्न होता है अथवा यदि वह पूर्व शरीर का स्वामी जीव अन्यत्र उत्पन्न हो जाता है, तो अन्य जीव आकर उसमें उत्पन्न होते हैं। तथा जो प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है, वह अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय में या अन्तर्मुहूर्त कालतक अप्रतिष्ठित प्रत्येक रहती है। पीछे जब निगोद जीव उसके आश्रित हो जाते हैं, तब प्रतिष्ठित हो जाती है।

साधारण जीव की परिभाषा

साधारण नामकर्म के उदय से जीव निगोद शरीर वाले होते हैं। 'नि' अर्थात् नियत गां अर्थात् भूमि, क्षेत्र या निवास अनन्तानन्त जीवों को देता है, वह निगोद है। निगोद शरीर जिनका है वे निगोद शरीर है इस प्रकार लक्षण से सिद्ध है। वही सामान्य अर्थात् साधारण शरीर होते हैं। उनके दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म। इनका लक्षण पहले कहा है। साधारण नाम कर्म के उदय के वशीभूत अनन्त जीवों का उत्पन्न होने के प्रथम समय में आहार पर्याप्ति और उसका कार्य आहार वर्गणा के आये हुए पुद्गल स्कन्धों का खल और रस भागरूप में परिणमन साधारण अर्थात् एक समान तथा एक ही काल में होता है। तथा शरीर पर्याप्ति और उसका कार्य आहारवर्गणा के आये पुद्गल स्कन्धों का शरीर के आकार रूप से परिणमन साधारण होता है। इन्द्रियपर्याप्ति और उसका कार्य स्पर्शन इन्द्रिय के आकार रूप से परिणमन तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और उसका कार्य उच्छ्वास-निश्वास का ग्रहण समान काल में होता है। तथा प्रथम समय में उत्पन्न होने वालों की तरह उसी शरीर में द्वितीय-तृतीय आदि समयों में उत्पन्न अनन्तानन्त जीवों का पूर्व-पूर्व समयों में उत्पन्न अनन्तानन्त जीवों के साथ आहार पर्याप्ति वगैहर सब समान और समान कालों में होता है यह साधारण जीवों का लक्षण पूर्वाचार्यों ने कहा है। यहाँ 'च' शब्द से शरीर पर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति को ग्रहण किया है। जिस निगोद शरीर में जब एक जीव अपनी आयु के क्षय होने से मरता है, तभी निगोद शरीर में समान आयु वाले अनन्तानन्त जीव एक साथ ही मरते हैं। जिस निगोद शरीर में जब एक जीव उत्पन्न होता है, तब उस निगोद शरीर में समान आयु वाले अनन्तानन्त जीव एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति और मरण का समकाल में होना भी साधारण का लक्षण कहा है। द्वितीय आदि समयों में उत्पन्न अनन्तानन्त जीवों का भी अपनी आयु पूर्ण होने पर एक साथ ही मरण जानना। इस प्रकार **एक निगोद शरीर में प्रतिसमय अनन्तानन्ता जीव एक साथ ही मरते हैं और एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा तब तक होता रहता है, जब तक निगोद की उत्कृष्ट काय स्थिति असंख्यात सागरोपम कोटि-कोटि मात्र जो कि असंख्यात लोक मात्र समय प्रमाण है, समाप्त हो।**

यहाँ कुछ विशेष कथन -

एक बादर निगोद शरीर में या सूक्ष्म निगोद शरीर में अनन्तानन्त साधारण जीव या तो केवल पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं या एक शरीर मे केवल अपर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं। दोनों एक ही शरीर में उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि उनके एक समान कर्म के उदय का नियम है। एक साधारण जीव के कर्मों को ग्रहण करने की शक्ति रूप योग के द्वारा गृहीत पुद्गलपिण्ड अनन्तानन्त साधारण जीवों का भी उपकारी होता है, उस जीव का भी उपकारी होता है। इसी तरह अनन्तानन्त साधारण जीवों की योग शक्ति के द्वारा गृहीत पुद्गल पिण्ड एक साथ संयुक्त रूप से एक जीव का भी उपकारी है और अनन्तानन्त साधारण जीवों का भी उपकारी होता है। एक बादर निगोद शरीर में अथवा सूक्ष्म निगोद शरीर में यथाक्रम पर्याप्त बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव भव के प्रथम समय में अनन्तानन्त उत्पन्न होते हैं। दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणा हीन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार निरन्तर आवली के असंख्यातवें भाग काल पर्यन्त प्रतिसमय असंख्यात गुणहीन क्रम से उत्पन्न होते हैं। उसके बाद जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आवली के असंख्यातवें भाग मात्र काल का अन्तर देकर पुन: जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आवली के असंख्यातवें भाग मात्र काल तक निरन्तर निगोद शरीर में असंख्यात गुणहीन क्रम से साधारण जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार निरन्तर या सान्तर के क्रम से निगोद शरीर में तब तक जीव उत्पन्न होते हैं, जब तक प्रथम समय में उत्पन्न साधारण जीव का सबसे जघन्य निर्वृत्य पर्याप्ति काल शेष रहता है। तथा प्रथम समय आदि में उत्पन्न सर्वसाधारण जीवों की आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और उच्छ्वास पर्याप्ति की पूर्ति अपने-अपने योग्य काल में होती है।

बादर निगोद शरीरों का आधार

बादर निगोद जीवों के शरीर की संख्या लाने के लिए उदाहरण- पूर्वक कथन करते हैं। स्कन्ध अर्थात् प्रतिष्ठित प्रत्येक जीव के शरीर असंख्यातलोक हैं अर्थात् अपने योग्य असंख्यात से लोक के प्रदेशों को गुणा करने पर जो परिमाण हो, उतने हैं। तथा जैसे जगत्श्रेणी के घन प्रमाण लोकाकाश के प्रदेशों में अनन्तानन्त पुद्गलों का अवगाह होता है या एक निगोद जीव के कार्माण शरीर में अनन्तानन्त निगोद जीवों के कार्मण शरीरों का अवगाहन होता है, वैसे ही एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक मात्र अण्डर रहते हैं। ये अण्डर प्रत्येक जीव शरीर के विशेष अवयव रूप होते हैं। उसी तरह एक-एक अण्डर में असंख्यात लोक मात्र आवास होते हैं। वे भी प्रत्येक जीव शरीर के भेद हैं। एक-एक आवास में असंख्यात लोक मात्र पुलवियाँ हैं। वे भी प्रत्येक जीव शरीर के विशेष भेद हैं । एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक

मात्र बादर निगोद जीवों के शरीर होते हैं। इस प्रकार ये अण्डर आदि उत्तरोत्तर नीचे के स्कन्ध आदि की योनि हैं। अर्थात् नीचे कहे भेदों की संख्या की उत्पत्ति का कारण ऊपर के भेद हैं। यदि एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक मात्र अण्डर हैं, तब असंख्यात लोक मात्र स्कन्धों में कितने अण्डर हुए; इस प्रकार त्रैराशिक करने पर असंख्यात लोक से गुणित असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर होते हैं। इसी तरह आवास आदि के सम्बन्ध में भी त्रैराशिक करने पर अण्डर से असंख्यात लोक गुण से आवास होते हैं। आवास से असंख्यात लोक गुणे पुलवी होते हैं, उनसे असंख्यात लोकगुणे बादर निगोद होते हैं।

स्कन्धों का दृष्टान्त जम्बूद्वीप आदि हैं। अण्डरों का दृष्टान्त भरत आदि क्षेत्र हैं। आवासों का दृष्टान्त कोशल आदि देश हैं। पुलवी का दृष्टान्त साकेत आदि नगर हैं और बादर निगोद शरीरों का दृष्टान्त साकेत आदि नगरों के घर हैं। 'वा' शब्द दृष्टान्त के अर्थ में है। अर्थात् जैसे मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि द्वीप हैं, वैसे ही लोक में स्कन्ध है। जैसे एक जम्बूद्वीप में भरत आदि क्षेत्र हैं, वैसे ही स्कन्ध में अण्डर हैं। जैसे भरत क्षेत्र में कौशल आदि देश हैं, वैसे ही अण्डर में आवास हैं। जैसे कोशल देश में अयोध्या आदि नगर हैं वैसे ही आवास में पुलवियाँ है। तथा जैसे अयोध्या में अनेक घर हैं, वैसे ही पुलवी में बादर निगोद शरीर है। इसी तरह अन्य भी दृष्टान्त जानना।

एक निगोद शरीर में वर्तमान जीव द्रव्य प्रमाण से अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा संख्या से अनन्तानन्त हैं। अर्थात् सर्वजीव राशि के अनन्त बहुभाग मात्र संसारी जीवों की राशि है। उसके असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव एक निगोद शरीर में सदा विद्यमान रहते हैं। वे अनन्तान्त हैं, ऐसा परमागम में कहा है। तथा वे सर्वजीव राशि के अनन्तवें भागमात्र जो अनादि काल से हुए सिद्धजीव हैं, उनसे अनन्तगुणे हैं। तथा समस्त अतीतकाल के समयों से भी अनन्तगुणे हैं, इससे काल की अपेक्षा एक शरीर में निगोद जीवों की संख्या कही। क्षेत्र और भाव की अपेक्षा उनकी संख्या आगम के अनुसार कहते हैं। समस्त आकाश के प्रदेशों से और केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अनन्तगुणा हीन हैं तथा लोकाकाश के प्रदेशों से और सर्वावधिज्ञान के विषयभूत भावों से अनन्तगुणित हैं। परमागम में उनकी संख्या को जिन भगवान् के द्वारा दृष्ट कहा है, इसलिए कोई विरोध नहीं है।

शङ्का- आठ समय और छह मास में छह सौ आठ जीवों के कर्मों का क्षय करके सिद्ध होने पर सिद्ध राशि की वृद्धि देखी जाती है और संसारी जीव राशि की हानि देखी जाती है। तब कैसे सर्वदा एक शरीर में रहने वाले निगोद जीव सिद्धों से अनन्तगुणे हो सकते हैं? तथा काल के समयों का समूह सर्व जीव राशि से अनन्तगुणा है। अत: अपने योग्य अनन्तभाग काल बीतने पर संसारी जीव राशि का क्षय और सिद्धराशि की वृद्धि सुघटित है।

समाधान - उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान रूप दृष्टि से केवलियों के द्वारा और श्रुतज्ञान रूप दृष्टि से श्रुत केवलियों के द्वारा सदा देखा गया भव्य संसारी जीव राशि का अक्षयपना अति सूक्ष्म होने से तर्क का विषय नहीं है तथा जो तर्क प्रत्यक्ष और आगम से बाधित है, वह प्रमाण नहीं है। जैसे अग्नि शीतल होती है, क्योंकि द्रव्य है। जो-जो द्रव्य होता है, वह शीतल होता है जैसे जला धर्म मरने षर दु:ख देता है, पुरुष के आश्रित होने से। जो-जो पुरुष के आश्रित होता है, वह वह दु:ख दायी होता है, जैसे अधर्म। ये तर्क प्रत्यक्ष और आगम से बाधित हैं।

शङ्का- तब तर्क से बाधित आगम को कैसे प्रमाण माना जा सकता है?

समाधान- नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण और अन्य तर्कों से सम्भावित आगम के असंवादि होने से उसका प्रामाण्य सुनिश्चित है। तथा आपका तर्क प्रत्यक्ष और आगम का विरोधी होने से अप्रमाण है।

शङ्का- तब वह तर्क कौनसा है। जिससे आगम का प्रामाण्य निश्चित है ?

समाधान- समस्त भव्य संसारी जीव राशि अनन्त काल बीतने पर भी क्षय को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह अक्षय अनन्त प्रमाण है। जो-जो अक्षयानन्त होता है, वह-वह अनन्तकाल में भी क्षय को प्राप्त नहीं होता। जैसे इतने हैं, इस रूप से परिमित होने पर भी तीन काल के समय कभी समाप्त नहीं होते या सब द्रव्यों की पर्याय अथवा अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह कभी समाप्त नहीं होता। इस प्रकार अनुमान का अङ्ग जो तर्क है, उसका प्रामाण्य सुनिश्चित है।

शङ्का- तब आपका हेतु भी साध्य के समान हुआ, क्योंकि साध्य भी अक्षयानन्त है और हेतु भी वही है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि भव्यराशि का अक्षयानन्तपना आप्त प्रणीत आगम से सिद्ध है अत: साध्य सम नहीं है। अधिक कहने से क्या, सब तत्त्वों के प्रवक्ता पुरुष के आप्त सिद्ध होने पर उसके वचन रूप आगम का प्रमाण सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में सुप्रसिद्ध है। इसलिए उनके द्वारा उपदिष्ट आगम में कहे हुए पदार्थों के सम्बन्ध में मेरा चित्त शंङ्का रहित है। आप्त की सिद्धि तो **'विश्वतश्चक्षुरूप विश्वतो मुख:'** इत्यादि वेद वाक्य से और **' मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** इत्यादि जैन वाक्य से तथा दूसरे वादियों के अपने-अपने मत के देवता के स्तवन रूप वाक्यों से सामान्य से स्वीकृत ही है। विशेष रूप से सर्वज्ञ वीतराग स्याद्वादी आप्त को ही युक्ति से भी सिद्ध किया है। विस्तार से उनकी सिद्धि स्याद्वाद के तर्क शास्त्रों से जाननी चाहिए। इस प्रकार बाधक प्रमाण के सुनिश्चित रूप से असम्भव होने से आप्त और उसके द्वारा उपदिष्ट आगम सिद्ध है। अत: उसमें कहे हुए, मोक्ष तत्व

और बन्ध तत्त्व को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार एक शरीर में निगोद जीव सिद्धों से अनन्तगुणे होते हैं, यह सिद्ध है।

नित्यनिगोद का लक्षण - जिन निगोद जीवों ने दो इन्द्रिय आदि त्रसों के परिणाम अर्थात् पर्याय को कभी भी प्राय: करके प्राप्त नहीं किया, वे अनन्तान्त जीव अनादि काल से निगोद भव को ही भोगते हुए सर्वदा नित्यनिगोद संज्ञावाले होते हैं। वे भाव अर्थात् निगोद पर्याय के कंलक अर्थात् उसके योग्य कषाय के उदय से प्रकट हुई अशुभ लेश्या रूप संक्लेश से प्रचुर अर्थात् अत्यन्त सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार के नित्यनिगोद जीव निगोदवास अर्थात् निगोद की भवस्थिति को कभी भी नहीं छोडते। इस कारण से निगोद भव के आदि और अन्त से रहित होने से अनन्तानन्त जीवों के नित्य-निगोदपने का समर्थन होता है। नित्य विशेषण से यह सूचित होता है कि चतुर्गति निगोदरूप आदि सान्त निगोद भव वाले कुछ जीव अनित्यनिगोद होते हैं, **'णिच्चचदुग्गतिणिगोद'**इत्यादि परमागम में निगोद जीवों के दो प्रकार सुप्रसिद्ध हैं। एकदेश के अभाव से विशिष्ट सकल अर्थ के वाचक प्रचुर शब्द से यह अर्थ प्रतिपादन हुआ जानना कि कदाचित् **छह महीना आठ समय के भीतर चतुर्गति राशि से निकलकर छह सौ आठ जीवों के मुक्ति जाने पर उतने जीव नित्यनिगोद भव को छोडकर चतुर्गति भव में आते हैं।**

त्रसकाय :- स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियों से, स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियों से, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु चार इन्द्रियों से तथा कर्ण से सहित जो जीव लोक में हैं, वे जीव त्रसकाय हैं। ऐसा वर्धमान तीर्थकर परमदेव के उपदेश से अविच्छिन्न गुरु परम्परा से आगत सम्प्रदाय से हमने श्रुत के अर्थ का अवधारण करके कहा है सो जानना॥

विवक्षित भव के प्रथम समय में पर्याय की प्राप्ति को उपपाद कहते हैं। मरण अर्थात् प्राणत्याग और अन्त अर्थात् अवसान जिसके हो, वह मरणान्त काल वर्तमान भव की स्थिति का अन्तिम मुहूर्त है। मरणान्त में हुआ मारणान्तिक समुद्धात है। उत्तर भव की उत्पत्ति स्थान पर्यन्त जीव के प्रदेशों के विस्तार को मारणान्तिक समुद्धात कहते हैं। उपपाद से परिणत, मारणान्ति समुद्धात से परिणत और 'च' शब्द से केवली समुद्धात से परिणत त्रस को छोडकर शेष स्वस्थान आदि पद रूप से परिणत सब त्रस जीव त्रसनाडी से बाहर के लोकक्षेत्र में नहीं रहते, ऐसा अर्हन्त आदि ने कहा है। इसी दृष्टिकोण से त्रसों की नाली के समान नाली त्रसनाली यह सार्थक नाम है। यह त्रसनाली लोक के मध्यस्थित है। यह एक राजू लम्बी, चौडी और चौदह राजू ऊँची है। कोई जीव त्रसनाली के बाहर वातवलय में स्थित है, उसने त्रस की आयु बाँधी है। अपने वर्तमान वायुकायिक भव को त्यागकर उत्तर त्रस काय को प्राप्त करके आगे की विग्रहगति के प्रथम समय में त्रसनामकर्म का उदय होने

से त्रस हुआ। इस प्रकार उपपाद परिणतत्रस का त्रसनाली के बाहर अस्तित्व हुआ । कोई त्रसजीव त्रस नाली के मध्य में स्थित है। उसने तनुवातवलय के वायुकायिक की स्थिति का बन्ध किया। अपनी आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त काल में तनुवातवलय पर्यन्त त्रस नाली के बाहर के क्षेत्र में आत्मा के प्रदेशों में विस्तार रूप मारणान्तिक समुद्धात को करता है। उस त्रस का त्रसनाली के बाह्य क्षेत्र में भी अस्तित्व हुआ । जो केवली कपाट आदि के आकार रूप से त्रसनाली के बाहर आत्मा के प्रदेशों के फैलाव रूप समुद्धात को करता है, उस केवलि का भी त्रसनाली के बाह्य क्षेत्र में अस्तित्त्व सिद्ध है।

वनस्पति की तरह अन्य जीवों के भी प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित भेद :- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, इन चार प्रकार के जीवों के शरीर, केवली का शरीर, आहारक का शरीर, देवों और नारकियों का शरीर, बादरनिगोद जीवों के शरीर से अप्रतिष्ठित है। इन शरीरों में उनका वास नहीं है। शेष सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक शरीर, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के शरीर, ऊपर कहे गये बाकी के मनुष्यों के शरीर बादरनिगोद शरीरों से प्रतिष्ठित हैं। उनमें उनका वास है।

स्थावर कायिकों और त्रसकायिकों के शरीर का आकार

पृथ्वी, अप्, तेज और वायुकायिक इन चार का शरीर क्रम से मसूर, जल की बूँद, सूचीकलाप, और ध्वजा के समान होता है। अर्थात् पृथ्वीकायिक का शरीर मसूर के समान गोलाकार होता है । अप्कायिक शरीर जल की बूँद के समान गोलाकार होता है। तैजस्कायिक का शरीर सूचीकलाप के समान अर्थात् जैसे सूची समूह ऊँचा और बहुत मुख वाला होता है वैसा ही आकार होता है। वायुकायिक का शरीर ध्वजा के समान लम्बा चौकोर होता है। **यद्यपि इनके शरीर उक्त आकार वाले हैं तथापि उनकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र है इसलिए इन्द्रिय गोचर नहीं हैं।** जो पृथ्वी आदि इन्द्रियगोचर प्रतीत होते हैं, वह तो बहुत से शरीरों का समूह है ऐसा जानना। तरु अर्थात् वनस्पति कायिकों के तथा दो इन्द्रिय आदि त्रसों के शरीर अनेक प्रकार के हैं, उनका कोई नियत आकार नहीं है। उनकी अवगाहना यथासम्भव घनांगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संख्यात गुणित घनांगुल पर्यन्त भेदों को लिए हुए हैं, ऐसा जानना। काय सहित संसारी जीवों का व्यवहार दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं- लोक में जैसे बोझा ढोने वाला पुरुष कावटिया में रखे भार को विवक्षित स्थान को ले जाता है, वैसे ही संसारी जीव औदारिक आदि नोकर्म शरीर में रखे ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मो के भार को, लेकर नाना योनिस्थानों में जाता है। पुन: वही मनुष्य कावटिका के भार से मुक्त होकर अपने इष्ट स्थान में उस भार

से होने वाले दु:ख के चले जाने से सुखी होकर बैठता है। उसी प्रकार कोई भव्य जीव भी पाँच लब्धियों के द्वारा सम्यग्दर्शन आदि सामग्री से सम्पन्न हो तत्त्वज्ञानी बन शरीर रूपी कावट में भरे कर्मों के भार से मुक्त होकर उस भार से होने वाली नाना प्रकार के दु:खों की वेदना के चले जाने से इस लोक के अग्रभाग में सुखी होकर रहता है। इस प्रकार आचार्य के अभिप्राय में भव्य जीवों के लिये जो यह हितोपदेश है, उस-पर दृष्टि देना चाहिए।

दृष्टान्त पूर्वक कायमार्गणा से रहित सिद्धों का स्वरूप

जैसे लोक में मलयुक्त सुवर्ण प्रज्ज्वलित अग्नि में जलकर तथा अन्तरंग में पारा आदि भावना से संस्कार युक्त होकर बाह्य मल और कालिमारूप अन्तरंग मल से मुक्त हो जाता है और चमकते हुए सोलहतावरूप स्वरूप को प्राप्त करके सर्वजनों से प्रशंसित होता है। उसी तरह ध्यान योगरूप धर्म और शुक्ल भावना के द्वारा संस्कृत बहिरंगतप रूप अग्नि विशेष से निकट भव्यजीव भी औदारिक और तैजस तथा कार्मणशरीर के साथ संश्लेषरूप बन्ध से मुक्त होकर अशरीर सिद्धपरमेष्ठी, अनन्तज्ञानादि स्वरूप को प्राप्त करके लोक के अग्रभाग में स्थित होकर सब लोगों के द्वारा स्तुति, प्रणाम, पूजा आदि से प्रशंसित होते हैं। जिनके काय अर्थात् शरीर हैं वे कायिक अर्थात् संसारी हैं। और जो उससे विपरीत अकायिक हैं वे मुक्त हैं।

पृथ्वीकायिक आदि जीवों की संख्या

जगत् श्रेणी के घनप्रमाण लोक के प्रदेश होते हैं। लोक के प्रदेश प्रमाण विरलन, देय और शलाका राशि स्थापित करके विरलन राशि का एक-एक के रूप में विरलन करो और देयराशि को प्रत्येक पर देकर परस्पर में वर्गित संवर्ग करो। समस्त रूप से वर्ग करने को संवर्ग कहते हैं और वर्गित के संवर्ग को अर्थात् परस्पर में गुणा करने को वर्गित संवर्ग कहते हैं। वह करके शलाका राशि में से एक कम करो। पुन: उससे उत्पन्न राशि का विरलन करके एक-एक पर उसी राशि को देकर वर्गित संवर्ग करके शलाका राशि में से एक कम करो। इसी तरह लोक प्रमाण शलाका राशि की समाप्ति तक करो। ऐसा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उसको शलाका विरलन और देय के रूप में तीन जगह स्थापित करके विरलन राशि को विरलित करके एक-एक के ऊपर देय राशि को देकर-स्थापित करके परस्पर में गुणा करो और द्वितीय बार स्थापित शलाका राशि में से एक कम करो। उससे उत्पन्न राशि का विरलन करके और एक-एक के ऊपर देयराशि को देकर परस्पर में गुणा करके शलाका राशि में से एक कम करो। इसी तरह दूसरी बार स्थापित शलाका राशि के समाप्त होने पर अन्त में जो महाराशि उत्पन्न हो, पहले की तरह उसे शलाका, विरलन और देय के रूप में स्थापित करके विरलन राशि का विरलन करो और एक-एक पर देय राशि को देकर परस्पर

में गुणा करो और तीसरी बार स्थापित शलाका राशि में से एक कम करो। उससे उत्पन्न राशि का विरलन करके और एक-एक पर उसी राशि को देकर परस्पर में गुणा करो और शलाका राशि में से एक कम करो। इस तरह तीसरी बार स्थापित शलाका राशि के समाप्त होने पर अन्त में जो महाराशि उत्पन्न हो, पहले की तरह उसे विरलन, शलाका और देय के रूप में तीन जगह स्थापित करके विरलन राशि का विरलन करके एक-एक पर देय राशि को देकर परस्पर में गुणा करो और चतुर्थ बार स्थापित शलाका राशि में से एक कम करो। उससे उत्पन्न महाराशि का विरलन करके और एक-एक पर उसी राशि को देकर शलाका राशि में-से एक कम करो। इस बार शलाका राशि में से प्रथम बार, द्वितीय बार और तृतीय बार की स्थापित शलाका राशियाँ कम करके जितनी शेष रहें उतनी चतुर्थ बार की शलाका राशि समाप्त करने पर जो महाराशि उत्पन्न होती है, उतना ही **तैजस्कायिक जीवराशि का प्रमाण है**। इस राशि की परस्पर गुणकार शलाका राशि, वर्ग शलाका राशि और अर्धच्छेद राशि का प्रमाण और उसका अल्प बहुत्व पहले द्विरूपघनाघन धारा के कथन में कहा है सो यहाँ भी जानना। **पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वायुकायिक जीव क्रम से तैजस्कायिक राशि से उत्तरोत्तर अधिक है।** उस अधिक का प्रमाण लाने के लिए भागहार का प्रमाण असंख्यात लोक है। अधिक का क्रम बतलाते हैं- उक्त तैजस्कायिक राशि में असंख्यात लोक भागहार से भाग देने पर जो लब्ध आवे, उसे तैजस्कायिक जीवराशि में जोडने पर पृथ्वीकायिक जीवराशि का प्रमाण आता है। उस पृथ्वीकायिक जीवराशि में असंख्यात लोक का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उसे पृथ्वीकायिक जीवराशि में जोडने पर अप्कायिक जीवराशि का प्रमाण होता है। पुन: अप्कायिक जीवराशि में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध आवे, उसे उसी में जोडने पर वायुकायिक जीवराशि का प्रमाण आता है- **अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव यथायोग्य असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनसे असंख्यात लोक गुणे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव होते हैं।**

त्रसराशि का प्रमाण

आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित प्रतरांगुल का भाग जगत् प्रतर में देने से जो प्रमाण आवे, उतना है तथा पृथ्वीकायिक आदि चारों का प्रमाण जो ऊपर कहा है तैजस्कायिक राशि के प्रमाण से चौगुने से भी कुछ अधिक है। तथा सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का प्रमाण ऊपर कहा है। ये तीनों राशियाँ संसारी जीवों के परिमाण में से कम कर देने पर जो शेष रहे, उतना ही साधारण जीवों का परिमाण जिनेन्द्र देव ने कहा है।- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक और साधारण

वनस्पतिकायिक जीवों के अपने-अपने परिमाण में असंख्यात लोक का भाग देने पर एक भाग प्रमाण अपने-अपने बादरकायों का प्रमाण होता है और शेष बहुभाग सूक्ष्मकायिक जीवों का प्रमाण होता है । यहाँ भी भागहार पूर्वोक्त असंख्यात लोकमात्र ही जानना चाहिए। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक और साधारण वनस्पतिकायिकों के सूक्ष्मजीवों का जो परिमाण पहले कहा है, उसमें संख्यात का भाग देने पर एक भाग प्रमाण अपर्याय जीव और संख्यात बहुभाग प्रमाण पर्याप्त सूक्ष्म जीव होते हैं। इसका कारण यह है कि अपर्याप्ति का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है और उससे उनके पर्याप्तकों का काल संख्यातगुणा है। **कोमल पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष, खर पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष, जलकायिक जीव उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष, वायुकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु दसहजार वर्ष और तैजस्कायिक जीव की उत्कृष्ट आयु तीन रात-दिन** होने से अन्तर्मुहूर्त मात्र अपर्याप्त काल से पर्याप्त काल संख्यात गुणा प्रसिद्ध है। इस कारण से पृथ्वी कायिक के पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों कालों में यदि समस्त सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं, तो अन्तर्मुहूर्त मात्र अपर्याप्त काल में कितने पाये जायेंगे ? ऐसा त्रेराशिक करने पर प्रमाणराशि पर्याप्त अपर्याप्त दोनों कालों के समयों का समूह, फलराशि सूक्ष्म जीवों का प्रमाण, इच्छाराशि अपर्याप्ति काल के समयों का प्रमाण । सो फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाण राशि का भाग देने पर जो लब्ध राशि का प्रमाण आता है उतने ही सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त जीव जानना तथा प्रमाणराशि और फलराशि पूर्वोक्त तथा इच्छाराशि पर्याप्त काल करने पर लब्धराशि का जो प्रमाण आता है, उतनाही सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना। इसी से संख्यात का भाग देने पर एक भाग प्रमाण अपर्याप्त और बहुभाग प्रमाण पर्याप्त कहे हैं। इसी प्रकार उक्त दोनों त्रैराशिक के अनुसार अपने-अपने सर्वकाल को प्रमाण राशि, अपने-अपने प्रमाण को फलराशि और अपर्याप्तकाल तथा पर्याप्तकाल को इच्छाराशि बनाकर लब्धराशि प्रमाण सूक्ष्म अप्कायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, सूक्ष्म वायु कायिक और सूक्ष्मसाधारण वनस्पतिकायिक पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना।

पल्य के असंख्यातवें भाग से भाजित प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने से जो लब्ध आवे, उतना बादर अप्कायिक पर्याप्त जीव राशि का प्रमाण होता है। पुनः इस राशि में आवली के असंख्यातवे भाग से भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना बादर प्रतिष्ठित प्रत्येक जीव राशि का प्रमाण है। पुनः इस राशि में आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना बादर अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशि का प्रमाण है।

गाथा में आये 'नि' अक्षर से निगोद शब्द से निगोदों के आश्रित प्रतिष्ठित प्रत्येक ही ग्रहण किये गये हैं, साधारण जीव नहीं, क्योंकि आगे उनका स्पष्ट कथन किया है। घनावली के असंख्यातवें भागमात्र बादर तैजस्कायिक पर्याप्त जीव हैं। तथा लोक में संख्यात का भाग देने से लब्ध का एक भाग प्रमाण बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव होते हैं। सूक्ष्म जीवों का प्रमाण पहले कहा है । इसलिए यहाँ बादर जीवों को ही ग्रहण किया है। पहले जो दो गाथाओं से बादर जलकायिक, पृथ्वीकायिक, सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित, तैजस्कायिक और वायुकायिक जीव राशिका प्रमाण कहा था, उसमें से अपने-अपने पर्याप्त जीवों के प्रमाण को घटाने पर शेष रहे, उतना-उतना अपने-अपने बादर अपर्याप्त जीवों का प्रमाण जानना। साधारण बादरों में जो पर्याप्त जीव हैं, उनका प्रमाण साधारण बादरों की राशि के असंख्यातवें भाग मात्र है। शेष असंख्यात बहुभाग प्रमाण अपर्याप्त होते हैं। इस अनुक्रम से साधारण बादरों में पर्याप्त भवों का दुर्लभपना कहा है। इस आचार्य परम्परा के अनुक्रम को लेकर बादरों में पर्याप्तकों की संख्या थोडी कही है । यहाँ काल के संचय को लेकर कथन नहीं है, ऐसा आचार्य का अभिप्राय है। आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने से जो लब्ध आवे, उतना सामान्य त्रसराशिका प्रमाण होता है। तथा संख्यात से भाजित प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने से पर्याप्त त्रस राशि का प्रमाण होता है। सामान्य त्रसराशि में से पर्याप्त त्रसराशि को घटा देने पर जो शेष रहे, उतना अपर्याप्त त्रसराशि का प्रमाण होता है। यहाँ पर्याप्त भवों की दुर्लभता ही पर्याप्त जीवों की संख्या के अल्प होने का कारण है।

औदारिक आदि पाँच शरीरों की उत्कृष्ट का प्रमाण

उन औदारिक आदि पाँच शरीरों की बन्धरूप उत्कृष्ट स्थिति-औदारिक की तीन पल्य, वैक्रियिक की तेंतीस सागर, आहरक की अन्तर्मुहूर्त, तैजस की छियासठ सागर है। तथा कार्मण की सामान्य से सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण और विशेष से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्म की तीस कोडाकोडी सागर, मोहनीय की सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम और गोत्र की बीस कोडाकोडी सागर और आयुकर्म की तेंतीस सागर है। इस प्रकार बन्ध के प्रकरण में कही सबकी उत्कृष्ट स्थित ग्रहण करना। (गो. जी. I पृ.386)

पाँच शरीरों की उत्कृष्ट स्थिति में गुणहानि आयाम का प्रमाण :- आदि के औदारिक, वैक्रियिक और आहारक तीन शरीरों की उत्कृष्ट स्थिति संबंधी गुणहानि और गुणहानि आयाम प्रत्येक अपने-अपने योग्य अन्मुहूर्तमात्र होता है। अर्थात् अपने-अपने योग्य अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतना गुणहानि का आयाम जानना। तैजस और कार्मण शरीर की उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी गुण हानि अपने-

अपने योग्य पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र होती है। उनमें से पल्य की वर्ग शलाकाके अर्धच्छेदों में पल्य के अर्धच्छेदों में से कम करके जो शेष रहे, उसे असंख्यात से गुणा करने पर जो प्रमाण आवे, उतनी तैजस शरीर की नाना गुणहानि शलाका है। इस शलाका राशि से तैजस की उत्कृष्ट स्थिति संख्यात पल्य में भाग देने पर जो प्रमाण आवे उतनी पल्य के अयंख्यातवें भाग मात्र तैजस शरीर की गुणहानि का आयाम है। पल्य की वर्ग शलाका के अर्धच्छेदों को पल्य के अर्धच्छेदों में से घटाने से जो शेष रहे उतनी कार्माण की नाना गुण हानि शलाका है। इस शलाका का भाग कार्माण की उत्कृष्ट स्थिति संख्यात पल्य में भाग देने पर जो प्रमाण आवे, उतना पल्य के असंख्यातवें भाग कार्माण शरीर की गुणहानि का आयाम है; इतना विशेष जानना। अब यदि अन्तर्मुहूर्तमात्र आयाम की एक गुणहानि होती है, तो तीन पल्य प्रमाण सर्वोत्कृष्ट स्थिति के आयाम की कितनी गुणहानि होगी? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर प्रमाण राशि अन्तर्मुहूर्त के समय, फलराशि एक, इच्छा राशि तीन पल्य के समय सो फलराशि से इच्छाराशी को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देने पर तीन पल्य को अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जो प्रमाण आवे, उतना लब्ध आता है, उतना ही औदारिक शरीर की स्थिति की नाना गुणहानि शलाका का प्रमाण है। ऐसे ही वैक्रियिक शरीर में प्रमाणराशि अन्तर्मुहूर्त, फलराशि एक, इच्छाराशि तेंतीस सागर, सो तेंतीस सागर को अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जो प्रमाण आवे, उतना नाना गुणहानि शलाका का प्रमाण जानना। आहारक शरीर में प्रमाणराशि छोटा अन्तर्मुहूर्त, फलराशि एक, इच्छाराशि बडा अन्तर्मुहूर्त है। सो बडे अन्तर्मुहूर्त में छोटे अन्तर्मुहूर्त का भाग देने पर जो प्रमाण आवे, उतनी नाना गुणहानि जानना। तैजस शरीर में प्रमाणराशि अन्तर्मुहूर्त, फलराशि एक, इच्छाराशि छियासठ सागर है। सो प्रमाणराशि का इच्छाराशि में भाग देने पर पल्य की वर्ग शलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेदों को असंख्यात से गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतनी नाना गुणहानि तैजस की जानना। कार्मणशरीर में प्रमाणराशि अन्तर्मुहूर्त, फलराशि एक, इच्छाराशि मोह की स्थिति की अपेक्षा सत्तर कोडाकोडी सागर है। सो प्रमाण राशि का इच्छाराशि में भाग देने पर पल्य की वर्ग शलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेद मात्र नाना गुणहानि जानना ।अब औदारिक आदि शरीरों के गुणहानि आयाम को साधते हैं- यदि अपने-अपने नाना गुणहानि प्रमाण का आयाम अपनी-अपनी स्थिति प्रमाण होता है, तो एक गुणहानि का आयाम कितना हुआ? ऐसा त्रैराशिक करने पर लब्धराशि प्रमाण गुनहानि का आयाम होता है। सो औदारिक में प्रमाणराशि अन्तर्मुहूर्त से भाजित तीन पल्य, इच्छाराशि एक फलराशि तीन पल्य। सो औदारिक शरीर की स्थिति की एक गुणहानि का आयाम अन्तर्मुहूर्त मात्र हुआ। वैक्रियिक शरीर में प्रमाण राशि

अन्तर्मुहूर्त से भाजित तेंतीस सागर, फलराशि तेंतीस सागर इच्छाराशि एक सो वैक्रियिक शरीर की स्थिति की एक गुणहानि का आयाम अन्तर्मुहूर्त आया। आहारक शरीर में प्रमाण राशि संख्यात, फलराशि अन्तर्मुहूर्त, इच्छा एक। सो छोटा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण गुणहानि आयाम हुआ। तैजस में प्रमाण राशि पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेदों से असंख्यातगुणी । फलराशि छियासठ सागर। इच्छाराशि एक। सो संख्यात पल्य में पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेदों से असंख्यात गुणे प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना गुणहानि आयाम जानना। कार्मण शरीर में प्रमाणराशि पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेद मात्र, फलराशि सत्तर कोडाकोडी सागर, इच्छाराशि एक सो संख्यात पल्य में पल्य की वर्ग शलाका अद्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेद मात्र फल राशि सत्तर कोडाकोडी सागर, इच्छाराशि एक सो संख्यात पल्य में पल्य की वर्ग शलाका के अर्धच्छेदों से हीन पल्य के अर्धच्छेदों का भाग देने पर जो लब्ध आवे,उतना गुणहानि जानना। इस प्रकार सर्वत्र एक गुणहानि का आयाम जानना। (गो.सा. पृ. 391)

तीनों वेदों की अपेक्षा जीवों की संख्या

ज्योतिषीदेव पेंसठ हजार पाँच सो छत्तीस से गुणित प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने से जितना परिमाण आवे, उतने हैं। इनसे संख्यातगुणे हीन व्यन्तर हैं। व्यत्तरों से संख्यातगुणे हीन योनिमती तिर्यंच अर्थात् तिर्यंच द्रव्यस्त्री हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन द्रव्य पुरुष वेदी तिर्यंच हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन पीतलेश्या वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। उनसे संख्यातगुणे हीन पद्मलेश्या वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। इस प्रकार ये छह राशियाँ क्रम से संख्यात गुणाहीन जानना । देवगति में एक पुरुषदेव की सबसे कम बत्तीस-बत्तीस देवियाँ होती हैं यद्यपि इन्द्रादिकों के उससे संख्यातगुणित देवियाँ होती हैं, तथापि इन्द्रादि की संख्या अल्प है, तथा प्रकीर्णक आदि जाति के देव उनसे असंख्यातगुणे हीन से बहुत हैं। इसलिए इन्द्रादि की अधिक देवियों की विवक्षा यहाँ नहीं की। अत: एक देव और बत्तीस देवियों की संख्या को मिलाकर तेंतीस संख्या से सामान्य देवराशि को भाग देने पर जो एकभाग आवे , उसमें पुरुष का गुणाकार एक से गुणा करने पर जो लब्ध हो, उतने देवगति में पुरुष होते हैं। और उस एक भाग को बत्तीस से गुणा करने पर जो लब्ध आवे, उतनी देवियाँ होती हैं।

पुरुषवेदी देवों की राशि में पुरुषवेदी तिर्यंचों और पुरुषवेदी मनुष्यों की राशि मिलाने पर समस्त पुरुषवेदी जीवों का परिमाण होता है तथा देवियों की राशि में मनुष्य और तिर्यंचस्त्रियों की राशि मिलाने पर सब स्त्रीवेदी जीवों का परिमाण होता है। सवेद जीवों की

राशि में उक्त पुरुष वेदियों और स्त्रीवेदियों की राशि घटाने पर नंपुसकवेदी जीवों की राशि होती है। तथा सब संसारी जीवों की राशि में अनिवृत्तिकरण के अवेद भाग से लेकर अयोगी केवली पर्यन्त जीवों की संख्या घटाने पर सवेद जीवों का परिमाण होता है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी, संज्ञीपंचेन्द्रिय गर्भज पुरुषवेदी, संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज स्त्रीवेदी, सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त नपुंसकवेदी, सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त नपुंसकवेदी, भोगभूमियाँ गर्भज, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पुरुषवेदी तथा स्त्रीवेदी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी, असंज्ञी गर्भज पुरुषवेदी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज, स्त्रीवेदी, व्यन्तर, ज्योतिदेव ये ग्यारह जीव राशियाँ उक्त क्रम से ऊपर-ऊपर स्थापित करनी चाहिए। इनमें-से सबसे नीचे की राशि सैनी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी सबसे कम है अर्थात् आठ बार संख्यात, आवली का असंख्यातवाँ भाग, पल्य का असंख्यातवाँ भाग और पैंसठ हजार पाँच सो छत्तीस प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर में देने से जो लब्ध आये, उतना परिमाण होता है। उसके ऊपर संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज पुरुषवेदी से लेकर तीन स्थानों का परिमाण क्रम से संख्यातगुणा होता है। चतुर्थ से ऊपर पंचम राशि सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय अपार्याप्त नपुंसकवेदी आवली के असंख्यातवें भाग गुणित हैं। पंचम राशि से छठी राशि पल्य के असंख्यातवें भाग गुणित हैं। इस छठी राशि से ऊपर अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज नपुंसकवेदी से लेकर ज्योतिषीदेव पर्यन्त सातवी, आठवीं, नवमी, दसवी और ग्यारहवी राशि क्रम से संख्यातगुणी होती हैं। (गो. जी.काण्ड, 468)

श्वेताम्बर जैन साहित्य में वर्णित संसार परिवर्तन

पुद्गल परावर्त भेदों का प्ररूपण :- पुद्गल परावर्त तीन प्रकार के कहे गये है, यथा- (1) अतीत पुद्गल परावर्त, (2) वर्तमान पुद्गल परावर्त, (3) अनागत पुद्गल परावर्त

परमाणु पुद्गलों के अनन्तानन्त पुद्गल परावर्तों का प्ररूपण

प्रश्न-1 भगवन् ! इन परमाणु पुद्गलों के संयोग वियोग से अनन्तानन्त पुद्गल परावर्त जानने चाहिए, ऐसा कहा गया है ?

उत्तर- हाँ गौतम ! इन परमाणु पुद्गलों के संयोग वियोग से अनन्तानन्त पुद्गल परावर्त जानने चाहिए, ऐसा कहा गया है।

पुद्गल परावर्त के सात भेदों का प्ररूपण-

प्रश्न -2 भगवन् ! पुद्गल परावर्त कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

उत्तर- गौतम ! पुद्गल परावर्त सात प्रकार के कहे गए हैं। (1)औदारिक पुद्गल परावर्त, (2) वैक्रिय पुद्गल परावर्त, (3) तैजस पुद्गल परावर्त, (4) कार्मण पुद्गल परावर्त, (5) मन पुद्गल परावर्त, (6) वचन पुद्गल परावर्त, (7) श्वासोच्छ्वास पुद्गल परावर्त।

(गणितानुयोग 712)

उदाहरण सहित समय के स्वरूप का प्ररूपण

प्रश्न -समय का स्वरूप क्या है ?

उत्तर- समय का प्ररूपण करूँगा-जिस प्रकार एक कोई नाम वाला चतुर्थ आरे में उत्पन्न सूचिकार पुत्र (दर्जी का लडका)है। जो तरुण युवा बलवान एवं निरोग है। जिसका शरीर संहनन एवं वक्षस्थल वज्रमय है। जिसके हाथ, पैर, पार्श्वभाग, पृष्ठ भाग तथा जंघाएँ सुदृढ है। जिसने मुद्गर घुमाकर तथा अनेक प्रकार के व्यायाम करके शरीर को सशक्त एवं सामर्थ्य सम्पन्न बना लिया है। जिसके दोनों बाहुत्ताल जैसे लम्बे, नगर की अर्गला जैस सीधे एवं पुष्ठ हैं। जिसकी हथेलियाँ और उँगलियाँ अकम्पित हैं। जो चतुर निपुण शिल्पी है। जो लक्ष्य सिद्धि में सफल तथा कार्यकुशल मेधावी कारीगर है। वह यदि मजबूत बनी हुई पटशाटिका या पट्टी (दरी) को पकडकर एक झटके में एक फाडे, (उस समय शिष्य गुरु से इस प्रकार बोला)।

प्रश्न -''जिस समय उस दरजी के लडके ने उस पटशाटिका या पट्टी को पकडकर एक झटके में एक साथ एक हाथ फाडा'' वह एक समय हुआ ?

उत्तर- गुरु बोले-यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न - शिष्य ने पूछा- कैसे ?

उत्तर-संख्येय तन्तुओं के सम्मिलित समुदाय के परस्पर मिलने से पटशाटिका निर्माण होता है। ऊपर वाले तन्तु के छिन्न हुए बिना नीचे वाला तन्तु छिन्न नहीं होता है। ऊपर वाला तन्तु अन्य काल में छिन्न होता है और नीचे वाला तन्तु अन्य काल में छिन्न होता है। इसलिए वह समय नहीं होता है।

इस प्रकार कहते हुए गुरु को शिष्य इस प्रकार बोला-

प्रश्न -उस सूचिकार (दरजी) पुत्र ने उस पटशाटिका के ऊपर वाले तन्तु को जिस काल में छिन्न किया क्या वह काल समय है?

उत्तर- नहीं ।

प्रश्न -कैसे ?

उत्तर- संख्येय सूक्ष्मों (सूक्ष्म तन्तुओं) के सम्मिलित समुदाय के परस्पर मिलने पर एक तन्तु निष्पन्न होता है। ऊपर वाले सूक्ष्म (सूक्ष्म तन्तु) के छिन्न हुए बिना नीचे वाला सुक्ष्म छिन्न नहीं होता है। ऊपर वाला सूक्ष्म अन्य काल में छिन्न होता है। और नीचे वाला सूक्ष्म अन्य काल में छिन्न होता है। इस लिए वह समय नहीं होता है। इस प्रकार कहते हुए गुरु को शिष्य इस प्रकार बोला-

प्रश्न -उस सूचीकार (दरजी पुत्र ने उस तन्तु के ऊपर वाले पक्ष्म को जिस काल में छिन्न किया, क्या वह समय है ?

उत्तर- नहीं है।

प्रश्न - कैसे ?

उत्तर- अनन्त संघातों (सूक्ष्मकणों) के सम्मिलित समुदाय के परस्पर मिलने से एक पक्ष्म निष्पन्न होता है। ऊपर वाले संघात (सूक्ष्मकण) के भिन्न हुए बिना नीचे वाला संघात भिन्न नहीं होता है। ऊपर वाला संघात अन्य काल में भिन्न होता है। और नीचे वाला संघात अन्य काल में भिन्न होता है। इसलिए वह समय नहीं होता है। (1) हे आयुष्मान श्रमण ! इससे भी सूक्ष्म कर '' समय'' कहा गया है। (गणितानुयोग पृ. 696)

जो आचार्य ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि संसारसमापन्नक जीव छह प्रकार के है, उनका कथन इस प्रकार हैं- (1) पृथ्वीकायिक, (2) अप् कायिक, (3)तैजस्कायिक, (4) वायुकायिक, (5) वनस्पतिकायिक, (6) त्रसकायिक।

भगवन् ! पृथ्वीकायिक का क्या स्वरूप है ?

गौतम ! पृथ्वीकायिक दो प्रकार के हैं-सूक्ष्म पृथ्वीकायिक और बादर पृथ्वीकायिक। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक दो प्रकार के हैं- पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इसी प्रकार बादर पृथ्वीकायिक के भी दो भेद (प्रकार)हैं - पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इसी प्रकार अप् कायिक, तैजस्कायक, वायुकायक, वनस्पतिकायक के चार-चार भेद कहने चाहिए।

भगवन् ! त्रसकायिक का स्वरूप क्या है?

गौतम ! त्रसकायिक दो प्रकार के है-पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

(जीवाजीवभिगमसूत्र पृ. 565)

स्थावर जीवों की काय स्थिति

भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की कितने काल की स्थिति कही गई ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बावीस हजार वर्ष। इसी प्रकार सब की स्थिति कहनी चाहिए। त्रसकायिकों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम की है। सब अपर्याप्तकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। सब पर्याप्तकों की उत्कृष्ट स्थिति कुल स्थिति में से अन्तर्मुहूर्त कम करके कहनी चाहिए।

(214) (पृ. 565)

भगवन् ! पृथ्वीकाय, पृथ्वीकाय के रूप में कितने काल तक रह सकता है ?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्येय काल यावत् असंख्येय लोक प्रमाण आकाशखण्डों का निर्लेपना काल।

इसी प्रकार यावत् अप्कायक, तैजस्कायक, और वनस्पतिकायक की संचिट्ठणा जाननी चाहिए। वनस्पतिकाय की संचिट्ठणा अनन्तकाल है यावत् आवलिका के असंखयातवें भाग में जितने समय हैं, उतने पुद्गल परावर्तकाल तक।

त्रसकायक की स्थिति (संचिट्ठणा) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यतवर्ष अधिक दो हजार सागरोपम है। छहों अपर्याप्तों की कायस्थिति जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त है।

पर्याप्तों में पृथ्वीकायक की उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष है। यही अप्कायक, वायुकायक, वनस्पतिकायक पर्याप्तों की है। तैजस्कायक पर्याप्तक की काय स्थिति संख्यात रात-दिन की है, त्रसकायक पर्याप्त की कायस्थिति साधिक सागरोपमशत पृथक्त्व है।

भगवन् ! पृथ्वीकाय का अन्तर कितना है?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उकृष्ट से वनस्पतिकाल है। इसी प्रकार अप्काय तेजस्काय और वायुकाय का अन्तर वनस्पतिकाल है। त्रसकायिकों का अन्तर भी वनस्पतिकाल है। वनस्पतिकाय का अन्तर पृथ्वीकाय काल प्रमाण (असंख्येय काल) है।

इसी प्रकार अपर्याप्तकों का अन्तरकाल वनस्पति काल है। अपर्याप्त वनस्पति का अन्तर पृथ्वीकाल है। पर्याप्तकों का अन्तर वनस्पतिकाल है। पर्याप्त वनस्पति का अन्तर पृथ्वी काल है।

विवेचन-प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकायिक यावत् त्रयकाय की कायस्थिति (संचिट्ठणा)और अन्तर का निरूपण किया गया है। संचिट्ठणा या कायस्थिति का अर्थ है कि वह जीव उस रूप में लगातार जितने समय तक रह सकता है। और अन्तर का अर्थ है कि वह जीव उस रूप में निकलकर फिर जितने समय के बाद फिर उस रूप में आता है। प्रस्तुत सूत्र से इन दो द्वारों का निरूपण है। प्रश्न और उत्तर के रूप में जो कायस्थिति और अन्तर बताया है। वह पाठसिद्ध ही है। केवल उसमें आये हुए असंख्येयकाल और अनन्तकाल का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

असंख्येयकाल-असंख्येयकाल का निरूपण दो प्रकार से किया गया है- काल और क्षेत्र से । असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी प्रमाण काल को असंख्येयकाल काल कहते हैं। असंख्यात लोक -प्रमाण आकाशखण्डों में से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहार करने पर जितने समय में वे आकाश खण्ड निर्लेपित (खाली) हो जाएं, उस समय को क्षेत्रापेक्षया असंख्येयकाल कहते हैं।

***अनन्तकाल*:-** यह निरूपण भी काल और क्षेत्र से किया गया है। अनन्त उत्सर्पिणी-

अवसर्पिणी प्रमाण काल अनन्तकाल है। यह कालमार्गणा की दृष्टि से है। क्षेत्रमार्गणा की दृष्टि से अनन्तान्त लोकालोकाकाशखण्डों में से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहार करने पर जितने काल में वे निर्लेप हो जाये उस काल को अनन्तकाल समझना चाहिए। इसी अनन्तकाल को पुद्गलपरावर्त द्वारा कहा जाये तो असंख्येय पुद्गलपरावर्त रूप काल अनन्तकाल है। इन पुद्गलपरावर्तों की संख्या उतनी है जितनी आवलि का असंख्येय के भाग में समयों की संख्या है।

प्रस्तुत पाठ में अन्तरद्वार में बताये हुए वनस्पतिकाल से तात्पर्य है। अनन्तकाल और पृथ्वीकाय से तात्पर्य है-असंख्येयकाल।

जीवों के अल्पबहुत्व

अल्पबहुत्व :- सबसे थोडे त्रयकायिक, उनसे तेजस्कायिक असंख्येय गुणे, उनसे पृथ्वीकायिक विशेषाधिक, उनसे अप्कायिक विशेषाधिक, उनसे वायुकायिक विशेषाधिक, उनसे वनस्पति-कायिक अनन्तगुणे। अपर्याप्त पृथ्वीकायादि का अल्पबहुत्व भी उक्त प्रकार है। पर्याप्त पृथ्वीकायादि का अल्पबहुत्व भी उक्त प्रकार ही है।

भगवन्! पृथ्वीकाय के पर्याप्तों और अपर्याप्तों में कौन किससे अल्प, बहुत, सम या विशेषाधिक हैं ?

गौतम ! सबसे थोडे पृथ्वीकायिक अपर्याप्त, उनसे पृथ्वीकायिक पर्याप्त संख्यातगुणे । इसी तरह सबसे थोडे (अप्कायिकअपर्याप्त), अकायिकपर्याप्तक संख्यातगुणे। इसी प्रकार वनस्पतिकायिक पर्यन्त कहना चाहिए । त्रसकायिकों में सबसे, थोडे पर्याप्त त्रसकायिक, उनसे अपर्याप्त त्रसकायिक असंख्येयगुणे है।

भगवन् ! इन पृथ्वीकायिकों यावत् त्रसकायिकों के पर्याप्तों और अपर्याप्तें में समुदित रूप में कौन किससे अल्प, बहुत, सम या विशेषाधिक है ?

गौतम ! सबसे थोडे त्रसकायिक पर्याप्तक, उनसे त्रसकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुण, उनसे तेजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, पृथ्वीकायिक, अपकायिक, वायुकायिक अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे तेजस्कायिक पर्याप्त संख्येयगुण उनसे पृथ्वी-अप्-वायुकाय पर्याप्तक विशेषाधिक, उनसे वनस्पतिकायिक अपर्याप्त अनन्तगुणे, उनसे सकायिक अपर्याप्तक विशेषाधिक उनसे वनस्पतिकायिक पर्याप्तक संख्येयगुणे, उनसे सकायिक पर्याप्तक विशेषाधिक हैं।

विवेचन - प्रथम अल्पबहुत्व में सामान्य से छह काय का कथन है। उसमें सबसे थोडे त्रसकायिक हैं, क्योंकि द्वीन्द्रियादि त्रसकाय अन्य कायों की अपेक्षा अल्प हैं। उनसे तेजस्कायिक असंख्येयगुण है, क्योंकि वे असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है । उनसे

पृथ्वी कायिक विशेषाधिक है, क्योंकि वे प्रभुतासंख्येयलोकाकाश प्रदेश राशि प्रमाण है। उनसे अप्क ायिक विशेषाधिक हैं, क्योंकी वे प्रभुततरा संख्येयभागलोकाकाश प्रदेश-राशि प्रमाण हैं। उनसे वायुकायिक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रभुतमासंख्येयलोकाकाश प्रदेश-राशि के बराबर हैं। उनके वनस्पति कायिक अनन्तगुण हैं, क्योंकि वे अनन्त लोकाकाश प्रदेशराशि तुल्य हैं।

द्वितीय अल्पबहुत्व उनके अपर्याप्त को लेकर कहा गया है। वह उक्त क्रमानुसार ही हैं। इनके पर्याप्तकों का अल्पबहुत्व भी उक्त क्रमानुसार ही जानना चाहिए। तृतीय अल्पबहुत्व पृथ्वीकायादि के अलग-अलग पर्याप्तों -अपर्याप्तों को लेकर कहा गया है। इसमें सबसे थोडे पृथ्वीकायिक अपर्याप्त हैं, उनसे पर्याप्त संख्येयगुणे है। पृथ्वीकायिकों में सुक्ष्म जीव बहुत हैं, क्योंकि वे सकल लोक व्यापी हैं, उनमें पर्याप्त संख्येयगुणे हैं। इसी तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक के सूत्र समझने चाहिए। त्रसकायिकों में सबसे थोडे पर्याप्त त्रसकायिक हैं और अपर्याप्तक त्रसकायिक असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि पर्याप्त त्रसकायिक प्रतर के अंगुल के संख्येय भाग-खण्ड प्रमाण हैं।

चौथे अल्पबहुत्व में पृथ्वीकायादिकों का पर्याप्त-अपर्याप्त रूप से समुदित अल्पबहुत्व बताया गया है। वह इस प्रकार है- सबसे थोडे त्रसकायिक पर्याप्त, उनसे त्रसकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, कारण पहले कहा जा चुका है उनसे तेजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि वे असंख्य लोकाकाश-प्रदेशराशि प्रमाण हैं। उनसे पृथ्वी, अप्, वायु के अपर्याप्तक क्रम से विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रभतूत्त-प्रभतूत्तर-प्रभूत्तम असंख्येय लोकाकाश प्रदेश राशि प्रमाण है। उनसे तेजस्कायिक पर्याप्त संख्येयगुणे हैं, क्योंकि सूक्ष्मों में अपर्याप्तों से पर्याप्त संख्येयगुणे हैं। उनसे पृथ्वी, अप् , वायु के पर्याप्त जीव क्रम से विशेषाधिक है। उनसे वनस्पतिकायिक अपर्याप्त अनन्तगुण हैं, क्योंकि वे अनन्तलोकाकाश प्रदेश-राशि प्रमाण हैं। उनसे वनस्पतिकायिक पर्याप्त संख्येयगुणे है, क्योंकि सूक्ष्मों में अपर्याप्तकों से पर्याप्त संख्येयगुण हैं। सूक्ष्म जीव सर्व बहु है, उनकी अपेक्षा से यह अल्प बहुत्व है।

सूक्ष्म जीवों की स्थिति

प्रश्न -भगवन् ! सूक्ष्म जीवों की स्थिति कितनी है ?

उत्तर- गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त । इसी प्रकार सूक्ष्म निगोद पर्यन्त कहना चाहिए। इस प्रकार सूक्ष्मों के पर्याप्त और अपर्याप्तकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में सूक्ष्म-सामान्य की स्थिति बताई गई है। सूक्ष्म जीव दो प्रकार के

है- निगोद रूप और अनिगोद रूप। दोनों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिअन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त से उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त विशेषाधिक समझना चाहिए, अन्यथा उत्कृष्ट कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मपृथ्वीकाय सूक्ष्म अप्काय, सुक्ष्म तेजस्काय, सूक्ष्म वायुकाय, सूक्ष्म वनस्पतिकाय और सूक्ष्म निगोद सम्बन्धी छह सूत्र कहने चाहिए।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि सूक्ष्म वनस्पति निगोद ही है; सूक्ष्म वनस्पति से उसका भी बोध हो जाता है तो फिर अलग से निगोद सूत्र क्यों कहा गया है? इसका समाधान यह है- **सूक्ष्म वनसपति तो जीव रूप है और सूक्ष्म निगोद अनन्त जीवों के आधारभूत शरीर रूप है।** अतएव भिन्न सूत्र की सार्थकता है। कहा गया है-'' यह सारा लोक सूक्ष्म निगोदों से अंजनचूर्ण से पूर्ण समुद्गक (पेटी) की तरह सब और से ठसाठस भरा हुआ है। निगोदों से परिपूर्ण इस लोक में असंख्येय निगोद वृत्ताकार और वृहत्प्रमाण होने से ''गोलक'' कहे जाते हैं। निगोद का अर्थ है अनन्तजीवों का एक शरीर। ऐसे असंख्य गोलक है और एक-एक गोलक में असंख्येय निगोद हैं और एक-एक निगोद में अनन्तजीव हैं। एक निगोद में जो अनन्त जीव हैं उनका असंख्यातवाँ भाग प्रतिसमयं उसमे से निकलता है और दूसरा असंख्यातवां भाग वहाँ उत्पन्न होता रहता है। प्रत्येक समय यह उद्वर्तन और उत्पत्ति चलती रहती है। जैसे एक निगोद में यह उद्वर्तन और उपपात का क्रम चलता रहता है, वैसे ही सर्वलोक व्यापी निगोदों में यह उर्द्वतन और उपपाद क्रिया प्रतिसमय चलती रहती है। अतएव सब निगोदों और निगोद जीवों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र कही है। अतः सब निगोद प्रतिसमय उद्वर्तन एवं उपपाद द्वारा अन्तर्मुहूर्त मात्र समय नि में परिवर्तित हो जाते हैं, लेकिन वे शून्य नहीं होते। केवल पुराने निकलते हैं और नये उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार सात सूत्र अपर्याप्त सूक्ष्मों के और सात सूत्र पर्याप्त सूक्ष्मों के कहने चाहिए । सर्वत्र जधन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है।

प्रश्न -भगवन् ! सूक्ष्म, सूक्ष्मरूप में कितने काल तक रहता है?

उत्तर- गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक रहता है। यह असंख्यात काल असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप है तथा असंख्येय लोकाकाश के प्रदेशों के अपहारकाल के तुल्य है। इसी तरह सूक्ष्म पृथ्वीकाय अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय की संचिट्ठणाका काल पृथ्वीकाल अर्थात् असंख्येयकाल है यावत् सूक्ष्म निगोद की कायस्थिति भी पृथ्वीकाल है। सब अपर्याप्त सूक्ष्मों की काय स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

सूक्ष्म जीवों के अन्तराल काल

भगवन् ! सूक्ष्म, सूक्ष्म से निकलने के बाद फिर कितने समय में सूक्ष्मरूप से पैदा होता है? यह अन्तराल कितना है?

गौतम ! जघन्य में अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्येयकाल है। यह असंख्येयकाल असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल रूप है तथा क्षेत्र से अंगुलासंख्येय भाग क्षेत्र में जितने आकाश प्रदेश हैं उन्हें प्रति समय एक-एक का अपहार करने पर जितने काल में वे निर्लेप हो जायें, वह काल असंख्येयकाल समझना चाहिए।(सूक्ष्म पृथ्वीकाय यावत् सूक्ष्म वायुकायिकों का अन्तर उत्कर्ष से वनस्पतिकाल-अनन्तकाल है, वनस्पति में जन्म लेने की अपेक्षा से । (सूक्ष्म वनस्पतिकायिक और सूक्ष्म-निगोद का अन्तर असंख्येय काल पृथ्वीकाल) है। सूक्ष्म अपर्याप्तों और सूक्ष्म पर्याप्तों का अन्तर औधिकसूत्र के समान है।

सूक्ष्म जीवों के अल्पबहुत्व

अल्पबहुत्वद्वार इस प्रकार है- सबसे थोडे सूक्ष्म तैजस्कायिक, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक विशेषाधिक, सूक्ष्म अप्कायिक, सूक्ष्म वायुकायिक क्रमशः विशेषाधिक, सूक्ष्म-निगोद असंख्येयगुणे, सूक्ष्म वनस्पतिकायिक अनन्तगुणे और सूक्ष्म विशेषाधिक हैं।

सूक्ष्म अपर्याप्तों और सूक्ष्म पर्याप्तों का अल्पबहुत्व भी इसी क्रम से है।

भगवन् ! सूक्ष्म पर्याप्तों और सूक्ष्म अपार्यप्तों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है?

गौमत। सबसे थोडे सूक्ष्म अपर्याप्तक हैं, सूक्ष्म पर्याप्तक उनसे संख्येयगुणे हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म-निगोद पर्यन्त कहना चाहिए।

भगवन् ! सूक्ष्मों में सूक्ष्मपृथ्वीकायिक यावत् सूक्ष्म- निगोदों में पर्याप्तों और अपर्याप्तों में समुदित अल्पबहुल्व का क्रम क्या है?

गौतम ! सबसे थोडे सूक्ष्म तेजस्काय , अपर्याप्तक, उनसे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्त विशेषाधिक उनसे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त विशेषाधिक उनसे सूक्ष्म तेजस्कायिक पर्याप्त संख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म पृथ्वी-अप्-वायुकायिक पर्याप्त क्रमशः -विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्तक असंख्येयगुणे, उनके सूक्ष्म निगोद पर्याप्तक संख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म वनस्पतिकायिक अपर्याप्तक अनन्तगुणे, उनसे सूक्ष्म अपर्याप्तक विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म वनस्पति पर्याप्तक संख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म पर्याप्त विशेषाधिक हैं।

बादर जीवों की स्थिति

भगवन् ! बादर की स्थिति कितनी कही गई है?

गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम की स्थिति है। बादर त्रसकाय की भी यही स्थिति है। बादर पृथ्वी काय की बावीस हजार वर्ष की, बादर अप्कायिकों की सात हजार वर्ष की बादर तेजस्काय की तीन अहोरात्र की, बादर वायुकाय की तीन हजार वर्ष की, और बादर वनस्पति की दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति है। इसी तरह प्रत्येक शरीर बादर की भी यही स्थिति है।

निगोद की जघन्य से भी और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त की भी स्थिति है। बादर निगोद की भी यही स्थिति है। सब अपर्याप्त बादरों की स्थितिअन्तर्मुहूर्त है और सब पर्याप्तों की उत्कृष्ट स्थिति उनकी कुल स्थिति में से अन्तर्मुहूर्त कम करके कहना चाहिए।

बादर की कायस्थिति

भगवन् ! बादर जीव, बादर के रूप में कितने काल तक रहता है ?

गौतम ! जघन्य अन्र्मुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्यात काल तक रहता है । यह असंख्यातकाल असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों के बराबर है तथा क्षेत्र से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र के आकाश प्रदेशों का प्रतिसमय एक-एक के मान से अपहार करने पर जितने समय में वे निर्लेप हो जाएँ, उतने काल के बराबर है। बादर पृथ्वीकायिक, बादर अप्कायिक, बादर तैजस्कायिक, बादर वायुकायिक प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक और बादर निगोद की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से सत्तर कोडा कोडी सागरोपम की है। बादर वनस्पति की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्येयकाल है, जो काल मार्गणा से असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तुल्य है, और क्षेत्रमार्गणा से अंगुलासंख्येय भाग के आकाश प्रदेशों का प्रतिसमय एक-एक के मान से अपहार करने पर लगने वाले काल के बराबर है। सामान्य निगोद की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल है । वह अनन्तकाल कालमार्गणा से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है। और क्षेत्रमार्गणा ढाई पुद्गल परावर्त तुल्य है। बादर त्रसकाय सूत्र में जघन्यअन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्येयवर्ष अधिक दो हजार सागरोपम की कायस्थिति कहनी चाहिए ।

बादर अपर्याप्तों की कायस्थिति के दसों सूत्रों में जघन्य और उत्कृष्ट से सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त कहना चाहिए ।

बादर पर्याप्त के औघिक सूत्र में कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट साधिक सागरोपम शतपृथक्त्व है ।(इसके बाद अवश्य बादर रहते हुए भी पर्याप्तलब्धि नहीं रहती) बादर

पृथ्वीकायिक पर्याप्तसूत्र में जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष कहने चाहिए। (इसके बाद बादरत्व होते हुए भी पर्याप्तलब्धि नहीं रहती) इसी प्रकार अप्कायसूत्रों में भी कहना चाहिए। तेजस्काय- सूत्र में जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट संख्यात अहोरात्र कहने चाहिए। वायुकायिक सामान्य बादर-वनस्पति प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय के सूत्र बादर पर्याप्त पृथ्वीकायवत् (जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष) कहने चाहिए। सामान्य निगोद पर्याप्त सूत्र में जघन्य, उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त; बादर त्रसकायपर्याप्तसूत्र में जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट साधिक सागरोपम शतपृथक्त्व कहना चाहिए। (इतनी स्थिति चारों गतियों में भ्रमण करने से घटित होती है ।)

बादर जीवों के अन्तर -

1) अधिक बादर, बादर वनस्पति, निगोद और बादर निगोद, इन चारों का अन्तर पृथ्वीकाल है, अर्थात् असंख्यात काल है। यह असंख्यातकाल असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के बराबर है। (काल मार्गणा) तथा क्षेत्र मार्गणा से असंख्य लोकाकाश के प्रदेशों का प्रतिसमय एक-एक के मान से अपहार करने पर जितने समय में वे निर्लिप्त हो जाये, उतना कालप्रमाण जानना चाहिए। (सुक्ष्म की जो कायस्थिति है, वही बादर का अन्तर जानना चाहिए।) शेष बादर पृथ्वीकायिक, बादर अप्कायिक, बादर तैजस्कायिक, बादर वायुकायिक, प्रत्येक बादर वनस्पतिकायिक और बादर त्रसकायिक- इन छहों का अन्तर वनस्पति काल के समान जानना चाहिये । इसी तरह अपर्याप्तक और पर्याप्तक संबंधी दस-दस सूत्र भी ऊपर की तरह कहने चाहिए ।यही बात गाथा में कही गयी है- औघिक, बादर वनस्पति, सामान्य निगोद और बादर निगोद का अंतर संख्येय काल है और शेष का अन्तर वनस्पति-काल प्रमाण है ।

जीवों के अल्पबहुत्व

1) प्रथम औघिक अल्पबहुत्व- सबसे थोडे बादर त्रसकाय, उनसे बादर तेजस्काय असंख्येयगुणें, उनसे प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय असंख्येयगुणें, उनसे बादर निगोद असंख्येयगुणें और उनसे पृथ्वीकाय असंख्येयगुणें, उनसे बादर अप्काय, बादर वायुकाय क्रमशः असंख्येयगुणें, उनसे बादर वनस्पतिकायिक अनन्तगुणे, उनसे बादर विशेषाधिक।

2)अपर्याप्त बादरों का अल्पबहुत्व- औघिकसूत्र के अनुसार ही जानना चाहिए- जैसे सबसे थोडे बादर त्रसकायिक अपर्याप्त, उनसे बादर तैजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे इत्यादि औघिक क्रम।

3)पर्याप्त बादरों का अल्पबहुत्व- सबसे थोडे बादर तेजस्कायिक पर्याप्त, उनसे बादर त्रसकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक पर्याप्त

असंख्येयगुणे, उनसे बादर निगोद पर्याप्त असंख्येयगुणे उनसे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर अप्कायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वायुकाय पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त अनन्तगुणे, उनसे बादर पर्याप्तक विशेषाधिक।

4) प्रत्येक बादर पर्याप्त-अपर्याप्तों का अल्पबहुत्व- (सब जगह) पर्याप्त बादर थोडे है और अपर्याप्तक असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि एक बादर पर्याप्त की निश्रा में असंख्येय बादर अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

5) सबका समुदित अल्पबहुत्व -

भगवन् ! बादरों में बादर पृथ्वीकाय यावत् बादर त्रसकाय के पर्याप्तों और अपर्याप्तों में कौन किससे अल्प यावत् विशेषाधिक है ?

गौतम ! सबसे थोडे बादर तैजस्कायिक पर्याप्तक, उनसे बादर त्रसकायिक पर्याप्तक असंख्येयगुणे, उनसे बादर त्रसकायिक अपर्याप्त असंख्यातगुणे, उनसे प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर निगोद पर्याप्तक असंख्येयगुणे, उनसे पृथ्वी-अप्-वायुकाय पर्याप्तक क्रमशः असंख्यातगुणे, उनसे बादर तेजस्काय अपर्याप्तक असंख्येयगुणे, उनसे प्रत्येक शरीर बादर वनस्पति अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर पृथ्वी-अप्-वायुकाय अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वनस्पति पर्याप्तक अनन्तगुणे, उनसे बादर पर्याप्तक विशेषाधिक, उनमें बादर वनस्पति अपर्याप्तक असंख्येय गुणे उनसे बादर अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे बादर पर्याप्त विशेषाधिक है।

विवेचन :- सर्व प्रथम षट्काय का औधिक अल्पबहुत्व बताया है। वह इस प्रकार है- सबसे थोडे बादर त्रसकायिक हैं, क्योंकि द्वीन्द्रिय आदि ही बादर त्रस हैं और वे शेष कार्यों की अपेक्षा अल्प हैं। उनसे बादर तैजस्कायिक असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि वे असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। उनसे प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि इनके स्थान असंख्येयगुणे हैं। **बादर तेज तो मनुष्य क्षेत्र में ही है, जबकि बादर वनस्पतिकाय तीनों लोकों में हैं।** अतः क्षेत्र के असंख्येयगुणे होने से बादर तैजस्कायिकों से प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक असख्येयगुणे हैं। उनसे बादर निगोद असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म अवगाहना होने से तथा प्रायः जल में सर्वत्र होने से पनक, सेवाल आदि जल में अवश्यम्भावी हैं, अतः असंख्येयगुणे घटित होते हैं। बादर निगोद से बादर पृथ्वी कायिक असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि ये आठों पृथ्वियों, सब विमानों, सब भवनों और पर्वतादि में है। उनसे बादर अप्कायिक असंख्येयगुणे

हैं, क्योंकि समुंद्रों में जल की प्रचुरता है। उनसे बादर वायुकायिक असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि पोलारों में भी वायु संभव है। उनसे बादर वनस्पतिकायिक अनन्तगुणे हैं, क्योंकि प्रत्येक बादर निगोद में अनन्त जीव हैं। उनसे सामान्य बादर विशेषाधिक हैं, क्योंकि बादर त्रसकायिक आदि भी का उनमें समावेश होता है। (2) दूसरा अल्पबहुत्व इन षट्कायों के अपर्याप्तकों के सम्बन्ध में है। सबसे थोडे बादर त्रसकायिक अपर्याप्त (युक्ति पहले बतादी है) उनसे बादर तेजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे है, क्योंकि वे असंख्येय लोकाकाश प्रमाण हैं। इस तरह प्रागुक्त क्रम से ही अल्पबहुत्व समझ लेना चाहिए। (3) तीसरा अल्पबहुत्व षट्कायों के पर्याप्तों से सम्बंधित है। सबसे थोडे बादर तैजस्कायिक हैं, क्योंकि ये आवलिका के समयों के वर्ग को कुछ समय न्यून आवलिका समयों से गुणित करने पर जितने समय होते हैं उनके बराबर हैं। उनसे बादर त्रसकायिक पर्याप्त असंख्येयगुण हैं, क्योंकि वे प्रतर में अंगुल के संख्येयभागमात्र जितने खण्ड होते हैं, उनके बराबर है। उनसे प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि वे प्रतर में अंगुल के असंख्येयभागमात्र जितने, खण्ड होते हैं, उनके तुल्य हैं। उनसे बादर निगोद पर्याप्तक असंख्येयगुणे हैं क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म अवगाहना वाले तथा जलाशयों में सर्वत्र होते हैं। उनसे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि अतिप्रभूत संख्येय प्रतरांगुलासंख्येयप्रतरागुला संख्येयभाग प्रमाण है। उनसे बादर अप्कायिकपर्याप्त असंख्येयगुण हैं, क्योंकि वे अतिप्रभूततरासंख्येय प्रतरांगुलासंख्येयप्रतरागुला संख्येयभाग प्रमाण हैं। उनसे बादर वायुकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि धनीकृत लोक के असंख्येय प्रतरों के सख्यातवें भागवर्ती क्षेत्र के आकाश प्रदेशों के बराबर हैं। उनसे बादर वनस्पति पर्याप्त अनन्तगुणे हैं, क्योंकि प्रति बादर निगोद में अनन्तजीव हैं। उनसे सामान्य बादर पर्याप्तक विशेषाधिक हैं, क्योंकि बादर तैजस्कायिक आदि सब पर्याप्तों का इनमें समावेश है। (4) चौथा अल्पबहुत्व इनके प्रत्येक के पर्याप्तों और अपर्याप्तों को लेकर कहा गया है। **सर्वत्र से पर्याप्तों अपर्याप्त असंख्येयगुणे कहना चाहिए।** बादर पृथ्वीकाय से लेकर बादर त्रसकाय तक सर्वत्र अपर्याप्तों से पर्याप्त असंख्येयगुणे हैं क्योंकि एक बादर पर्याप्त की निश्रा में असंख्येय बादर-अपर्याप्त पैदा होते हैं।

(5) पाँचवां अल्पबहुत्व छह कार्यो के पर्याप्त और अपर्याप्तों का समुदित रूप से कहा गया है। यह निम्न है -

सबसे थोडे बादर तैजस्कायिक पर्याप्त, उनसे बादर त्रसकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर प्रत्येकवनस्पतिकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे निगोद बादर

पर्याप्त असंख्येयगुणे उनसे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर अप्कायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वायुकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे (उक्त पदों की युक्ति पूर्ववत् जाननी चाहिए) उनसे बादर तैजस्कायिक अपर्याप्तअसंख्येयगुणे हैं, क्योंकि बादर वायुकायिक पर्याप्त असंख्येय लोकाकाशप्रदेश के आकाश प्रदेशों के तुल्य हैं, किन्तु बादर तैजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयलोकाशप्रदेश प्रमाण हैं। असंख्यात के असंख्यात भेद होने से यह असंख्यात पूर्व के असंख्यात से असंख्येयगुणे जानना चाहिए।

बादर तैजस्कायिक अपर्याप्त से प्रत्येक बादर वनस्पतिकायिक, बादर निगोद, बादर पृथ्वीकायिक, बादर अप्कायिक, बादर वायुकायिक अपर्यात यथोत्तर असंख्येगुणे कहने चाहिए। बादर वायुकायिक अपर्याप्तों से बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त अनन्तगुणे हैं, क्योंकि एक-एक बादर निगोद में अनन्त जीव हैं। उनसे सामान्य बादर पर्याप्त विशेषाधिक हैं, क्योंकि बादर तैजस्कायिक आदि पर्याप्तों का उनमें प्रक्षेप होता है। उनसे बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे हैं। क्योंकि एक-एक पर्याप्त बादर वनस्पतिकायिक निगोद कि निश्रा में असंख्येय अपर्याप्त बादर वनस्पतिकायिक निगोद उत्पन्न होते हैं। उनसे सामान्य बादर अपर्याप्त विशेषाधिक हैं, क्योंकि उनमें बादर तैजस्कायिक आदि अपर्याप्तों का प्रक्षेप है। उनसे पर्याप्त-अपर्याप्त विशेषण रहित सामान्य बादर विशेषाधिक हैं, क्योंकि इनमें सब बादर पर्याप्त-अपर्याप्तों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार बादर को लेकर पाँच अल्पबहुत्व कहे हैं ।

सूक्ष्म-बादरों के समुदित अल्पबहुत्व

स्पष्टता के लिए और पुनरावृति को टालने के लिए प्रस्तुत पाठ का अर्थ विवेचनयुक्त दिया जाता है। प्रस्तुत पाठ में सूक्ष्मों और बादरों के समुदित पाँच अल्पबहुत्व कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं।

1)प्रथम अल्पबहुत्व -भगवन ! सूक्ष्मों में सूक्ष्म पृथ्वीकायिक यावत् सूक्ष्म निगोदों में तथा बादरों में-बादर पृथ्वीकायिक यावत् बादर त्रसकायिकों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं?

गौतम ! सबसे थोडे बादर त्रसकायिक हैं, उनसे बादर तैजस्कायिक असंख्येयगुणे हैं, उनसे प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक असंख्येतगुणे उनसे बादर निगोद असंख्येयगुणे हैं, उनसे बादर पृथ्वीकाय असंख्येयगुणे हैं उनसे बादर अप्काय, बादर वायुकाय क्रमशः असंख्येगुणे हैं, उन बादर वायुकाय से सूक्ष्म तेजकाय असंख्येयगुणे हैं, उनसे सूक्ष्म पृथ्वीकाय विशेषाधिक हैं, उनसे सूक्ष्म अपकाय,सूक्ष्म वायुकाय विशेषाधिक है,उनसे सूक्ष्मनिगोद असंख्यातगुणे हैं,उन सूक्ष्मनिगोद से बादर वनस्पतिकायिक अनन्तगुणे हैं उनसे बादर

विशेषाधिक हैं, उनसे सूक्ष्म वनस्पतिकायिक असंख्येयगुणे हैं, उनसे (सामान्य)सूक्ष्म विशेषाधिक हैं।

(2) द्वितीय अल्पबहुत्व इनके ही अपर्याप्तकों को लेकर है। वह इस प्रकार है- सबसे थोडे बादर त्रसकायिक अपर्याप्त, उनसे बादर तेजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येय गुण, उनसे बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुण, उनसे बादर निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुण, उनसे बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुण, उनसे बादर अप्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म तैजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म अपकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सुक्ष्मनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त अनन्तगुणे, उनसे सामान्य बादर अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म वनस्पतिकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सामान्य सूक्ष्म अपर्याप्त विशेषाधिक हैं।

(3) तीसरा अल्पबहुत्व इनके ही पर्याप्तकों को लेकर कहा गया है। वह इस प्रकार है- सबसे थोडे बादर तैजस्कायिक पर्याप्त, उनसे बादर त्रसकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर निगोद पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर अप्कायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वायुकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म तैजस्कायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म अप्कायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सुक्ष्मनिगोद पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त अनन्तगुणे, उनसे सामान्य बादर पर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म वनस्पतिकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सामान्य सूक्ष्म पर्याप्त विशेषाधिक हैं।

(4) चौथा अल्पबहुत्व इन प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्तों के सम्बन्ध में है। वह इस प्रकार हैं- सबसे थोडे बादर पर्याप्त हैं, क्योंकि ये परिमित क्षेत्रवर्ती हैं उनसे **बादर अपर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि प्रत्येक बादर पर्याप्त की निश्रा में असंख्येय बादर अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं । उनसे सूक्ष्म अपर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, क्योंकि वे सर्वलोकव्यापी होने से उनका क्षेत्र असंख्येयगुणे हैं।** उनसे सूक्ष्म पर्याप्त संख्येयगुणे हैं, क्योंकि चिरकाल स्थायी होने से ये सदैव संख्येयगुणे प्राप्त होते हैं।

सब संख्या में यहाँ सात सूत्र हैं- 1) सामान्य से सूक्ष्म बादर पर्याप्त-अपर्याप्त विषयक, 2) सूक्ष्म बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तापर्याप्त विषयक, 3) सूक्ष्म बादर अप्कायिकपर्याप्तापर्याप्त

विषयक, 4)सूक्ष्म बादर तैजस्कायिक पर्याप्तापर्याप्त विषयक, 5) सूक्ष्म बादर वायुकायिक पर्याप्तापर्याप्त विषयक, 6) सूक्ष्म बादर वनस्पति कायिक पर्याप्तापर्याप्त विषयक और 7) सूक्ष्म बादर निगोद पर्याप्तापर्याप्त विषयक। सूक्ष्मों में अपर्याप्त थोडे और पर्याप्त संख्येयगुणे हैं और बादरों में पर्याप्त थोडे अपर्याप्त असंख्यातगुणे हैं। (5) पांचवां अल्पबहुत्व इन सबका समुदित रूप में कहा गया है। वह इस प्रकार है- सबसे थोडे बादर तैजस्कायिक पर्याप्त, उनसे बादर त्रसकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर त्रसकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे उनसे प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिकपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर निगोद पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर अप्कायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर वायुकायिक पर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर तैजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे उनसे प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे,, उनसे बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे बादर अप्कायिक अपर्याप्तअसंख्येयगुणे, उनसे बादर वायुकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म तैजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म वायुकायिकअपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म तेजस्कायिक अपर्याप्त असंख्येयगणे , उनसे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त विशेषाधिक, उनसे सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्म निगोद पर्याप्त संख्येयगुणे। (ये बादर पर्याप्त तैजस्कायिक से लेकर पर्याप्त निगोद तक के जीव यद्यपि अन्यत्र समान रूप से असंख्येय लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण कहे हैं, तथापि असंख्यात के असंख्यात भेद होने से यहाँ जो कहीं असंख्येयगुणे, संख्येयगुणे, और विशेषाधिक कहे हैं, उनमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए।)

उन पर्याप्त सूक्ष्म निगोदों से बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त अनन्तगुणे हैं। उनसे सामान्य बादर पर्याप्त विशेषाधिक हैं, उनसे बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, उनमें सामान्य बादर अपर्याप्त विशेषाधिक हैं, उनसे सामान्यतः बादर विशेषाधिक हैं , उनसे सूक्ष्म वनस्पतिकायिक-अपर्याप्त असंख्येयगुणे हैं, उनसे सामान्यसूक्ष्म अपर्याप्त विशेषाधिक हैं, उनसे सामान्य पर्याप्त-अपर्याप्त विशेषण रहित सूक्ष्म विशेषाधिक हैं। (जीवाजीाभिगम सूत्र पृ. 580)

निगोद की प्ररूपणा

भगवन् ! निगोद कितने प्रकार के हैं?

गौतम ! निगोद दो प्रकार के हैं- निगोद और निगोद जीव।

भगवन् ! निगोद कितने प्रकार के हैं?

गौतम ! दो प्रकार के हैं- सूक्ष्मनिगोद और बादरनिगोद।

भगवन् ! सूक्ष्म निगोद कितने प्रकार के हैं?

गौतम ! दो प्रकार के हैं- पर्याप्तक और अपर्याप्तक। बादर निगोद भी दो प्रकार के हैं-पर्याप्तक और अपर्याप्तक ।

भगवन् ! निगोद जीव कितने प्रकार के हैं?

गौतम ! दो प्रकार के हैं- सूक्ष्मनिगोद जीव और बादरनिगोद जीव । सूक्ष्मनिगोद जीव भी दो प्रकार के हैं-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। बादरनिगोदजीव भी दो प्रकार के हैं-पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

विवेचन :-निगोद जैन सिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है अनन्त जीवों का आधार अथवा आश्रय। वैसे सामान्यतया निगोद सूक्ष्म और साधारण वनस्पति रूप है, तथापि इसकी अलग सी पहचान है। इसलिए इसके दो प्रकार कहे गये हैं- निगोद और निगोद जीव। **निगोद अनन्त जीवों का आधारभूत शरीर है। और निगोदजीव एक ही औदारिकशरीर में रहे हुए भिन्न-भिन्न तैजसकार्माण शरीर वाले अनन्त जीवात्मक है।** आगम में कहा है- यह सारा लोक सूक्ष्म निगोदों से अंजनचूर्ण से परिपूर्ण समुद्गक की तरह ठसाठस भरा हुआ है, निगोदों से परिपूर्ण इस लोक मेंअसंख्येय निगोद वृताकार और बृहत्प्रमाण होने से ''गोलक'' कहे जाते हैं। ऐसे असंख्येय गोले हैं। और एक-एक गोले में असंख्येय निगोद हैं और एक-एक निगोद में अनन्त जीव हैं।

निगोद और निगोदजीव दोनों दो-दो प्रकार के हैं- सूक्ष्मनिगोद और बादरनिगोद। सूक्ष्मनिगोद सारे लोक में रहे हुए हैं और बादरनिगोद मूल, कंद आदि रूप हैं। ये दोनों सूक्ष्म और बादर निगोद जीव दो-दो- प्रकार के हैं- पर्याप्त और अपर्याप्त ।

(जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. 581)

भगवन् ! निगोद द्रव्य की अपेक्षा क्या संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

गौतम ! संख्यात नहीं हैं, असंख्यात हैं, अनन्त नहीं है। इसी प्रकार इनके पर्याप्त और अपर्याप्त विषयक सूत्र भी कहने चाहिए।

भगवन् ! सूक्ष्मनिगोद द्रव्य की अपेक्षा क्या संख्यात हैं, असंख्यात है या अनन्त हैं ?

गौतम ! संख्यात नहीं असंख्यात हैं, अनन्त नहीं है। इसी तरह पर्याप्त विषयक सूत्र और अपर्याप्त विषयक सूत्र भी कहने चाहिए। इसी प्रकार बादर निगोद के विषय में भी कहना चाहिए। उनके पर्याप्त विषयक सूत्र तथाअपर्याप्त विषयक सूत्र भी इसी तरह कहने चाहिए।

भगवन् ! निगोद जीव द्रव्य की अपेक्षा क्या संख्यात हैं, असंख्यात है या अनन्त हैं?

गौतम ! संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं, अनन्त हैं। इसी तरह इनके पर्याप्त सूत्र भी जानने चाहिए। इसी प्रकार सूक्ष्मनिगोदजीव, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त सूत्र तथा बादर निगोद जीव और इनके पर्याप्त और सूत्र भी कहने चाहिए। (ये द्रव्य की अपेक्षा से 9 निगोद के तथा 9 निगोद जीव के कुल अठारह सूत्र हुए।)

भगवन् ! प्रदेश की अपेक्षा निगोद संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

गौतम ! संख्यात नहीं , असंख्यात नहीं, किन्तु अनन्त हैं। इसी प्रकार पर्याप्त सूत्र और अपर्याप्त सूत्र भी कहने चाहिए। इसी प्रकार सूक्ष्मनिगोद और उनके पर्याप्त तथा अपर्याप्त सूत्र भी कहने चाहिए। ये सब प्रदेशों की अपेक्षा अनन्त हैं। इसी प्रकार बादर निगोद के और उनके पर्याप्त तथा अपर्याप्त सूत्र कहने चाहिए। ये सब प्रदेशों की अपेक्षा अनन्त हैं। इसी प्रकार निगोदजीवों के प्रदेशों की अपक्षा से नौ ही सूत्रों में अनन्त कहना चाहिए।

विवेचन :- प्रस्तुत सूत्र में निगोद और निगोदजीवों की संख्या के विषय में जिज्ञासा और उत्तर है। जिज्ञासा प्रक्ट की गई है कि निगोद संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर दो अपेक्षाओं से हैं- द्रव्य की अपेक्षा और प्रदेश की अपेक्षा से। द्रव्य की अपेक्षा से निगोद संख्येय नहीं हैं, क्योंकि अंगुलासंख्येयभाग अवगाहना वाले निगोद सारे लोक में व्याप्त हैं वे असंख्यात हैं, क्योंकि असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। वे अनन्त नहीं हैं, क्योंकि केवलज्ञानियों ने उन्हें अनन्त नहीं जाना है। सामान्यनिगोद, अपर्याप्त सामान्यनिगोद और पर्याप्त सामान्य निगोद संबधी तीन सूत्र इसी तरह जानने चाहिए। इसी प्रकार सूक्ष्मनिगोद के तीन सूत्र और बादरनिगोद के भी तीन सूत्र- कुल नौ सूत्र कहे गये हैं। निगोद जीव द्रव्य की अपेक्षा से संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं किन्तु अनन्त हैं। प्रतिनिगोद में अनन्तजीव होने से निगोदजीव द्रव्यापेक्षया अनन्त हैं, इसी तरह इनके अप्रर्याप्तसूत्र और पर्याप्तसूत्र में भी अनन्त कहना चाहिए। इसी प्रकार सूक्ष्मनिगोद जीव और उनके अपर्याप्त और पर्याप्त विषयक तीनों सूत्रों में भी अनन्त कहना चाहिए। इसी प्रकार बादरनिगोद जीव और उनके अपर्याप्त और पर्याप्त विषयक तीन सूत्रों में भी अनन्त कहने चाहिए। उक्त वर्णन द्रव्य की अपेक्षा से हुआ। प्रदेशों की अपेक्षा से निगोद और निगोद जीवों के सामान्य तथा अपर्याप्त और पर्याप्त तथा सूक्ष्म और बादर सब अठारह ही सूत्रों में अनन्त कहना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक निगोद में अनन्त प्रदेश होते हैं। ये अठारह सूत्र इस प्रकार कहे हैं-निगोद के 9 तथा निगोदजीवों के 9 कुल 18 हुए।

निगोद जीव के 9 सूत्र :- निगोद सामान्य, निगोद-अपर्याप्त, निगोद- पर्याप्त, सूक्ष्मनिगोद सामान्य, सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त, सूक्ष्मनिगोद पर्याप्तः, बादर निगोद सामान्य, बादरनिगोद अपर्याप्त और बादर निगोद पर्याप्त।

निगोद जीव के 9, सूत्र :- निगोदजीव सामान्य, निगोदजीव अपर्याप्तक और निगोदजीव पर्याप्तक। सूक्ष्मनिगोदजीव सामान्य और इनके पर्याप्त और पर्याप्त। बादर निगोद जीव और इनके अपर्याप्त और पर्याप्त। कुल अठारह सूत्र प्रदेशापेक्षया हैं।

(जी.अजी.सूत्र पृ. 583)

निगोदों का अल्पबहुत्व

भगवन् ! इन सूक्ष्म, बादर पर्याप्त और अपर्याप्त निगोदों में द्रव्य की अपेक्षा प्रदेश की अपेक्षा तथा द्रव्य प्रदेश की अपेक्षा से कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं?

गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से-सबसे थोडे बादर निगोद (मूलकन्दादिगत) पर्याप्तक हैं (क्योंकि ये प्रतिनियत क्षेत्रवर्ती हैं) उनसे बादर निगोद अपर्याप्तक असंख्येयगुणे हैं। (क्योंकि प्रत्येक बादर निगोद की निश्रा में असंख्येय अपर्याप्त बादर निगोद उत्पन्न होते हैं।) उनसे सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्तक असंख्येयगुण हैं, (क्योंकि लोकव्यापी होने से क्षेत्र असंख्येय गुणे हैं।) उनसे सूक्ष्मनिगोद पर्याप्त संख्येयगुणे हैं (क्योंकि सूक्ष्मों में अपार्याप्तों से पर्याप्त संख्येयगुणे हैं।) प्रदेश की अपेक्षा से ऊपर कहा हुआ क्रम ही जानना चाहिए। यथा सबसे थोडे बादर निगोद पर्याप्त, उनसे बादरनिगोद अपर्याप्त असंख्यातगुणे, उनसे सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे और उनसे सूक्ष्म निगोद पर्याप्त संख्येयगुणे हैं।

द्रव्य प्रदेश की अपेक्षा से

सबसे थोडे बादरनिगोद पर्याप्त द्रव्यापेक्षया, उनसे बादरनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोद पर्याप्त संख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे बादर निगोद पर्याप्त अनन्तगुणे प्रदेशापेक्षया, उनसे बादरनिगोद अपर्याप्त असंख्येयेगुणे प्रदेशापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोद पर्याप्त संख्येयगुण प्रदेशापेक्षया।

निगोदजीवों का अल्पबहुत्व-

द्रव्य की अपेक्षा-सबसे थोडे बादर निगोद जीव पर्याप्त, उनमे बादरनिगोद जीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव अपर्याप्तक असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्मनिगोद जीव पर्याप्तक संख्येयगुणे हैं।

प्रदेशापेक्षया-सबसे थोडे बादर निगोदजीव पर्याप्तक, उनसे बादर निगोदजीव अपर्याप्तक असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनके सूक्ष्मनिगोदजीव पर्याप्त संख्येयगुणे।

द्रव्य प्रदेशापेक्षया- सबसे थोडे बादर निगोदजीव पर्याप्त द्रव्यापेक्षया, उनसे बादर निगोदजीव अपर्याप्त असंख्यातगुणे द्रव्याप्रेक्षया, उनसे सूक्ष्म निगोदजीव अपर्याप्त असंख्यगुणे

द्रव्यपेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव पर्याप्त संख्येयगुण द्रव्यापेक्षया, उनसे बादर निगोद जीव पर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशापेक्षया, उनसे बादरनिगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशाप्रेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव पर्याप्त संख्येयगुणे प्रदेशापेक्षया। (जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. 584)

भगवन् ! इन सूक्ष्म,बादर पर्याप्त और और अपर्याप्त निगोदों में और सूक्ष्म, बादर पर्याप्त और अपर्याप्त निगोदजीवों में द्रव्यापेक्षया, प्रदेशापेक्षया और द्रव्य-प्रदेशापेक्षया कौन किससे कम, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक हैं?

गौतम ! सब से कम बादरनिगोद पर्याप्त द्रव्यापेक्षया, उनसे बादर निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोद पर्याप्त संख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे बादरनिगोद जीव पर्याप्त अनन्तगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे बादरनिगोद जीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव अपयर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया, उनसे सूक्ष्मनिगोद जीव पर्याप्त संख्येयगुणे द्रव्यापेक्षया।

प्रदेशों की अपेक्षा

सबसे थोडे बादर निगोद जीव पर्याप्त, उनसे बादरनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्मनिगोद जीव पर्याप्त संख्येयगुणे, उनसे बादर निगोद पर्याप्त अनन्तगुणे, उनसे बादरनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे उनसे सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे, उनसे सूक्ष्मनिगोद पर्याप्त संख्येयगुणे।

द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ की अपेक्षा

सबसे थोडे बादरनिगोद पर्याप्तक द्रव्यार्थतया, उनसे बादर निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुण द्रव्यार्थतया, उनसे सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त असंख्येयगुण द्रव्यार्थतया, उनसे सूक्ष्म निगोद पर्याप्त संख्येयगुण द्रव्यार्थतया, उनसे बादरनिगोद जीव पर्याप्त अनन्तगुण द्रव्यार्थतया, उनसे बादरनिगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यार्थतया, उनसे सूक्ष्मनिगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे द्रव्यार्थतया, उनसे सूक्ष्म निगोदजीव पर्याप्त संख्येयगुणे द्रव्यार्थतया, उनसे बादरनिगोद जीव पर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशार्थतया उनसे बादरनिगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशार्थतया, उनसे सूक्ष्म निगोदजीव अपर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशार्थतया, उनसे सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त , उनसे बादरनिगोद अनन्तगुणे प्रदेशअर्थतया उनसे बादर निगोद अपर्याप्त असंख्येय गुणे प्रदेशार्थतया उनसे सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त असंख्येयगुणे प्रदेशार्थतया, उनसे सूक्ष्मनिगोद पर्याप्त संख्येयगुण प्रदेशार्थतया।

उक्त रीति से निगोद और निगोदजीवों का सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त का

अल्प बहुत्व द्रव्यापेक्षया, प्रदेशापेक्षया और द्रव्यप्रदेशापेक्षया बताया गया है।

इस प्रकार छह प्रकार के संसार समापन्न की पंचम प्रतिपत्ति पूर्ण हुई।

(जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ.585)

नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव की प्ररूपणा : - जो ऐसा कहते हैं कि संसार समापन्नक जीव सात प्रकार के हैं, उनके अनुसार वे सात प्रकार ये हैं- नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यञ्चनी (तिर्यक्स्त्री) मनुष्य, मानुषी, देव और देवी। नैरयिक की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। तिर्यक् योनिक की जन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम है। तिर्यक्स्त्री, मनुष्य और मनुष्यस्त्री की भी यही स्थिति है। देवों की स्थिति नैरयिक की तरह जानना चाहिये और देवियों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पचपन पल्योपम है। नैरयिक और देवों की तथा देवियों की जो भवस्थिति है, वही उनकी संचिट्ठणा (काय स्थिति) है। तिर्यंचों की जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्तकाल है। तिर्यक्स्त्रीयों की संचिट्ठणा जघन्य अन्तर्मूहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथकत्व अधिक तीन पल्योपम है। इसी प्रकार मनुष्यों और मनुष्य स्त्रियों की भी संचिट्ठणा जाननी चाहिए।

नैरयिकों का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पति काल (अनन्तकाल) है। तिर्यक् योनिकों को छोडकर सबका अन्तर उक्त प्रमाण ही कहना चाहिए। तिर्यक् योनिकों का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट साधिक सागरोपमशतपृथक्त्व है।

अल्पबहुत्व- सबसे थोडी मानुषी स्त्रियाँ, उनसे मनुष्य असंख्यातगुणे उनसे नैरयिक असंख्येयगुणे, उनसे तिर्यक्स्त्रीयाँ असंख्येयगुणे, उनसे देव असंख्येयगुणे, उनसे देवियाँ संख्यातगुणे और उनसे तिर्यक्योनिक अनन्तगुणे हैं।

यह सप्तविधि संसारसमापन्नक प्रतिपत्ति समाप्त हुई।

विवेचन -सप्तविधि प्रतिपत्ति के अनुसार संसार समापन्नक जीव सात प्रकार के हैं- नैरयिक, तिर्यक्योनिक, तिर्यक्स्त्रीयाँ, मनुष्य, मानुषी स्त्रियाँ, देव और देवियाँ। इन सातों की स्थिति संचिट्ठणा, अन्तर और अल्पबहुत्व इस सूत्र में प्रतिपादित हैं। स्थिति-नैरयिक की स्थिति जघन्य दसहजार वर्ष और उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम की है। तिर्यक्योनिक, तिर्यक्योनिक स्त्रियाँ, मनुष्य और मनुष्यस्त्रियाँ, इनकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उष्कृष्ट तीन पल्योपम है। देवों की स्थिति जघन्य दसहजार वर्ष और उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम है। देवियों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पचपन पल्योपम की है। यह स्थिति अपरिगृहिता ईशान देवियों की अपेक्षा से है। संचिट्ठणा-नैरयिकों की, देवों की और देवियों की जो भवस्थिति है, वही उनकी संचिट्ठणा कायस्थिति जाननी चाहिए। क्योंकि नैरयिक और देव मरकर अनन्तरभव में नैरयिक या देव नहीं होते । तिर्यक्योनिकों की संचिट्ठणा जघन्य

अन्तर्मुहूर्त (इतने समय बाद अन्यत्र उत्पन्न होना संभव है) और उत्कृष्ट अनन्तकाल है। वह अनन्तकाल अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण (काल मार्गणा की अपेक्षा से है) तथा क्षेत्रमार्गणा की अपेक्षा असंख्येय लोकाकाशप्रदेशों को प्रतिसमय एक-एक के अपहार करने पर जितने समय में वे खाली हो उतनाकाल समझना चाहिए तथा असंख्येय पुद्गलपरावर्त प्रमाण वह अनन्तकाल है। आवलिका के असंख्येय भाग में जितने समय हैं उतने वे पुद्गल परावर्त जानना चाहिए। तिर्यंचस्त्रियों की संचिट्ठणा (काय स्थिति) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है। निरन्तर पूर्वकोटि आयुवाले सात भव और आठवें भव में देवकुरु आदि में उत्पन्न होने की अपेक्षा से है। मनुष्य और मनुष्यस्त्री सम्बन्धी कायस्थिति भी यही समझनी चाहिए।

अन्तर -नैरयिक का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। यह नरक से निकलकर तिर्यग् या मनुष्य गर्भ में अशुभ अध्यवसाय से मरकर नरक में उत्पन्न होने की अपेक्षा से समझना चाहिए। उत्कर्ष से अनन्तकाल है। यह अनन्तकाल वनस्पतिकाल समझना चाहिए। नरक से निकलकर अनन्तकाल वनस्पति में रहकर फिर नरक में उत्पन होने की अपेक्षा है।

तिर्यक् योनिक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कर्ष से साधिक सागरोपमशतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नो सौ सागरोपम) है। तिर्यक् योनिकी, मनुष्य, मानुषी तथा देव, देवी सूत्र में जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल का अन्तर है।

अल्पबहुत्व -सबसे थोडी मनुष्यस्त्रियाँ है, क्योंकि वे कतिपय कोटिकोटि प्रमाण हैं। उनसे मनुष्य असंख्येयगुण हैं। क्योंकि सम्मूर्छिम मनुष्य श्रेणी के असंख्येय प्रदेशराशि प्रमाण हैं। उनसे तिर्यंचस्त्रियाँ असंख्येयगुण हैं, क्योंकि महादण्डक में जलचर तिर्यक्योनिकियों से वान-व्यन्तर-ज्योतिष्क देव भी संख्येयगुण कहे गये हैं। उनसे देवियाँ असंख्येयगुण हैं, क्योंकि वे देवों से बत्तीस गुणी हैं। उनसे तिर्यंच अनन्तगुण है, क्योंकि वनस्पतिजीव अनन्त हैं। (जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. 588)

अध्याय-3

वैदिक धर्म में वर्णित जीवों के परिवर्तन

काल गणना

यथाश्रुतं शुंभवस्त्रात्कालमानं निशामय ।
पात्रं षट्पलसंभूतं गंभीरं चतुरऽङ्गुलम्।। 27 (ब्रह्मवैवर्त पुराण)
स्वर्णमाषकृतच्छिद्रं दण्डैश्च चतुरङ्गुलै:।
यावज्जलप्लुतं पात्रं तत्कालं दण्डमेव च ।।28
दण्डद्वयं मुहूर्तं च यामस्तस्य चतुष्टयम् ।
वासरश्चाष्ट भिर्यामै: पक्षस्तैर्दशपञ्चभि: ।।29
मासो द्वाभ्यां च पक्षाभ्यां वर्ष द्वादशमासकै: ।
मासेन वै नराणां च पितृणां तदहर्निशम् ।।30

शंकर के मुख से मैंने समय के मान के सम्बन्ध में जैसा सुना था वह तुम भी सुनलो। छह पल सोने का बना हुआ एक पात्र हो, जिसकी गहराई चार अंगुल की हो। उसमें एक-एक माशे सोने के बने हुए चार-चार अंगुल लंबे चार कीलों से छेद कर दिये जाय फिर उस पात्र को जल के ऊपर रख दिया जाय। उन छिद्रों से जल आकर जितनी देर में वह पात्र भर दे उतने समय को एक दण्ड कहा जाता है। वैसे दो दण्ड का एक मुहूर्त (घटी) होता है, और चार घटी का एक याम (प्रहर), आठ याम का एक दिन-रात तथा पन्द्रह दिन का एक पक्ष (पाख), दो पक्ष (पाख) का एक मास और बारह मास का एक वर्ष होता है। मनुष्यों का एक मास पितरों का एक अहोरात्र ही होता है।

कृष्णपक्षे दिनं प्रोक्तं शुक्ले रात्रि: प्रकीर्तिता ।
वत्सरेण नराणां च देवानां च दिवानिशम् ।।31
अयन ह्युत्तरमहो रात्रिवै दक्षिणायनम् ।
युगकर्मानुरूपं च नरादीनां वयो नृप।।32
प्रकृते: प्राकृतानां च ब्रह्मादीनां निशामय।
कृतं त्रेता द्वापरं च कालश्चेति चतुर्युगम् ।।33
दिव्यैव्ददिशसाहस्त्रै: सावधानं निशामय ।
चत्वारि त्रीणि च द्वचैकं सहस्त्राणिकृतादिकम् ।। 34
तेषां च संध्यासंध्याशौ द्वे सहस्त्रे प्रकीर्तिते ।
त्रिचत्वारिंशकैर्लक्षै: सविंशति सहस्त्रकै:।। 35

चतुर्युगं परिमितं नरमान क्रमेण च ।
लक्षैश्च सप्त दशभि: साष्ट विंशसहस्त्रकै: ॥ 36
कृतं युगं नृमानेन संख्याविद्धि: प्रकीर्तितम् ॥37
सहस्त्रै: पण्णवतिभिर्लक्षैद्वदिशभि: सह।
त्रेता युगं षरिमितं काल विद्धि: प्रकीर्तितम्॥38
अष्ट लक्षै: सहमितं चतु:षष्टि सहस्त्रकम् ।
परिमाणं द्वापरस्य संख्याविद्धिरितीरितम्॥ 39
सद्वात्रिंशत्सहस्त्रैश्च चतुर्लक्षैश्च वत्सरै:।
नृमाना द्वै कलि युगं विदु: काल विदो बुधा: ॥40
यथा सप्त च वारा वैतिथय:षोडश स्मृता: ।
दिवारात्र्यश्च पक्षौ द्वौ मासो वर्ष च निर्मितम् ॥ 41

उनका दिन कृष्ण पक्ष में और रात्रि शुक्ल पक्ष में होती है। मनुष्यों का एक वर्ष- देवों का एक दिन-रात होता है। उत्तरायण उनका दिन और दक्षिणायन उनकी रात्रि है। हे नृप ! युग- कर्म के अनुरूप मनुष्य आदि की आयु होती है। अब प्रकृति, प्राकृत पदार्थ एवं ब्रह्मा आदि की भी आयु कह रहा हूँ, सुनो। कृत (सत्य), त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग हैं। जो दिव्य बारह सहस्र वर्ष के होते हैं उन्हें सावधानी से सुनो। कृत (सत्य)चार सहस्र, त्रेता तीन सहस्र, द्वापर दो सहस्र और कलि एक सहस्र वर्ष का होता है, इनके संध्या और सन्ध्यांश भी दो सहस्र वर्ष के होते हैं। मनुष्यों के वर्ष प्रमाण से चारों युग तैंतालीस लाख बीस सहस्र (हजार)वर्ष के होते हैं। अब चारों युगों का पृथक्-पृथक् वर्ष प्रमाण मनुष्यों के मान से बता रहा हूँ। सहस्र लाख अट्ठाइस सहस्र वर्ष का कृत (सत्य)युग होता है, ऐसा संख्या-वेत्ताओं ने मनुष्यों के मान से बताया है। उसी भाँति बारह लाख छानवे सहस्र वर्ष का त्रेता युग आठ लाख चौंसठ सहस्र वर्ष का द्वापर और चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष का कलियुग होता है, ऐसा संख्या-वेत्ताओं और काल के पण्डितों ने बताया है। इनमें सात दिन, सोलह तिथियाँ, दिन और रात्रि, दो पक्ष, मास और वर्ष का निर्माण किया गया है।

यथा भ्रमति तच्चक्रमेवमेव चतुर्युगम् ।
यथा युगानि राजेन्द्र तथा मन्वन्तराणि च ॥ 42 ब्रह्मवैवर्त पुराण
मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेक सप्तति: ।
एवं क्रमाद् भ्रमन्त्येव मनवश्च चतुर्दश ॥ 43
पञ्चविंशतिसाहस्त्रं षष्टयन्तशतपञ्चकम् ।
नरमानयुगं चैव परं मन्वन्तरं स्मृतम् ॥ 44

हे राजेन्द्र ! इसमें चक्के की भाँति चारों युगों का चक्र, प्रत्येक युगों के पृथक्-पृथक् चक्र और मन्वन्तरों का चक्र घूमता रहता है। इकहत्तर दिव्य युगों का एक मन्वन्तर होता है। इसी भाँति चौदहों मन्वन्तर क्रमश: घूमा करते हैं। मनुष्यों के मान से पच्चीस सहस्र पांच सौ साठ युगों का एक मन्वन्तर होता है। हे नराधिप ! धर्मिष्ठ मनुष्यों का आख्यान मैंने शिवजी के मुख से जैसा सुना है, तुम्हें बता रहा हूँ , सुनो। आदि मनु, जो ब्रह्मा के पुत्र एवं शतरूपा के पति हैं, धर्मिष्ठों में श्रेष्ठ, गौरव पूर्ण एवं मनुओं में समर्थ हैं स्वायम्भुव मनु शंकर जी के शिष्य हैं और भगवान् विष्णु के व्रत का पालन करते रहते हैं। वे जीवन्मुक्त, महाज्ञानी एवं आपके पितामह (परदादा) हैं।

जो वैष्णव, परम तापस, शिवजी के शिष्य और भगवान् श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे । पाँचवाँ रैवत मनु हुआ, जो धर्मात्माओं में श्रेष्ठ था। छठा चाक्षुषमनु हुए जो भगवान् विष्णु की भक्ति में तन्मय रहा करते थे सूर्य पुत्र श्राद्ध देव, जो वैष्णव थे, सातवें मनु हुए । दूसरे वैष्णव सूर्य पुत्र सावर्णि आठवें मनु हुए , जो विष्णु के व्रत परायण-दक्षसावर्णि नवें मनु हुए। दशवें ब्रह्म सावर्णि मनु हुए, जो ब्रह्मज्ञान में अति निपुण थे । ग्यारहवें धर्मासावर्णि मनु हुए , जो धर्मिष्ठ, श्रेष्ठ 14 मनु एवं भगवान् विष्णु के व्रत में तत्पर रहते थे । ज्ञानी रुद्र सावर्णि बारहवें मनु हुए। इसी प्रकार धर्मात्मा देवासावर्णि तेरहवें मनु और महाज्ञानी चन्द्रसावर्णि चौदहवें मनु हुए । मनुष्यों की आयु के समान ही इन्द्रों की आयु होती है। हे नृप ! चौदह इन्द्रों के समय के समान ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतनी ही बडी उनकी रात्रि होती है। वेदों में वही काल रात्रि कही गयी है। हे राजन् ! ब्रह्मा का दिन क्षुद्र (छोटा) कल्प कहा जाता है। महातपस्वी मार्कण्डेय को ऐसे सात कल्पों तक चिर जीवन प्राप्त है। संकर्षण (शेष) जी के सहसा उठने पर उनके मुख की अग्नि द्वारा ब्रह्मलोक से नीचे सभी लोक दग्ध हो जाते हैं। अनन्तर चन्द्र,सूर्य और ब्रह्मा के पुत्र ब्रह्मलोक चले जाते हैं। इस भाँति रात्रि व्यतीत होने पर ब्रह्मा पुन: उनकी सृष्टि करते हैं। उसी ब्रह्म रात्रि को क्षुद्र (छोटा) प्रलय कहा जाता है।

उसमें देववृन्द, मनुगण और मनुष्य आदि सभी जल जाते हैं । इस प्रकार तीस दिन-रात्रि का ब्रह्मा का एक मास होता है और उनके बारह मास का उनका एक वर्ष होता है। हे नृप ! इस भाँति ब्रह्मा के पन्द्रह वर्ष व्यतीत होने पर एक प्रलय होता है, जो दैनन्दिन नाम से वेदों में बताया गया है। प्राचीन वेद वेत्ताओं ने इसे ही मोहरात्रि कहा है। जिसमें चन्द्र, सूर्य आदि दिशाओं के अधिश्वर, आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मनुवृन्द, मानव आदि, ऋषिगण, मुनिगण, गन्धर्व, राक्षस, चिरजीवी मार्कण्डेय, लोमश, पेंचक, राजा इन्द्रद्युम्न, अकूपार, कच्छप, नाडीजंघ और बक सभी नष्ट हो जाते हैं। और ब्रह्मलोक के

नीचे रहने वाले सभी पाताल पर्यन्त लोक जल जाते हैं एवं ब्रह्मा के पुत्र आदि ब्रह्मलोक चले जाते हैं। इस प्रकार दैनन्दिन व्यतीत होने पर ब्रह्मा पुन: उन लोकों का निर्माण करते हैं। हे नृप ! इस भाँति प्रजापति ब्रह्मा की सौ वर्ष की परमायु होती है और ब्रह्मा के अन्त होने पर महाप्रलय होता है। प्राचीनों ने उसे महारात्रि कहा है। ब्रह्मा के अन्त होने पर ब्रह्माण्ड-समूह जल में डूब जाता है उसमें देवमाता, सावित्री, वेद, धर्म आदि एवं मृत्यु का भी नाश हो जाता है, केवल शिव और प्रकृति शेष रहते हैं। विश्व के समस्त वैष्णव नारायण में विलीन हो जाते हैं, और समस्त रूद्र गणों समेत संहार करने वाले कालाग्नि रूद्र, मृत्यञ्जय-महादेव में लीन होते हैं, क्योंकि वे तमोगुण स्वरूप हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के पतन होने पर प्रकृति का एक निमेष (क्षण) होता है। हे नृप ! निमेष के अन्त में नारायण (विष्णु), शिव और महाविष्णु आदि की सृष्टि भगवान् श्री कृष्ण की इच्छा से आरम्भ हो जाती है। भगवान् श्री कृष्ण निमेष रहित, निर्गुण और प्रकृति से परे हैं। उनके सगुण रूप का निमेष, काल, संख्या और आयु परिमित होती है। किन्तु गुणहीन, नित्य, आदि-अन्त रहित की परिमियता(इयत्ता) नहीं होती है। प्रकृति के सहस्र निमेष का उसका एक दण्ड होता है, साठ दण्ड का एक दिन , तीस दिन का एक मास और बारह मास का एक वर्ष होता है। इस प्रकार प्रकृति के सौ वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् कृष्ण में उसका लय हो जाता है और प्रकृति के कृष्ण में विलीन होने पर वह प्राकृतलय कहा जाता है। इस भाँति महाविष्णु की जननी प्रकृति जो ईश्वरी एवं मूल-प्रकृति कही जाती हैं, अपने में सबका संहरणकर के स्वयं भगवान् श्री कृष्ण के वक्ष:स्थल में विलीन हो जाती है।

अनन्त है काल एवं परिवर्तन

यह सृष्टि चार अरब बत्तीस करोड वर्ष (4,32,00,00,000) की है। इसे एक कल्प कहते हैं। इसमें एक सहस्र चतुर्युगी और चौदह मन्वन्तर होते हैं। एक चतुर्युगी (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि) में 43,20,000 (43 लाख 20 हजार) वर्ष होते हैं। एक कलियुग बराबर 4,32,000 वर्ष के हैं। ऋग्वेद की अक्षर-संख्या भी 4,32,000 हैं यथा-

स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहतीसहस्राणि एतावत्यो हर्च्चो या: प्रजापतिसृष्टा:। (शतपथ ब्राह्मण 10/4/2/23)

अर्थात् ऋक्पदों को संचित करके प्रजापति ने व्यूह बनाया। उसमें बारह बृहती सहस्र अक्षर लगे। बृहती छंद =36 अक्षर, इसलिये 36×12×1000= 4,32,000 ऋक् अक्षर।

कृतयुग=4 कलि; त्रेता= 3 कलि; द्वापर =2 कलि। इस प्रकार 10 कलियुग

की एक चतुर्युगी हुई। इसी को सहस्र-गुणित (सहस्रशीर्षा, पुरुष-सूक्त) करने से एक कल्प बनता है। यही सष्टि है। इसके अनंतर प्रलय भी एक कल्प के बराबर ही होता है।

इस प्रकार के समय परिगणन में तिथि क्रम के लिये कहीं स्थान नहीं है। भारतवर्ष में यह कभी नहीं हुआ कि प्रत्येक मन्वन्तर की चतुर्युगी को अलग करके उसके संवत्सरों में घटनाओं के पौर्वापर्य का सम्बन्ध लगाया गया हो।

एक कल्प (4,32,00,00,000) या मन्वन्तर या चतुर्युगी-ये केवल अंकों के गणित समुदाय है। 4,32,00,00,000 के पहले जोड या बाकी (+या -) का निशान एक रस काल का विचार रखते हुए हम नहीं लगा सकते। इतने अंकों से अनन्त काल के सामने इधर या उधर (जोड या बाकी) कुछ व्यक्त नहीं होता। इनमें आगे-पीछे का भाव ही नहीं है। जहाँ काल लोमशऋषि है, उसके एक-एक रोम में एक-एक प्रजापति ब्रह्मा की आयु बसी हुई है, वहाँ एक कल्प के संवत्सरों में पूर्वापर तिथिक्रम की कल्पना करना नितांत असम्भव है। इसलिए इतिहास के लिए जो मौलिक प्रश्न है 'कब ?' उसका उत्तर देने का विचार भारतवर्ष में कहीं नहीं पाया जाता।

काल की अनन्तता दिखाने के लिए लोमशऋषि से और अच्छी कथा क्या हो सकती थी? लोमशऋषि ब्रह्मा के पुत्र हैं। ब्रह्मा की आयु लोमश का एक दिन है। पिता के पर्यवसान पर क्षौर-कर्म की जगह लोमश नित्य अपना एक रोम उखाड कर फेंक देते हैं, अर्थात् लोमश के एक -एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु बसी हुई है। एक सृष्टि ब्रह्मा का एक दिन है। प्रलय उसकी रात्रि है। इस क्रम से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की होती है। इस प्रकार लोमश के एक-एक रोम में कितनी सृष्टि और प्रलय समाए हुए हैं। अनंत काल की सांत अभिव्यक्ति की कैसी मधुर कल्पना की गई है। अँग्रेजी में लोमश की कथा का रहस्य यही है The whole duration of the human race appears to be but a moment in eternity. कौन कह सकता है कि अनंतता की भाँति लोमश के रोम भी अनंत नहीं हैं। इसी तरह पर ब्रह्माण्ड की स्थलकृत अनंतता को व्यक्त करने के लिए शेषशायी विष्णु की कथा है।

पृथ्वी से सूर्य 930 लाख मील दूर है। सबसे निकट का नक्षत्र चार 'प्रकाश' वर्ष की दूरी पर है। आकाश-गंगा यहाँ से चार सौ 'प्रकाश' वर्ष (Light years) दूर है। दूरवीक्षण से अब तक देखे गए दूरतम नक्षत्र की दूरी यहाँ से चौदह करोड प्रकाश वर्ष है, अर्थात् प्रकाश को यहाँ तक आने में 1,86,000 मील प्रति सेकण्ड की गति से 14 करोड वर्ष लगते हैं। एक वैज्ञानिक का कहना है- In view of these unimaginable realities the Earth appers to be but a speck in Infin-

ity. पुराणों ने कहा है- **स्फारे यत्फणाचक्रे धरा शरावश्रियं वहति;** अर्थात् शेष के अनंत फण-विस्तार पर यह पृथिवी एक शराव के मानिन्द है।

प्रगति दो प्रकार की होती है- पिपीलिका-मार्ग से और शुक-मार्ग से। अर्थात् जैसे पिपीलिका शनैः-शनैः क्रममाण होती है, वैसे संवत्सरों के अनंत जाल में एक-एक सन् को स्पर्श करते हुए चलना पिपीलिका-गति है। इसमें तिथि-क्रम की गुंजायश है। परन्तु शुक-मार्ग से चलने वाले सद्यमोक्ष प्राप्त करते हैं। आत्मा के लिए पिपीलिका-मार्ग आवश्यक नहीं है। जहाँ मार्ग की इयत्ता हो,वहीं पिपीलिका-न्याय चरितार्थ होता है। अधुनातन पाश्चात्य संस्कृति की प्रगति पिपीलिका-न्याय से है। उनका मार्ग व्यक्त दीख पडता है। परन्तु आध्यात्मिक विचार करने वालों ने शुक-मार्ग का अवलम्बन किया है। मोक्ष के लिए, जो कि परम कोटि की पूर्णता है, क्षण भर बहुत है। शुक-मार्ग अव्यक्त होता है। ज्ञान कहाँ से आता है, किधर को उसका प्रवेश-द्वार है, यह निश्चित नहीं। शुक-उडान की भाँति उसका पथ नहीं देख पडता। वह हो जाता है, यही एक तत्त्व है। पिपीलिका-गति पदे-पदे निश्चेतुं शक्य है। पिपीलिका-मार्ग का भाव हुए बिना इतिहास असंभव है। बिना उसके तिथिक्रम (chronoloy) बन ही नहीं सकता।

इसलिए भारतवर्ष के साहित्य में इतिहास नहीं है। यह सारा देश ही इतिहास के लिए नहीं बना। तार्त्पय यह है कि सारे राष्ट्र की ही आत्मा में ऐसी उर्वरा भूमि का अभाव है जहाँ इतिहास का बीज पनप सके। यहाँ वर्तमान की महिमा सर्वोपरि है। जो अब हो रहा है, वही सब कुछ है। आत्मा के साथ उसी का तादात्म्य है। जो बीत गया, उससे हमारा कुछ सम्बंध नहीं; अर्थात् अतीत ने हमारी आत्मा में कोई उपाधि नहीं छोडी। जब तब घटनावली अतीत से उपहित न हो, तब तक इतिहास कैसे लिखा जा सकता है? यहाँ 'अस्ति' सच्ची है, 'आस' कुछ नहीं। जो हो चुका , वह कल्प-कल्प में फिर-फिर सब वैसे ही होगा। वह एक ध्रुव सत्य है, जो फिर-फिर सम्भव है। सर्ग और विसर्गों का फेर चक्रवत् चल रहा है। मानवी दृष्टि से समय को देखने का अधिकार ही नहीं है। मनुष्य-शरीर एक भूत-भावन वस्तु है, वह स्थल और काल से परिच्छिन्न है। उसी की अपेक्षा से भूत-वर्तमान का विवेक किया जाता है। परन्तु जहाँ आत्मा की दृष्टि से सब कुछ देखा जाय, वहाँ अजर-अमर ही सब कुछ है। ऐसा नहीं हुआ, जब 'मैं' नहीं था; ऐसा भी नहीं होगा जब 'मैं' न हूँगा; फिर भूत का साक्षी कौन बने ? जिसे शरीर की अपेक्षा से हम भूत कहते हैं, उसका दृष्टा भी 'मैं' था, तब मैं के लिए तो वह वर्तमान ही है, क्योंकि 'मैं' वही है, उसी हर तरह एक रस है, 'मैं' दूसरा नहीं हो गया, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। शरीर विनश्यत् है, सभ्यता और संस्कृति सब विनश्यत् हैं, इनकी और देखने से क्या लाभ है ?

अविनाशी इन सब से परे हैं, उसमें काल कृत परिच्छेद या चिप्पी नहीं लग सकती। उसको जो देखता है, वही सच्चा द्रष्टा है। अविनाशी को चार या पाँच हजार वर्ष पुराना कह सकना असम्भव है।

यहाँ हम किसी चीज को पुरातन नहीं कहते, सब कुछ सनातन है। सनत् अव्यय में इतिहास या भूत की गंध भी नहीं है। हमारा काल भी पुरातन नहीं, सनातन है। जहाँ-जहाँ गणना या कलना का भाव है, वहाँ काल है। यह काल 'अहं' ही है। ''कालः कलयतामहम्'' (गीता)- इसलिए कल्प के अब्दो की गणना दिव्य वर्ष, सहस्र वर्ष या ब्राह्म दिन कही जाता है।

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ मनु. 1/72

इस दैव-युग या ब्रह्मा के अहोरात्र में मनुष्य का नाम भी नहीं है। मनुष्य मर्त्य है और देवगण अमर हैं। परन्तु जो काल मनुष्यों से परिच्छिन्न नहीं होता, वह देवों से ही यदि परिच्छिन्न हो जाय, तो भी तो उसमें मर्त्य भाव आ जाय। इसलिए देव यद्यपि अमर हैं, पर इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ये सब काल के अनन्त विस्तार में न जाने कहाँ पच जाते हैं। इस प्रकार जिसे दिव्य युगसाहस्री या ब्रह्मादिन कहा उसमें भी देवता या ब्रह्म का लेप नहीं है, क्योंकि अनादि अनन्त काल स्वयं ब्रह्म है-

ब्रह्मणो रुद्रा ह्यन्ये नारायणादयः।
एको हि भगवानीशः कालः कविरिति स्मृतः॥

काल की महिमा हिन्दु-संस्कृति में गीता के एकादश अध्याय में सर्वोपरि देखने को मिलती है। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेव, मरुत, साध्य, ऋषिसंघ, सुरसंघ आदि सब अपने निधनस्थान की ओर अप्रतिवार्य वेग से बढते चले जा रहे हैं- इतना सजीव यह वर्णन है। अन्त में भगवान् के साथ काल का तादात्म्य दिखा कर कहा गया है-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो ।
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥ गीता 11/32

यह काल वही है, जो सब लोगों का सृजन भी करता है-

कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।

अर्थात् सृष्टि ही जिसकी कल्पना के बिना असम्भव है, वह काल है। यह ब्रह्म ही है, जिसकी शक्ति त्रेधा विभक्त होकर (भूत, वर्तमान,भविष्य; ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) सब लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करती है। यह स्पष्ट है कि इस देश में समय का जो भाव था, वह इतिहास के लिए निरुपयोगी है। वह निरवयव होने से एकरस हैं बिना अवयवी

काल के भूतयुग संभव नहीं। बिना भूत की स्पष्ट निर्धारित कल्पना के इति+ह+आस में गर्भित कदा का उत्तर नहीं दिया जा सकता।

युग-विभाग पश्चिमी भूगर्भ-शास्त्र में

अजंतुक (Azoic) 80 करोड वर्ष-कोई जीव नहीं।

प्राग्जंतुक (Protozoic) 60 करोड वर्ष-काई, श्यान, मत्स्य, आदि।

पूर्व-पराजंतुक (Early palaeozoic) 36 करोड वर्ष-समुद्री बिच्छु, अमेरु जीव।

अपर-पराजंतुक (Later palaeozoic) 26 करोड वर्ष- मीन, झष, दलदली जंगल।

मध्यजंतुक (Mesozoic)-सरीसृप आदि, 14 करोड वर्ष।

प्रत्यग्रजंतुक (Cainozoic)-स्तन्यपायी जंतु, 4 करोड वर्ष।

इतिहास-दर्शन (लेखक वासुदेवशरण अग्रवाल)

वैदिक धर्म में वर्णित कर्म सिद्धान्त एवं जीवों के परिवर्तन

सुरा दैत्या दानवाश्च गन्धर्वा राक्षसादय:।
नराश्च कर्मजनका न सर्वे समजीविन:॥ 16 ब्र.वै.पृ.353

देव, दैत्य,दानव, गन्धर्व, राक्षस और मनुष्य सभी कर्मों के फल को भोगते हैं, परन्तु सब का जीवन समान नहीं हैं।

विशिष्ट जीविन: कर्म भुज्जते सर्वयोनिषु ।
शुभाशुभं च सर्वत्र स्वर्गेषु नरकेषु च ॥ 17
विशेषतो मानवाश्च भ्रमन्ति सर्वयोनिषु ।
शुभाशुभं भुञ्जते च कर्म पूर्वार्जितं परम् ॥ 18
शुभेन कर्मणा यान्ति ते स्वर्गादिकमेव च।
कर्मणा चाशुभेनैवभ्रमन्ति नरकेषु च ॥ 19
कर्मनिर्मूलने मुक्ति: सा चोक्ता द्विविधामता।
निर्वाणरूपा सेवा च कृष्णस्य परमात्मन: ॥ 20
रोगी कुकर्मणा जीवश्चारोगी शुभकर्मणा।
दीर्घ जीवी च क्षीणायु: सुखी दु:खी च निश्चितम्॥ 21

उनमें से मानव ही कर्म का जनक होता है अर्थात् मनुष्य योनि में ही शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं, जिनका फल सर्वत्र स्वर्गों, नरकों में भी भोगना पडता है। विशेषत: मानव ही सब योनियों में कर्मों का फल भोगते हैं और सभी योनियों में भटकते हैं। वे पूर्व जन्म का किया हुआ शुभाशुभ कर्म भोगते हैं। शुभ कर्म के प्रभाव से वे स्वर्ग में जाते हैं और अशुभ कर्म से उन्हें नरक में भटकना पडता है। कर्म का निर्मूलन हो जाने पर मुक्ति होती है। पतिव्रते ! मुक्ति

दो प्रकार की बताई गई है-एक निर्वाणरूपा और दूसरी परमात्मा श्री कृष्ण की सेवारूपा ! बुरे कर्म से प्राणी रोगी होता है और शुभ कर्म से नीरोगी। वह अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार दीर्घजीवी, अल्पायु, सुखी एवं दु:खी होता है। कुत्सित कर्म से ही प्राणी अगंहीन, अंधे, बहरे आदि होते हैं। उत्तम कर्म के फलस्वरूप सिद्धि आदि की प्राप्ति होती है।

अन्धादयाश्चाङ्गहीना-कुत्सितेन च कर्मणा।
सिद्धयादिकमवाप्नोति सर्वोत्कृष्टेन कर्मणा॥ 22
सामान्यं कथितं सर्वं विशेषं शृणु सुन्दरि।
सुदुर्लभं सुभोग्यं च पुराणेषु श्रुतिर्ष्णप॥ 23

इस प्रकार मैंने सामान्य कर्म फल बता दिया है, अब विशेष बातें सुनो। जिसे पुराणों और श्रुतियों में अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है।

दुर्लभा मानवी जाति: सर्व जातिषु भारते।
सर्वाभ्यो ब्राह्मण: श्रेष्ठ: प्रशस्त: सर्वकर्मेषु ॥ 24
विष्णुभक्तो द्विजश्चैव गरीयान्भारते तत:।
निश्कामश्च सकामश्च वैष्णवो द्विविध सति॥ 25

सभी जातियों के लिए भारत में मनुष्य का जन्म पाना परम दुर्लभ हैं। साध्वी ! उन सब जातियों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं जो सभी कर्मों के लिए प्रशस्त कहे गये हैं। भारत में विष्णुभक्त द्विज सबसे श्रेष्ठ होते हैं। निष्काम और सकाम भेद से वैष्णव दो प्रकार के होते हैं।

सकाश्च प्रधानश्च निष्कामोभक्त एव च ।
कर्मभोगी सकामश्च निष्कामो निरूपद्रव:॥ 26

सकाम वैष्णव कर्म प्रधान होते हैं और निष्काम वैष्णव केवल भक्त। सकाम वैष्णव कर्मों का फल भोगता हैं और निष्काम वैष्णव शुभाशुभ भोग के उपद्रव से दूर रहता है।

स याति देहं त्यक्त्वा च पदं विष्णोंनिरामयम्।
पुनरागमनं नास्ति तेषां निष्कामिणां सति॥ 27

वह निष्काम (भक्त) देह त्यागने पर निरामय विष्णु लोक को प्राप्त करता है और निष्काम होने के नाते उसका यहाँ पुन: आगमन नहीं होता है।

ये सेवन्ते च द्विभुज कृष्णमात्मानमीश्वरम्
गोलोकं यान्ति ते भक्ता दिव्यरूपविधारिण:॥ 28

जो भक्त दो भुजाधारी पूर्णब्रह्म परमेश्वर श्री कृष्ण की उपासना करते हैं वे अन्त में दिव्य रूप धारण करके गोलोक में जाते हैं।

ये च नारायणं भक्ता: सेवन्ते च चतुर्भुजम्।
वैकुण्ठं यान्ति ते सर्वे दिव्यरूपविधारिण: ।।29

जो भक्त चतुर्भुज भगवान् विष्णु की सेवा करते हैं वे दिव्य रूप धारण करके वैकुण्ठ लोक में जाते हैं।

सकामिनो वैष्णवाश्च गत्वा बैकुण्ठमेव च।
भारतं पुनरायान्ति तेषां जन्म द्विजातिषु।। 30

किन्तु सकाम वैष्णव बैकुण्ठ में जाकर पुन: यहाँ भारत में लौट आते हैं और द्विज जातियों में जन्म ग्रहण करते हैं।

कालेन ते च निष्कामा भविष्यन्ति क्रमेण च।
भक्ति च निर्मलां बुद्धि तेभ्यो दास्यति निश्चितम् ।। 31

समय पाकर क्रमशः वे भी निष्काम भक्त होते हैं क्योंकि भगवान् उन्हें भी भक्ति और निर्मल बुद्धि निश्चित रूप से प्रदान करते हैं।

ब्राह्मणाद्वैष्णवादन्ये सकामा: सर्वजन्मषु।
न तेषांनिर्मला बुद्धिर्विष्णु भक्ति विवर्जिता:।। 32

ब्राह्मण वैष्णव से लेकर अन्य सभी जन्मों में सकाम वैष्णव ही होते हैं किन्तु भगवान् विष्णु की भक्ति से रहित होने के कारण उनकी बुद्धि निर्मल नहीं होती है।

तीर्थाश्रिता द्विजा ये च तपस्यानिरता: सति।
ते यान्ति ब्रह्मलोकं च पुनरायान्ति भारतम् ।। 33

तीर्थ में रहकर जो ब्राह्मण तपस्या में लीन रहते हैं, वे ब्रह्मलोक को जाते हैं और (पुण्य भोग के पश्चात्) पुन: यहाँ भारत में आते हैं।

स्वधर्मनिरता विप्रा: सूर्यभक्ताश्च भारतम्।
व्रजन्ति सूर्यलोकं तं पुनरायान्ति भारतम् ।। 34

भारत में स्वधर्म से संलग्न रहते हुए जो ब्राह्मण सूर्य के भक्त होते हैं, वे सूर्यलोक को जाते हैं तथा (पुन: भोग के पश्चात्) पुन: भारत में आते हैं।

स्वधर्म निरता विप्रा: शैवा: शाक्ताश्च गाणपा:।
तं यान्ति शिव लोकं च पुनरायान्ति भारतम् ।। 35

इसी प्रकार स्वधर्माचरण करते हुए जो ब्राह्मण, शिव, शक्ति (दुर्गा) और गणेश के भक्त होते हैं, वे शिवलोक में आते हैं और (पुन: भोग के पश्चात्) पुन: भारत में लौट आते हैं।

ये विप्रा: अन्यदेवेष्टा: स्वधर्म निरता: सति।
ते गत्वा शक्रलोकं च पुनरायान्ति भारतम् ।।36

जो ब्राह्मण अन्य किसी देव को इष्ट मान कर स्वधर्मानुष्ठान पूर्वक उसकी आराधना करते हैं वे इद्र लोक में जाते हैं और (पुण्यभोग के पश्चात्) पुन: भारत में आते हैं।

हरिभक्ताश्च निष्कामा: स्वधर्म रहित द्विजा:।
तेऽपि यान्ति हरेर्लोकं क्रमाद्भक्तिबलादहो ।। 37

निष्काम कर्म करने वाले ब्राह्मण, जो भगवान् के भक्त हैं किन्तु अपने (जातीय) धर्म से रहित वे भी क्रमश: अपनी भक्ति के बल से विष्णु के ही लोक में जाते हैं।

स्वधर्मरहिता विप्रा देवान्यसेविन: सदा।
भ्रष्टाचाराश्च वामाश्च ते यान्ति नरकं ध्रुवम्।।38

जो ब्राह्मण स्वधर्म से रहित हैं, देवेतर की सेवा करते हैं तथा भ्रष्टाचार और वामाचारी हैं, वे निश्चित ही नरक में जाते हैं।

स्वधर्म रहिताश्चैवं वर्णाश्चत्वार एव च।
भवन्त्येव शुभस्यैव कर्मण: फलभागिन: ।।39

इस प्रकार चारों वर्णों के लोग अपने-अपने (जातीय) कर्मों से संलग्न रहे तो उन्हें शुभ कर्मों का ही फल भागी मानना चाहिए।

स्वधर्म रहितास्ते च नरकं यान्ति हि ध्रुवम् ।
भारते च भवन्त्ये व कर्मण: फल भागिन : ।।40

यदि वे अपने-अपने धर्मों से च्युत होते हैं तो निश्चित ही नरक में जाते हैं क्योंकि भारत में कर्मों का फलभागी होना ही पडता हैं।

स्वधर्मनिरताय विप्रा: स्वधर्मनिरतायच ।
कन्यां ददाति विप्राय चन्द्रलोकं व्रजन्ति ते ।। 41

स्वधर्मानुष्ठान करने वाले ब्राह्मण यदि अपनी कन्या स्वधर्माचारी को देते हैं, तो वे चन्द्रलोक में जाते हैं।

वसन्ति तत्र ते साध्वि यावदिन्द्राश्चतुर्दश ।
सालंकृताया दानेन द्विगुणं फलमुच्यते।। 42

और वहाँ चौदह इन्द्रों के समय तक रहते हैं। साध्वी !यदि कन्या को अलङ्कार आदि से विभूषित करके दान में दिया जाय तो उससे दुगना फल प्राप्त होता है।

सकामा यान्ति तल्लोकं न निष्कामाश्च वैष्णवा ।
ते प्रयान्ति विष्णुलोकं फलसंधान वर्जिता: ।। 43

किन्तु कामना वाले ब्राह्मण ही वहाँ जाते हैं , निष्काम वैष्णव नहीं, वे तो फल की आशा से पृथक् रहने के कारण भगवान् विश्णु के ही लोक में जाते हैं।

गव्यं च रजतं भार्यां वस्त्रं सस्यं फलं जलम् ।
ये ददत्येव विप्रेभ्यस्तल्लोकं हि ब्रजन्ति च ।। 44

गौ के दूध, घी आदि एवं चाँदी, भार्या, वस्त्र, अनाज,फल और जलका दान करने वाले भी उसी लोक में जाते हैं।

वसन्ति ते च तल्लोकं यावन्मन्वन्तरं सति ।
कालं च सुचिरं वासं कुर्वन्ति तत्रते जना:।। 45

और मन्वन्तर के समय तक वे वहाँ रहते हैं। इस प्रकार वे वहाँ अति चिरकाल तक निवास करते हैं।

ये ददति सुवर्णं च गां च ताम्रादिकं सति ।
ते यान्ति सूर्यलोकं च शुचये ब्राह्मणाय च ।। 46

पवित्र (सदाचारी) ब्राह्मण को सुवर्ण, गौ, ताँबे आदि का दान करने वाले पुरुष सूर्यलोक में जाते हैं।

वसन्ति तत्र ते लोके वर्षाणामयुतं सति।
विपुलं सुचिरं वासं कुर्वन्ति च निरामया: ।।47

वे वहाँ दस सहस्र वर्षों तक निवास करते हैं।अनन्तर बिना किसी बाधा के पुन: चिरकाल तक वास करते हैं।

ददाति भूमिंविप्रेभ्यो धान्यानि विपुलानि च।
स याति विष्णु लोकं च श्वेतद्वीपं मनोहरम् ।। 48

ब्राह्मण को भूमि और विपुल धान्य देने वाले व्यक्ति विष्णुलोक में तथा मनोरम श्वेतद्वीप में जाते हैं।

तत्रैव निवसत्येव यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
विपुलं विपुले वासं करोति पुष्यवान्सति।। 49

वहाँ चन्द्रमा और सूर्य के समय तक निवास करते हुए वे पुण्यवान् व्यक्ति उस विपुल स्थान में चिरकाल तक निवास करते हैं।

गृहं ददति विप्राय ये जना भक्ति पूर्वकम्।
ते यान्ति सुरलोकं च चिरं तत्र भवन्ति ते।। 50

ब्राह्मण को भक्ति पूर्वक गृहदान देने वाले व्यक्ति देवलोक में जाकर चिर निवास करते हैं।

गृहरेणुप्रमाणाब्दं दानं पुण्यदिने यदि।
विपुलं विपुले वासं कुर्वन्ति मानवा: सति।। 51

यदि किसी शुभ अवसर पर वह, वही दान करता है, तो वह उस गृह के रजकण जितने वर्षों तक उस दान के फल स्वरूप उस विशाल लोक में चिर निवास करता है।

यस्मै यस्मै च देवाय यो ददाति गृहं नर:।
स याति तस्य लोकं च रेणुमानाब्दमेव च ।। 52

इस प्रकार जो मनुष्य जिस देव के निमित्त गृह दान करता है, उस देव के लोक में उस गृह के रेणु प्रमाण वर्षों तक वहाँ निवास करता है।

सौधे चतुर्गुणं पुण्यं पूर्ते शतगुणं फलम्।
प्रकृष्टेऽष्ट गुणंतस्यादित्याह कमलोद्भव:।। 53

अपने घर पर दान करने की अपेक्षा देव-मन्द्रिर में दान करने से चौगुना, पूतकर्मवापी, कूप, तडाग आदि के निर्माण के अवसर पर करने से सौ गुणा तथा किसी श्रेष्ठ तीर्थस्थान में करने से आठगुणा फल होता है - ऐसा ब्रह्मा ने कहा है।

यो ददाति तडागं च सर्वभूताय भारते।
स याति जनलोकं च वर्षाणामयुतं सति।। 54

भारत में समस्त प्राणियों के हितार्थ जो तडाग बनवा कर दान करता है, वह दस सहस्र वर्षों तक जन-लोक में निवास करता है।

वाप्यां फलं शतगुणं प्राप्नोति मानवस्तत:।
तथा सेतुप्रदानेन तडागस्य फलं लभेत् ।। 55

बावडी का दान करने से मनुष्य को सदा सौ गुना फल मिलता है। सेतु (पुल) दान करने से तडाग के दान का पुण्य फल प्राप्त होता है।

धनुश्चतु:सहस्रेण दैर्ध्यमानेन निश्चितम् ।
नयूना वा तावती प्रस्थे सा वापी परिकीर्तिता।। 56

तडाग का प्रमाण चार सहस्र धनुष (1 धनुष = 4 हाथ चौडा और उतना ही लम्बा) निश्चित किया गया है। इससे जो लघु प्रमाण में है, उसे बावडी कहते हैं।

दशवापीसमा कन्या यदि पात्रे प्रदीयते।
फलं ददाति द्विगुणं यदि सालंकृता भवेत्।। 57

किसी (सु) पात्र को कन्या दान देने पर दश बावडियाँ दान करने का पुण्य प्राप्त होता है। यदि (आभूषण आदि से) अलंकृत करके कन्या का दान किया जाता है, तो उससे दुगुना फल मिलता है।

यत्फलं च तडागे च पङ्कोद्धारेण तत्फलम्।
वाप्याश्च पकङ्कोद्धारेण वापीतुल्यफलं लभेत्॥ 58

वापी और तडाग बनवाने से जो पुण्य होता है, वही पुण्य उसके जीर्णोद्धार (कीचड दूर कराने) से होता है।

अश्वत्थवृक्षमारोप्य प्रतिष्ठां च करोति यः।
स याति तपसो लोकं वर्षाणामयुतं परम्॥ 59

पीपल का वृक्ष लगाकर जो उसकी प्रतिष्ठा करता है, वह दश सहस्त्र वर्षों तक तपोलोक-में निवास करता है।

पुष्पोद्यानं यो ददाति सावित्रि सर्वभूतये।
स वसेद्ध्रुवलोके च वर्षाणामयुतं ध्रुवम्॥ 60

सावित्री ! समस्त प्राणियों के हित के लिए जो पुष्प वाटिका (फूलवाडी) का दान करता है, वह ध्रुवलोक में दस सहस्र वर्षों तक निश्चित रूप से निवास करता है।

ये ददाति विमानं च विष्णवे भारते सति।
विष्णुलोके वसेत्सोऽपि यावन्मन्वन्तरं परम्॥ 61

भारत वर्ष में जो भगवान् विष्णु के लिए विमान (रथ) का दान करता है, वह एक मन्वन्तर के समय तक विष्णुलोक में निवास करता है।

चित्रयुक्ते च विपुले फलं तस्य चतुर्गुणम्।
रथार्ध शिबिका दाने फलमेव लभेद् ध्रुवम्॥ 62

चित्र-विचित्र एवं विशाल रथ का दान करने पर उससे चौगुने पुण्य और शिविका (पालकी) दान करने पर रथ का आधा पुण्य फल प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं।

ये ददाति भक्तियुक्तो हरये दोल मन्दिरम्।
विष्णुलोके वसेत्सोऽपि यावन्मन्वन्तरं परम्॥ 63

जो भक्ति पूर्वक भगवान् विष्णु को मन्दिराकार झूला समर्पित करता है, वह मन्वन्तर के समय तक विष्णुलोक में निवास करता है।

राजमार्ग सौधयुक्तं यः करोति पतिव्रते।
वर्षाणामयुतं सोऽपि शक्रलोके महीयते॥ 64

हे पतिव्रते ! जो सडक बनवाता और उसमें लोगों के ठहरने के लिए महल (धर्मशाला) बनवा देता है, वह दश सहस्त्र वर्षोंतक इन्द्रलोक में पूजित होता है।

ब्राह्मणेभ्योऽपि देवेभ्यो दाने समफलं लभेत्।
यच्च दत्तं हि तद्धोक्तुर्न दत्तं नोपतिष्ठते ॥ 65

इस प्रकार ब्राह्मणों और देवों को दान देने से दान का फल समान ही होता है। जो पूर्व जन्म में दिया गया है, वही जन्मान्तर में प्राप्त होता है। जो नहीं दिया गया है, वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

भुक्त्वा स्वर्गादिकं सौख्यं पुनरायान्ति भारते।
लभेब्दि प्रकुलेष्वेव क्रमेणैवोत्तमादिषु॥66
भारते पुण्यवान्विप्रो भुक्त्वा स्वर्गादिकं परम्।
पुन सोऽपि भवेद्विप्रो न पुनः क्षत्रियादयः॥ 67

ऐसे व्यक्ति स्वर्ग आदि के सुख का अनुभव करने के उपरान्त यहाँ भारतवर्ष में क्रमशः (दान देने के अनुसार) उत्तम-मध्यम आदि ब्राह्मणों के कुल में ही जन्म ग्रहण करते हैं। भारत के निवासी पुण्यवान् ब्राह्मण स्वर्ग आदि लोकों के उत्तम सुखों का अनुभव करके पुनः यहाँ ब्राह्मण कुल में ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु क्षत्रिय आदि के लिए ऐसा नियम नहीं है।

स्वधर्म रहिता विप्रा नानायोनिं व्रजन्ति च।
भुक्त्वा च कर्मभोगं च विप्रयोनिं लभेत्पुनः ॥69

अपने धर्म-कर्म से रहित ब्राह्मण अनेक योनियों में घूमते हैं और वहाँ कर्म भोगों को-भोगने के अनन्तर पुनः ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होते हैं।

नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ 70

सैकडों करोड कल्पों के व्यतीत होने पर भी बिना भोग किये कर्म नष्ट नहीं होता है। शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पडता है।

देवतीर्थे सहायेन कायव्यूहेन शुध्यति।
एतत्ते कथितं सर्वं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ 71

देवता तथा तीर्थ की सहायता और कायव्यूह से प्राणी शुद्ध हो जाता है। पतिव्रते! ये सब बातें तुम्हें बता दी गई, अब पुनः क्या सुनना चाहती हो ?

दुःख एवं दुःख निवृत्ति के उपाय

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपायी चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ 1 सांख्यकारिकर पृ. सं. 43

इस संसार में प्रत्येक प्राणी पर तीन दुःखों का निरन्तर प्रहार होता रहता है। अतः प्रत्येक प्राणी दुःखों से मुक्ति चाहता है।

दुःखों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है- 1)आध्यात्मिक 2)आधि भौतिक तथा 3)आधि दैविक।

1)*आध्यात्मिक दु:ख* :- आत्मनि इति आध्यात्मं तद्धिकृत्य जायमानं दु:खं आध्यात्मिकम्। आत्मा=शरीर +मन संबंधी दु:खों को आध्यात्मिक दु:ख कहते हैं। अर्थात् शारीरिक तथा मानसिक कारणों से उत्पन्न दु:ख आध्यात्मिक दु:ख कहलाता है। इसके दो भेद होते हैं।

शारीरिक दु:ख- शारीरिक कारणों से उत्पन्न दु:ख शारीरिक दु:ख कहलाते हैं। जैसे- वात-पित्त-कफ आदि के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले ज्वर-अंग पीडा आदि दु:ख शारीरिक दु:ख हैं।

मानसिक दु:ख- मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाले दु:खों को मानसिक दु:ख कहा जाता है। जैसे काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय-ईर्ष्या-विवाद, अभीष्ट विषय का अदर्शन-प्रिय का वियोग,अप्रिय की प्राप्ति आदि के कारण उत्पन्न होने वाले दु:ख मानसिक दु:ख है।

2)*आधि भौतिक दु:ख* :- भूतानि अधिकृत्यं जायमानं दु:खं आधिभौतिकम्। विभिन्न भूत प्राणियों द्वारा जो दु:ख प्राप्त होते हैं वे आधि भौतिक दु:ख कहलाते हैं। जैसे- मनुष्य-पशु-पक्षी-सर्प-स्थावर-पदार्थ-नदी-वृक्ष-पर्वत आदि के कारण प्राप्त होने वाले दु:ख आधि भौतिक दुख हैं।

3)*आधि दैविक दु:ख* :- देवान् अधिकृत्य जायमानं दु:ख आधि दैविकम्। देवयोनियों द्वारा प्राप्त होने वाले दु:ख आधिदैविक कहलाते हैं। जैसे- देवता-यक्ष-राक्षस-किन्नर-भूत-प्रेत-ग्रह आदि के प्रकोप जन्य दु:ख आधि दैविक कहलाते हैं। इसी प्रकार- आँधी-तूफान-अतिवृष्टि-अनावृष्टि-उल्कापात-महामारी-अतिधूप-अतिशीत आदि दु:ख भी आधि दैविक दुख कहे जाते हैं।

लौकिक उपाय :- त्रिविध-दु:खों की निवृत्ति लौकिक उपायों से निम्न रीति से हो सकती है। जैसे-आध्यात्मिक दु:ख-शारीरिक दु:ख-श्रेष्ठ चिकित्सकों के द्वारा बताई गई औषधियों के सेवन से शारीरिक दु:ख नष्ट हो सकता है।

मानसिक दु:ख-अभिलक्षित विषयों की प्राप्ति यथा मन को प्रिय लगने वाली सुन्दर स्त्री की प्राप्ति,स्वादिष्ट भोजन, पान, लेपन, वस्त्रालंकार, प्रिय की प्राप्ति आदि भोग पदार्थों की प्राप्ति से मानसिक दु:ख दूर किया जा सकता है।

आधि भौतिक दु:ख -नीति शास्त्रों के अध्ययन, व्यवहार कुशलता से आधि भौतिक दु:ख नष्ट हो सकता है। इसी प्रकार सर्प-पशु-पक्षी आदि से प्राप्त दु:खों के निवारणार्थ-बाधा रहित सुरक्षित स्थानों पर निवास करना आदि द्वारा आधि भौतिक दु:ख दूर किये जा सकते है।

आधि दैविक-देवताओं से प्राप्त दु:खों का उपशमन-मणि-मन्त्र-औषधि आदि के प्रयोग द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार दु:ख निवृत्ति हेतु लौकिक उपाय सर्वत्र सुलभ है।

लौकिक उपायों में 2 दोष-

1)*ऐकान्तिक दोष-* लौकिक उपायों में प्रथम दोष है ऐकान्तिक। अर्थात् लौकिक उपायों से दु:ख की निवृत्ति अनिवार्यत: (अवश्यमेव) होती ही है- ऐसा नहीं है। जैसे- मणिमन्त्र-औषधि आदि के प्रयोग से कभी दु:ख दूर हो जाते हैं तो कभी नहीं भी होते हैं। इस प्रकार लौकिक उपाय कभी सार्थक होते हैं तो कभी निरर्थक। यह नियम नहीं है कि लौकिक उपाय करने से दु:ख निवृत्त हो ही जायेंगे।

2)*आत्यन्तिक दोष-* इसी प्रकार लौक्कि उपायों में द्वितीय दोष है- आत्यन्तिक। लौकिक उपायों से दु:ख सदा सर्वदा के लिये निवृत्त नहीं होता है। यदि दु:ख निवृत्त हो भी जाए तो दु:ख जीवन भर के लिये निवृत्त नहीं होता है अपितु वह पुन: उत्पन्न होता देखा जाता है। जैसे-भोजन करने से क्षुधा रूप दु:ख निवृत्त हो जाता है परन्तु कालान्तर में क्षुधा रूप दु:ख पुन: उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार औषध सेवन से रोग नष्ट हो जाते हैं परन्तु पुन: उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार लौकिक उपायों से दु:खों की न ऐकान्तिक निवृत्ति होती है और न आत्यन्तिक। प्रकृत्ति +पुरुष के विवेक ज्ञान से दुख की ऐकान्तिक+आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

दृष्टवदानुश्रविक: स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त:।
तद्विपरीत:श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानत्॥ 2

दु:ख निवृत्ति हेतु किये जाने वाले वैदिक उपायों में तीन दोष हैं- अविशुद्धि+क्षय+अतिशय। अत: ये वैदिक उपाय दु:खों की निवृत्ति नहीं कर सकते हैं।

1) *अविशुद्धि-दोष* वैदिक उपाय में प्रथम दोष है- अविशुद्धि। वैदिक यज्ञों में अपवित्रता का दोष विद्यमान रहता है। यज्ञ में पशुओं-पिपीलिका-कीट आदि अनेक जीवों की हिंसा होती है तथा जब, तिलादि बीजों का भी विनाश होता है। अत: वैदिक उपाय शुद्ध नहीं कहे जा सकते हैं। यद्यपि-**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**-यह श्रुति वाक्य है तथापि यज्ञ में जीव हिंसा जन्य पाप की भी उत्पत्ति होती ही है। पाप का फल दु:ख होता है। यज्ञादि का फल स्वर्ग है तो यज्ञ में हुई हिंसा जन्य पाप का भी फल उस स्वर्ग में भोगना पडेगा। अत: अविशुद्ध होने से वैदिक उपाय ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दु:खों की निवृत्ति नहीं कर सकते हैं अत: त्याज्य है।

2)*क्षय दोष-* वैदिक उपाय में द्वितीय दोष है- क्षय। वैदिक उपाय कर्म जन्य है अत: नाशवान् है।अतएव वैदिक उपायों से प्राप्त होने वाला स्वर्ग का सुख भी कुछ समय तक ही

रहने वाला होता है। जब तक व्यक्ति का पुण्य रहता है तब तक वह स्वर्ग में रहता है तथा जब उसके पुण्यों का क्षय हो जाता है तो उसे पुन: इस पृथ्वी पर जन्म लेना पडता है अत: कहा गया है-

''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ''॥ गीता

इस प्रकार वैदिक उपाय क्षय दोष से युक्त है अत: वे दु:खों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते हैं। अत: वे अग्राह्य है।

3)*अतिशय दोष*-वैदिक उपाय में तृतीय दोष है-अतिशय। अतिशय से तात्पर्य है न्यून-अधिक फल की प्राप्ति। वैदिक उपायों से प्राप्त फल कहीं तो अधिक मिलता है तथा कहीं कम। जैसे-ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करने से व्यक्ति को मात्र 'स्वर्ग' की प्राप्ति होती है **'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्'** परन्तु वाजपेय यज्ञ करने से उसे स्वर्ग के राज्य की प्राप्ति होती है। स्वराज्य कामो वाजपेयेन यजेत्। वह देवेन्द्र बन जाता है। कम फल प्राप्त करने वाला व्यक्ति अधिक फल प्राप्त किये व्यक्ति को देख कर दु:खी होगा वह उससे ईर्ष्या करेगा। इस प्रकार स्वर्ग में पहुँचकर भी मात्सर्य-ईर्ष्या आदि भावों के विद्यमान रहने से दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति कहाँ हुई ?

इस प्रकार वैदिक उपाय भी उक्त त्रिविद दोषों से युक्त होने के कारण दु:खों की ऐकान्तिक तथा आत्यांन्तिक निवृत्ति वहीं कर सकते हैं अत: वे त्याज्य है।

घ)सांख्य सम्मत उपाय- उस वैदिक उपाय के विपरीत सांख्य दर्शन सम्मत प्रकृति+पुरुष का सम्यक् ज्ञान ही श्रेयस्कर है। सांख्य सम्मत उपाय-अविशुद्धि+क्षय+अतिशय इन तीनों दोषों से सर्वथा विपरीत है। अर्थात् यह 'विशुद्ध' 'अक्षय' तथा 'निरतिशय' है। इसी के ज्ञान से दु:खों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकती है। अत: यह उपाय सर्वथा ग्राह्य है।

सांख्य शास्त्र में प्रतिपादित प्रकृति+पुरुष का ज्ञान 'व्यक्त'-'अव्यक्त' तथा'ज्ञ' को समझने से होता है। सांख्य दर्शन में 25 तत्त्वों का विवेचन किया गया हैं। उनका अन्तर्भाव इन तीन तत्त्वों में हो जाता है।

1) व्यक्त तत्त्व- जो तत्व किसी कारण से व्यक्त (उत्पन्न) होते हैं वे 'व्यक्त' तत्त्व कहलाते हैं। 'व्यक्त' का कोई न कोई कारण होता है। महदादि 23 तत्व व्यक्त कहलाते हैं। महत्+अहंकार+मन+5ज्ञानेन्द्रियाँ +5कर्मेन्द्रियाँ +5तन्मात्राएँ+5महाभूत= 23 तत्व 'व्यक्त' हैं। क्योंकि ये तत्व अपने मूल कारण 'अव्यक्त' प्रकृत्ति से उत्पन्न होते हैं।

2)अव्यक्त तत्त्व- मूल प्रकृति को 'अव्यक्त' कहते हैं। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति है। मूल प्रकृति किसी से व्यक्त (उत्पन्न) नहीं होती है। अत: इसे 'अव्यक्त'

कहते हैं। **यह किसी का कार्य नहीं है तथा इसका कोई कारण नहीं है। यह नित्य स्वतन्त्र एवं जड तत्त्व है इसी अव्यक्त मूल प्रकृति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पति हुई हैं। पुरुष के सान्निध्य से इसके गुणों में गति उत्पन्न हो जाती है जब सृष्टि का निर्माण होता है।**

3) 'ज्ञ' तत्त्व- जानाति इति ज्ञ:। चेतन पुरुष को 'ज्ञ' कहते हैं। यह नित्य, स्वतन्त्र, तेजो रूप एवं सनातन तत्त्व है। इसी पुरुष का सान्निध्य प्राप्त कर प्रकृति गतिशील बनकर सृष्टि उत्पत्ति करती है। इसकी कृपा न हो तो प्रकृति ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति नहीं कर सकती है। **सांख्य दर्शन में 'पुरुष बहुत्व' सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है।**

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसस्तद् विपर्यस्तम् ॥23

निश्चय करने वाला तत्व बुद्धि है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य ये बुद्धि के सात्त्विक रूप है। इसके विपरीत-अधर्म,अज्ञान, राग तथा अनैश्वर्य ये बुद्धि के तामस रूप हैं।

1)धर्म- धर्म बुद्धि द्वारा'अभ्युदय'+नि:श्रेयस् प्राप्त होता है। यज्ञ, दान, परोपकार आदि करने से भौतिक उन्नति होती है तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि आदि अष्टाङ्गयोग का अवलम्बन लेने से नि:श्रेयस् = मोक्ष की प्राप्ति होती है। सत्त्व गुण का उद्रेक होने पर ही व्यक्ति धर्म बुद्धि का आश्रय लेता है।

2)ज्ञान- ज्ञान बुद्धि द्वारा प्रकृति+पुरुष को विवेक ज्ञान प्राप्त होता है । ज्ञान पूर्वक योगाभ्यास करने से कैवल्य = मोक्ष की प्राप्ति होती है। वेद-वेदाङ्ग आदि सत्शास्त्रों के अध्ययन से बाह्य जगत् का ज्ञान होता है। तथा प्रकृति+पुरुष के विवेक ज्ञान से आभ्यन्तर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

3)विराग-विराग बुद्धि द्वारा वैराग्य की प्राप्त होती है। व्यक्ति लोक एवं पर लोक में स्थिति वस्तुओं एवं भोगों के प्रति विरक्त हो जाता है। उसे वस्तुओं के प्रति अनासक्ति प्राप्त हो जाती है। (क) चार अवस्थाएँ -विराग की चार अवस्थाएँ होती हैं ।

1) यत्नमान- इन्द्रियों को कुमार्ग की तरफ जाने से रोकने का प्रयत्न करना यत्नमान वैराग्य कहलाता है। **2)व्यतिरेक-** शरीर के दोषों के विषय में विवेक करते हुए उनसे परे-रहने का प्रयत्न करना व्यतिरेक वैराग्य है।**3)एकेन्द्रिय-** परिपक्व दोष भी जब इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत न कर सके ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेना एकेन्द्रिय वैराग्य है । 4) वशीकरण-संसारिक विषयों के सामने आने पर भी उनके प्रति उत्सुकता का अभाव वशीकरण वैराग्य है।

समानं जरामरणादिज दुःखम् (53) सां. द. पृ. 91

किसी शरीर में हो, चाहे देवता हो, चाहे सामान्य मनुष्य अथवा पशु, पक्षी बुढापे और मृत्यु का दुःख सब में होता है, इस कारण सब शरीरों की अपेक्षा मुक्त होना ही उत्तम हैं।

ज्ञानान्मुक्ति : (23)

लिंग शरीर में जो मन आदि हैं, उनसे ज्ञान उत्पन्न होता है, और ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

बन्धो विपर्ययात् (24)

विपर्यय नाम मिथ्याज्ञान का है, मिथ्याज्ञान से ही सुख-दुःख रूप बन्धन होता है। ज्ञान से मुक्ति और मिथ्याज्ञान से बन्धन होता है, इस विषय को तो कह चुके, अब मुक्ति का विचार किया जाता है।

वैराग्यादभ्यासाच्च (36)

सांसारिक पदार्थों के विराग अथवा धारणादि पूर्वोक्त तीन साधनों के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ चकार का अर्थ पूर्वार्थ का समुच्चय और आरम्भित जो ''ज्ञानान्मुक्ति :'' इस विषय के प्रतिपादन की समाप्ति के वास्ते हैं। इससे आगे ''बन्धो विपर्ययात्'' इस पर विचार आरम्भ करते हैं।

विपर्यय भेदाः पंच (37)पृ.स. 96

अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेष यह पाँच योगशास्त्रों में कहे हुए बंध के हेतु विपर्यय मिथ्याज्ञान के अवान्तर भेद हैं। **अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्म बुद्धि करने का नाम अविद्या है। जिसमें आत्मा और अनात्मा की एकता मालूम होवे जैसे शरीर के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं, ऐसी बुद्धि का होना अस्मिता है-** राग और द्वेष के तो लक्षण प्रसिद्ध ही हैं। मृत्यु से डरने का नाम अभिनिवेश है। यह पाँचों बाते बद्ध जीव में होती है और इनका होना ही बन्धन का हेतु है।

योग वशिष्ठ में वर्णित विविध ब्रह्माण्ड

वशिष्ठ जी बोले-हे राम ! इस प्रकार कहती हुई उस आकाश में अवस्थित संकल्पोत्पन्न आसन पर बैठी हुई उस स्त्री से मैंने भी कल्पित आसन पर बैठे हुए, उससे पुनः पूछा ! बोलो ! आकाश हीन उस शिला के उदर में तुम्हारे समान देहधारी कैसे स्थित होंगे? किस प्रकार चलना फिरना होता होगा। उसमें रहने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। विद्याधरी ने कहा - हे मुने ! आपका यह लोक जिस प्रकार स्फुरित रूप से स्थित है, उसी प्रकार हमारा लोक भी उस शिला के उदय में अवस्थित है, वह भी संग-संसार

युक्त ही है। जैसे पाताल में नाग स्फुरणशील है, पृथ्वी पर पर्वत और लबालब जल भरे हैं तथा आकाश में वायु प्रवाहित रहती है। उसमें भी यहीं के समान समुद्र जल से परिपूर्ण है, प्रजाजन भी चलते फिरते हैं, भूतों की निरन्तर उत्पत्ति और मृत्यु होती है। वहाँ भी वायु प्रवाहित रहती, जल बहते और आकाश में नक्षत्र आदि के रूप में देवता दिखाई देते हैं। पर्वतों की स्थिति ग्रहों का उदय और पृथ्वी पर राजाओं का गमनागमन भी होता है। वहाँ भी देव, असुर और मनुष्यों की व्यवहार परम्परा कल्प पर्यन्त उसी प्रकार वर्तमान में रहती है, जिस प्रकार की समुद्र पर्यन्त नदी की धारा विद्यमान रहती है। पृथ्वी रूपी नाल के तल में कल्प तक आकाश पर्यन्त स्थित दिवस रूपी कमल भी वहाँ हैं। उनमें चंचल नभ के भोरे हैं, जो कि विकसित और उन्मीलित होते रहते हैं। इसी लोक के समान उसमें भी चन्द्रमा अपनी चाँदनी रूपी चन्दन का चारों दिशाओं में लेप करता हुआ, रात्रिकाल में रोहिणी के अन्धकार का हरण कर लेता है। उसमें भी सूर्य संज्ञक दीपक दसों दिशा रूपी वत्तियों के आस्वादन में रत और वात यंत्र द्वारा सुचालित है, जो अन्तरिक्ष और पृथ्वी रूपी घर में दीप्यमान है। आकाश में वहाँ भी नक्षत्रों का चक्र घुमता है जो चार प्रकार के भूत रूपी चावलों को चक्की के समान पीसता रहता है। वह ब्रह्मा जी के सङ्कल्प से ही निर्मित है और बात संचार का संचालन करने वालों से रुद्र हुआ ध्रुव रूपी कीलक पर आधारित है। नियति से संचालित अंतरिक्ष और पृथ्वी में किवाड के समान बन्द करने और खोलने के स्वभावभूत मेघों से घर्घर करता है। वहाँ भी द्वीप, सागर पर्वत और वायुयानों के सन्निवेश सदृश निर्मित नगरों से और पाताल दैत्य, दानव और नागों से सम्पन्न हैं। वहाँ भी नील वर्ण का पृथ्वी मडण्ल है। आचरणों से वह चलायमान त्रैलोक्य रूपी लक्ष्मी का दीप्ति मति मणियों से जटिल कुण्डल जैसा प्रतीत होता है। वहाँ भी जन्म और मरण-उन्मुख कीट, असुर, वानरादि, भूधर, जलचर, पर्वतचर, आकाशचर आदि विविध प्रकार के जीव विचरण करते हैं। वहाँ भी सुर, असुर और गन्धर्वों के सहित सम्पूर्ण प्रजा को काल, कल्प युग एवं वर्ष रूपी हाथों से वैसे ही भोग की प्राप्ति होती है, जैसे पशुपालक पशुओं को पालनादि भोगों की प्राप्ति कराता है। जिसमें सभी वस्तु नाश को प्राप्त हो जाती है ऐसे अव्याकृत आकाश में वायु द्वारा उडाये गये चतुर्दश प्रकार के जीव रूपी धूलि कण शरद्कालीन मेघों के समान विलय को प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ भी वायु, भूकम्प, वर्षा और धूप आदि सहन करने वाली दिशाएँ स्थावर जीवों के समान स्थित है। वहाँ भी सात समुद्रों के जलों का बडवानल उसी प्रकार काम करती है, जिस प्रकार चौदह भुवनों के जीवों का पान कल्प पर्यन्त काल करता रहता है। वहाँ भी पाताल में रहने योग्य जीव पाताल में प्रविष्ट होता

है। आकाश में रहने योग्य आकाश में प्रवेश करता है, दिशाओं में भ्रमण करने योग्य जीव दिशाओं में धुमने वाला होता है। सब और जीव पवन-प्रवाह के समान संचरण करता रहता है।

द्वितीय द्वादश सूर्य

वशिष्ठ जी बोले - हे राम ! ब्रह्मा जी ध्यान में लीन हो गये और इन्द्र उनके नगर और मेरू-शिखर आदि को देखता हुआ मैं दिशाओं की ओर दृष्टिपात करने लगा, तब मेरे समक्ष पश्चिम और स्पष्ट रूप में उदित दिशाओं के मुख में दाह के समान और पर्वत पर होते हुए वनदाह के सदृश मध्य-काल के सूर्य से भिन्न एक अन्य सूर्य दिखाई दिया। फिर आकाश में अग्नि लोक के समान और समुद्र में वडवानल के समान प्रकाशित एक अन्य सूर्य मुझे नैऋत्य दिशा में उगे हुए दिखाई दिये फिर मैंने दक्षिण, आग्नेय, पूर्व और ईशान कोण में उदित हुए इस प्रकार के पृथक्-पृथक् सूर्य देखें । तदनन्तर उत्तर में वायव्यकोण में और फिर पश्चिम दिशा में भी भिन्न-भिन्न सूर्यों को देखता हुआ मैं विस्मय में पड गया। यह देखता हुआ मैं व्याकुलता पूर्वक दैव की इस विविधता पर विचार कर ही रहा था कि तभी मुझे भूतल से उदित सूर्य ऐसा दिखाई दिया जैसे समुद्र में वाडवानल ! दिशाओं के मध्याकाश में जो ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ, उसमें दर्पण में प्रकट हुए प्रतिबिम्ब के समान तीन अन्य सूर्य उदित हो गये। हे राम ! उस ग्यारहवें सूर्य में उदित वे तीनों सूर्य भगवान रुद्र के देह ही है क्योंकि रुद्र के शरीर के मध्य तीन लोचन है । द्वादश सूर्यों के परिणाम वाला प्रदीप्त सूर्य-समुह रौद्र देह होकर सभी दिशाओं को शुष्क वन को दावाग्नि द्वारा जलाने समान ही दग्ध करने लगा। इसके पश्चात् जगत् के भूमण्डल को सुखाने वाला ग्रीष्म ऋतु का दिवस उत्पन्न हो गया। फिर तुरन्त अग्नि के बिना ही अग्नि का दाह और न दिखाई देने वाले उत्सुकों के मुल्मक प्रकट हुए ! उस अग्नि के अग्निदाह से मेरे सभी अवयव दावानल दाह के समान जलते हुए खिन्नता को प्राप्त हुये, अब मैं उस प्रदेश का परित्याग करके आकाश में बहुत दूर अवस्थित हो गया। फिर करतल के आघात से उछलते हुए गेंद के समान आकाश में पहुँचकर स्थित हुए मैंने उस प्रचण्ड तेज से तपते हुए द्वादश सूर्य-समूह को दसों दिशाओं में देखा तथा फिर उस तारामण्डल युक्त आकाश को व्याप्त करने वाली अग्नि के समान चपल एवं वर्तुलकार वृहद् नक्षत्र चक्र मुझे दिखाई दिया। कुलाकुला शब्द करते हुए सारे समुद्रों को तप्त कर क्वाथ जैसा बनाते हुए ज्वालोल्मुक से सब लोकों और नगरों को भरने वाले उस द्वादश सूर्य-समुह को मैंने देखा।

वशिष्ठ जी बोले हे महाबाहो ! अब आप पुन: मेरे परम वाक्यों को सुनिये ! इन वचनों को मैं निरतिशय आनन्द रूप आत्मा की प्रीति के लिए आप सबके हित की इच्छा

से कहता हूँ। अज्ञान के कारण देह में उत्पन्न हुई आत्म भावना क्रोध को उत्पन्न करती है जिसमें इन्द्रियाँ शत्रु रूप धारण कर आत्मा पर अधिकार कर लेती हैं। जो ज्ञानी पुरुष तीनों काल में आत्मा में ही स्थित रहता है, उसे आत्म दर्शन जनित सन्तोष के कारण इन्द्रियँ नष्ट नहीं कर सकती, अपितु मित्रवत् ज्ञान की अभिवृद्धि में सहायिका रहती हैं। सभी भाव विकारों से निर्लिप्त आत्मा कभी उदय और अस्त को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह तो सदा उदित ही रहता है। जड ज्ञान रहित, तुच्छ कृतघ्न और नाशवान् इस देह रूपी पत्थर का चाहे कुछ भी हो, पर आत्मा पर उसका प्रभाव नहीं पडता।

है राम ! निर्लिप्त स्वभाव होने से जैसे आकाश वायु कोष, कम्प आदि विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही जीव वृद्धावस्था, मरण आदि सुख-दुख वाले देहादि से तथा नाशवान् संसारादि से आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं होता है। इसलिए आप निर्वृत्त हो जाईये क्योंकि देह में आत्मा का भ्रम होने से ही इन विकारों की जल में उढती हुई तरगों के समान उपस्थिति है। यथार्थ में वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब वाले दर्पण के हिलाने पर सूर्य आदि नहीं हिल सकते, वैसे ही देहादि के क्षोभ से आत्मा क्षुब्ध नहीं होता। आत्मा पूर्ण साक्षात्कार होने से सत्य स्वरूप उस आत्मा में ही स्थित होकर अज्ञान से उत्पन्न हुये भ्रम का नाश हो जाता है।

जिसे आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उसको शरीर के आवागमन के द्वारा मोह रूपी असंख्य अर्जुन वृक्षों का स्फुरण होता रहता है। जो आत्मा स्वरूप का पर्यालोचन सम्यक् न कर सके, वह मूढ बुद्धि पुरूष चैतन्य शून्य रहकर तृण के समान प्रस्फुरित होते हैं अर्थात् अचेतन देह को चेतन कभी नहीं कहा जा सकता। विपत्तियों का आश्रय स्थान अज्ञान ही है। ऐसी कौनसी विपत्ति है जो अज्ञान को प्राप्त नहीं हो सकती? संसार सरणि का प्रभाव अज्ञानी के प्रसाद से ही तो प्रवाहित है। अज्ञान को घोर कष्टों और क्षणिक सुखों की भी बार-बार प्राप्ति होती रहती है, जैसे हल अथवा रथ पर्वतों को पार नहीं कर सकते वैसे ही अज्ञानी पुरूष उन सुख-दुःखों से पार नहीं जा सकते। शरीर, धन और स्त्री आदि में जो आसक्ति रखता है उस अज्ञानी पुरुष के दुखों का कभी शमन नहीं होता।

पाप रूपी नागों द्वारा लपेटे हुई अज्ञानी पुरुष की नरक रुपिणी वैसे ही प्रतिक्षा करती, जैसे कि मोरनी मेघ की प्रतिक्षा करती है। चंचल नयन भ्रमरियों वाली, स्फुरति अधरपल्लवों वाली नारी रूपिणी विष-वेल मूर्खों के लिये ही बढती जाती है।(यो.वा.पृ.390)

ब्रह्माण्ड में जीवों की स्थिति

अज्ञातस्य हृदि सद्भूमावेव पेलवपल्लवः।
विद्यते पतगच्छायो रागविद्रुमदुर्द्रुमः ॥18 यो.वा.पृ.25

अज्ञानी पुरुष के मन रूपी उर्वरा भूमण्डल में पत्ति से युक्त, पाप आदि पक्षियों की छाया से ओत प्रोत राग रूपी वृक्ष फलता-फूलता है।

जन्म बाल्यं ब्रजत्येतद्यौवनं युवता जराम्।
जरा मरणमभ्येति मूढस्यैव पुनः पुनः ।।19

अज्ञानी पुरुष ही बाल रूप में बारम्बार जन्म लेता, बारम्बार यौवनावस्था प्राप्त करता, बारम्बार बुढापे की ओर अग्रसर होता और बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता है (अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है।)

जगज्जीर्णारघटटेऽस्मिन्नृज्जवा संसृतिरूपया।
मज्जनोज्जैरज्ञो यन्त्रे कलशतां गतः ।।20

अज्ञानी पुरुष ही संसार रूपी इस पुराने रहट में सृष्टि रूपी रस्सी से बंधकर कलश के समान ही जल में डूबता उतरता रहता है।

जवत्नल्पसङ्कल्पकल्पनाकल्पपादपः।
अज्ञानाताप्रसृता यस्माज्जगत्पर्णपरम्परा: ।।21

असीम संकल्प-विकल्प रूपी कल्प वृक्ष अत्यन्त ऊँचा प्रतीत होता है क्योंकि वह असत् पदार्थों द्वारा सब कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है, उसी वृक्ष से अज्ञान के कारण संसार रूपी पत्तों का विकास होता है।

यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विलसन्ति च।
विचित्ररचनोपेता भूरिभोगिविहंगमा: ।।22

उस कल्प वृक्ष पर अद्भुत वर्ण-अकार वाले तथा भोगों में अत्यन्त आसक्त पक्षी रहते, निकलते, घूमते तथा विकल्प करते हैं।

ब्रह्माण्ड के वैश्विक स्वरूप

महर्षि वशिष्ठ जी ने कहा- अब तक मैंने परम पुरूषार्थ से लिये अहङ्कार का परित्याग करना बतलाया था। अब उसी के उत्पादन के लिए जगत् की स्थिति के विशाल मायिकत्व का प्रतिपादन करते हुए उस उपाय को प्रतिपादन करता हूँ। पूर्ण दुःख का हेतु समस्त उपद्रव के करने वाले इस संसार रूपी दुःख से छुटकारा पाने का केवल एक ही सर्वोपरि स्थिति उपाय है अपने मन को निगृहीत कर लेना अर्थात् अपने मन को पूर्ण तया नियन्त्रण में रख लेना चाहिए। ज्ञान का सर्वस्व अर्थात् सार स्वरूप का श्रवण कर लो और उसे निश्चित रूप में मन में धारण करलो वह यही है कि संसारिक भोगों की इच्छा रखना ही बन्धन है और उन सुखोपभोगों की इच्छा का एकदम त्याग कर देना ही मोक्ष है अर्थात् संसारिक बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करना है। बहुत से अन्य शास्त्रों के सन्दर्भों का उल्लेख

करने से क्या लाभ है केवल इतना ही करो कि इस जगत में जो वस्तु मन को परम प्रिय प्रतीत होती है अर्थात् जिस समय विषय के पदार्थ में मन रमण किया करता है यही सब विष के समान और अग्नि के तुल्य सन्ताप का हेतु होने से अहितकर है- ऐसा विचार कर लेना चाहिए। ये विषम विषय भोग है- इसे बारम्बार भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए। इसका मन से परित्याग कर देना चाहिए। और जो सुखावह हो उनका सेवन करना चाहिए। मन का समुदाय अर्थात् भली-भाँति विस्तृत हो जाना ही महानाश है क्योंकि सत्य स्वरूप के प्रदर्शन का हेतु होता है। और मन का नाश इसके सङ्कल्प करने की क्रियाओं का विनाश हो जाना ही आत्मा का महान् उदय है क्योंकि यही निःश्रेयस् का हेतु होता है। ज्ञानवान् पुरुष के मन का नाश होता है। और भी अज्ञानी विवेक शून्य है उनका तो बन्धन स्वरूप मन ही एक शृंखला है। ज्ञानी पुरुष के मन को वासना रहित होने से और व्यवहारों का हेतु होने के कारण यह क्या है ? यह भी निरुपण नहीं किया जा सकता है। जड होने से इस मन को आनन्द स्वरूप नहीं कहा जा सकता है। आनन्द के अनुभव का हेतु होने से इस मन को आनन्द रहित भी नहीं कह सकते हैं। आत्मा में ही एकनिष्ठ होने के कारण इसे चल नहीं कह सकते हैं। यह अचल एवं स्थिर है ऐसा भी नहीं बताया जा सकता है। क्योंकि बाहर ही यह स्फुरण किया करता है। संकल्प आदि उसके कार्यों का अभाव होने से सत् नहीं कहा जा सकता है तथा इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्त करने वाला होने के कारण असत् भी मन को नहीं बतला सकते हैं । इन समस्त पक्षों में परस्पर विरोध दिखलाई देता है। इसलिए इस पुरुष का मन अनिर्वचनीय स्वरूप वाला ही जानना चाहिए। श्री राम ने कहा- हे ब्रह्मन् ! विश्वातीत चिदात्मा में जिस प्रकार यह विश्व संस्थित होता है यह मुझे पुनः ज्ञान की विशेष वृद्धि के लिए समझा कर कहिए। जिस प्रकार सर्वत्र रहने वाले आकाश परम सूक्ष्म होने के कारण उपलक्षित नहीं हुआ करता है उसी तरह चिद्रूप पदार्थ भी निरंश होने से सर्वत्र रहता हुआ भी उपलक्षित नहीं हुआ करता है। वास्तविक रूप में सब प्रकार के संकल्पों से रहित और सब तरह की संज्ञाओं से हीन भी है तो भी यह अविनाशी वाला होता है। आकाश से सौ गुनी स्वच्छन्दनियों में निष्कल स्वरूप वाली मल अज्ञान संसार तथा उन दोनों के स्वरूप के साथ ऐक्य से सम्पन्न जो आत्मा है उस प्रकार के आत्मा को अर्थात् अज्ञान उसके कार्यों की अभिन्न आत्मा को दिखाती हुई यह चित्त प्रकाशित होती है। सागर में तरंग, बुदबुद, फेन आदि के स्वरूप वाली स्फार अनेक रूपों वाली और भाव के वश से विकारिणी यह इसी कारण से उस अर्णव से अव्यतिरेक स्वरूप से प्रकाशित होती है। त्वता और मत्ता की भावना से परिपूर्ण यह स्फार (विशाल रूप से फैली हुई)अनेक रूप में मानी हुई भी चिदार्णव (ज्ञान सागर में चिन्मात्र व्यतिरेक से ही प्रकाशित होती) जो विवेक से रहित अज्ञान पुरुष

है उनमें राग-द्वेष आदि की कलुषों से दु:खमय स्वभाव वाली और इस कारण से घोर संसृति समूह से गर्भ वाली है अर्थात् संसार में जीवन-मरण की हेतु है किन्तु जो ज्ञानी और विवेक से परिपूर्ण पुरुष है उनमें यही विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप वाली सर्वत्र अभिन्न स्वभाव वाली होती हुई प्रकाशित होती है। इस प्रकार सतत विषयों के अनुभव के वश से नित्य ही अर्कादिक के प्रकाश करने वाली सम्पूर्ण भोगने के योग्य वस्तुओं के रसज्ञान करने के हेतु रूप और भव के भोगियों की सांसारिक प्रवृत्ति के कारण स्वरूप यह चित्त है। इस उक्त प्रकार के संकल्प-वासना की रस्सी से वेष्टित होता हुआ जीव दु:खों के जाल से घिरी हुई आत्मा वाला क्रम से नीचता को प्राप्त हो जाया करता है। इससे पहिले बताये हुए प्रकार से संकल्प शक्ति से परिपूर्ण विचित्र शक्ति वाला चित् ही घने अंहकार को प्राप्त हुआ कोशाकार कृमि की ही तरह से स्वेच्छा से ही बन्धन को प्राप्त हुआ करता है। वही चित्त अपने द्वारा संकल्प किये हुए तन्मात्रा शब्दादिक के जाल के अभ्यन्तरवर्ती होता हुआ जंजीरों से बंधे हुए सिंह के समान परम विवशता को प्राप्त हुआ करता है। यह कहीं पर मन- कही बुद्धि- कहीं ज्ञात-कहीं पर क्रिया कहीं पर अहंकार इस तरह से नाना पंक्तियों में बताया हुआ यही चैतन्य मन बुद्धि आदि के स्वरूप से अनेक रूपता को प्राप्त हो जाता है। कहीं पर यही प्रकृति बताया गया है कहीं, पर माया नाम से परिकल्पित किया गया है- कहीं पर मल नाम से कहा गया है और पर कार्य इस नाम से यह संस्थित है। कहीं पर बन्ध कहा गया है और कहीं पर स्फूट रूप से चित्त होता है। कहीं पर इसी को अविद्या और कहीं इच्छा इस नाम से संस्थित किया गया है। बट का बीज बट के वृक्ष की भांति अर्थात् बहुत छोटे से बट के बीज में पूर्ण विशाल बट वृक्ष अन्दर विद्यमान रहा करता है उसी तरह से आशाओं के यश का बनाने वाला फलों से हीन अर्थात् नश्वर फल वाले इस सम्पूर्ण संसार को अन्दर धारण करने वाला है। चिन्ताओं की अग्नि की ज्वाला से दग्ध-कोप रूपी अजगर के द्वारा चर्वित-सागर की तरङ्गों के समान कामों से आहत जिसने अपने स्वरूप आत्मा रूपी पितामह को भुला दिया है। इस प्रकार के मस्त हाथी के समान स्वयं को इस संसार रूपी कीच से समुद्धृत करो। हे राम ! जलते हुए जरा-मरण के विषादों से मूर्च्छित-पाप पुण्यों के प्रसार से परहित आकृति वाले अपने मन में जिस पुरुष को उद्धार करने की इच्छा से पूर्ण दया उत्पन्न नहीं होती है वह मनुष्य के आकार में रहने वाला साक्षात् राक्षस ही हुआ करता है। महर्षि वशिष्ठ जी ने कहा- इस प्रकार से निर्झर के प्रभाव से जल के समुदायों के समान माया के सहित ब्रह्म से संसार की वासनाओं से सहित कुत्सित आकार वाले जीव स्वरूप वाले चित्त के विलास लाखों और करोडों की संख्या में विद्यमान है।

असंख्याता: पुराजता जायन्ते चाऽपि वाऽद्य भो।
उत्पतिष्यान्ति चैवाऽम्बुकणौघ इव निर्झरात् ।।64 यो.वा.पृ.518
केचित् प्रथम जन्मात् केचिज्जन्मशताधिका:।
केचिद्वाजन्म संख्याका: केचिद् द्वित्रिभवान्तरा: ।।65
केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः।
केचिदर्केन्द्रवरूणास्त्रय क्षाधोक्षपद्मजा: ।।66
केचिद् ब्राह्मण भूपाला वैश्यशूद्रगणा: स्थिता:।
केचिन्तृणौषधी केचित् फल मूलपंतगाका: ।।67
केचित् तदम्बजम्बीरशालतालतमालका:।
केचिन्महेन्द्रमलया सह्यमन्दरमेव च ।।68
केचित्क्षारधिक्षीरघृत्क्षु जलराशय:।
केचिद्विशाला: कंकुभः केचिन्नद्यो महारया : ।।69
विहरन्ति जगत् केचिन्निपतत्युत्पतन्ति च ।
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हता: ।।70
भुक्त्वा जन्म सहस्त्राणि भूय: संसार संकटे।
पतन्ति केचित्बुधा: संप्राप्याऽपि विवेकिताम् ।।71

अतीत संख्या वाले अर्थात् असंख्य पहिले समुत्पन्न हुई है और इस समय में भी सभी ओर से उत्पन्न होते हैं तथा भविष्य में भी निर्झर जल के समुदायों के तुल्य उत्पन्न होगें। और वे सब जन्मकाल के आगे-पीछें होने से एवं पुण्य पापों के तारतम्य से ज्ञान की विचित्रता के प्रथम-चरम भाव से तथा सुर नर और तिर्यग् योनियों के भाव से तथा जड सृष्टि के भाव से बहुधा भेद वाले हैं। इन जीवों में कुछ तो प्रथम ही जन्म धारण करने वाले हैं- कुछ ऐसे हैं जिनके सैकडों ही जन्म व्यतीत हो चुके हैं। कुछ असंख्य जन्म वाले हैं- कुछ भिन्न-भिन्न गन्धर्व, विद्याधर और महोरग के जीवन वाले हैं। कुछ सूर्य-चन्द्र-वरुण-यक्ष-अघोक्षज और पद्म रूप धारी है। कुछ ब्राह्मण, भूपाल (क्षत्रिय) वैश्य और शूद्र चारों वर्णो में स्थित है। कुछ पवित्र औषधियाँ-पत्र-फल-मूल और पतंग के रूपों में जीव रहते हैं। कुछ कदम्ब, जम्बीर, शार, ताल और तमाल आदि वृक्षों के स्वरूप में, कुछ महेन्द्र मलय, सह्य, मन्दराचल और सुमेरू पर्वतों के स्वरूप में जीवित हैं। कुछ क्षार समुद्र, दधि, क्षीर, घृत और इक्षु आदि जल राशियों अर्थात् सागरों के रूप में जीवन धारण करने वाले हैं। कुछ महान् वेग वाली महानदियों के रूप में स्थित हैं। इनमें कुछ तो ऊँचे स्थलों में बिहार करते हैं अर्थात् स्वर्गादि लोकों में रहते हैं। कुछ निपतित होते हैं और कुछ ऊपर की ओर

जाते हैं। ये सभी मुत्यु के साथ से एक गेंद के समान ही निरन्तर समाहत होते रहते हैं। सहस्रों जन्मों के भोगों को भोग कर पुन: इस संसार के महान् घोर संकट में गिरा करते हैं। ऐसे कुछ अबुध (अज्ञानी) जीव हैं जो अविवेक को प्राप्त कर ऐसा कष्ट पाया करते हैं।

असंख्य परिवर्तन :- महर्षि श्री वशिष्ठ जी ने कहा-यह सृष्टियाँ किसी समय में तो शिव के द्वारा रचित हुआ करती हैं- किसी समय पद्मज ब्रह्मा के द्वारा सृजित हुआ करती हैं- किसी समय में विष्णु द्वारा रचित हुआ करती है तथा किसी समय मुनिगण के द्वारा इसका सृजन हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति का कोई एक ही क्रम नहीं है। इसके प्रादुर्भाव का स्थान भी नियत नहीं है। किसी समय ब्रह्मा कि उत्पत्ति कमल से होती है किसी समय में इनका उद्भव जल से ही हुआ करता है- किसी समय में ब्रह्मा एक अण्डे से उत्पन्न हुआ करते हैं और किसी समय ब्रह्मा अम्बर से समुत्पन्न हुआ करते हैं। इस पृथ्वी का स्वरूप भी नियत नहीं है। किसी समय में यह भूमि नीरन्धू तरु संकटों वाली सृष्टि में हुई थी। किसी समय में यह नर निरन्धू की और किसी में यह पर्वतों से समावृत थी। किसी समय मृत्तिका से पूरिपूर्ण भूमि हुई थी और किसी समय में यह भूमि पाषाणों से परिपूर्ण हुई। किसी समय में सुवर्ण से भरी पूरी थी तो किसी समय में मांस से परिपूर्ण थी। आकाश आदि का भी पौर्वापर्य (आगे पीछे-सृजन) अनियत है। किसी समय में तो सर्वप्रथम व्योम का सृजन होता है और यह प्रतिष्ठा को प्राप्त किया करता है। किसी समय पहले पृथ्वी उत्पन्न होती है तो किसी समय जल की सृष्टि सर्व प्रथम हुआ करती हैं तो किसी समय प्रथम तेज की सृष्टि होती है तो कभी वायु का सृजन सर्व प्रथम हुआ करता है। केवल निदर्शन के ही लिये मैंने एक प्रजापति की उत्पत्ति कही है किन्तु यह नियम कहीं-कहीं नहीं होता है।

अनेक चतुर्युग परिवर्तन

पुन: कृतं पुनस्त्रेतापुन: स द्वापर: कलि: ।

पुन: पुनतारारिसु सर्वेतत्रास्ति न पुनरस्तुयत् ।। ।।120।। पृ.स. 530 (योग वाशिष्ठ)

चारों युग सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग पुन:पुन: आवर्तित हुआ करते हैं। इसी प्रकार से यह सभी बारम्बार आवृति किया करते हैं। जो फिर होती है और कालान्तर में भी उसी प्रकार की अवस्थित होती है। उस प्रकार की कूटस्थ कोई भी नित्य वस्तु नहीं है।

वैदिक शास्त्र में वर्णित प्रलय

अन्य जगत् के ब्रह्मा जी कहने लगे-हे मुने ! अब चिदाकाश रूपी मैं सर्वोच्च चिन्मयाकाश रूपी कैवल्य की स्थिति के लिए प्रयत्नशील हूँ इसीलिए मेरी वासना से निर्मित्त इस जगत् में चारों प्रकार के प्रलय उपस्थित हो गये हैं। इस महाप्रलय की प्राप्ति पर इसका मूलच्छेद पूर्वक पतन करने का सत्य मैंने अपनी सत्ता से आरम्भ कर दिया है। इसलिए यह वैराग्यमयी

हो गई है। मैं जब चित्ताकाश रूपता का परित्याग कर चिदाकाश रूपता को प्राप्त हो रहा हूँ तब यह महाप्रलय एवं वासना का विनाश ही सत्य है। इसलिए यह वैराग्य से युक्त होकर मेरे मार्ग पर भाग रही है। उदारमति वाला ऐसा कौन-सा पापी है, जो अपने उत्पन्न करने वाले के पीछे न भागे ! आज ही यहाँ कलियुग की समाप्ति एवं चारों युग का अन्त उपस्थित हो रहा है तथा मनु, इन्द्र, देवता आदि प्रजाओं का विनाशकाल आ गया है। मेरे कल्प का विनाश भी आज ही है, महाकल्प, वासना और देहाकाश का भी आज ही विनाश होना है। हे ब्रह्मन् ! इसलिए यह अपने विद्याधरी रूप की वासना के विनाश के होने के लिए तत्पर है। कही सरोवर के सूखने पर गन्धलेखा स्थित रह सकती है।(**पृ.सं. 370 योग वाशिष्ठ)**

जैसे जड समुद्रलेखा ही चञ्चल तरगों का कारण है, वैसे ही वासना अपने विनाश ही आत्मदर्शन वाली इच्छा का कारण है। अभिमान रूपी देह वाली इस वासना को स्वभाव से ही स्वयं आत्मावलोकन की इच्छा उत्पन्न होती है। आत्मतत्त्व को देखने के लिए किये गये धारणाभ्याय के योग का फल जो सिद्धि है, उसी की परीक्षा के उद्देश्य से यह आकाश में आकर आपके उस अनर्गल प्रजा वाले स्वर्ग को देखने लगी। आकाशचारिणी इस विद्याधरी ने अपने जगत् की आधारभूत पर्वत-शिखर स्थित शिला को भी उसी सिद्धि के बल से देखा, जो कि हमारी दृष्टि में तो आकाश रूप ही है। हमारे अनेक जगद्रूपी पदार्थों के भीतर-यहाँ इस जगत् में उक्त पाषाण शिला का रूप है-इस प्रकार के अन्यान्य जगत् भी स्थित है। परन्तु हम अपनी भेद-दृष्टि में स्थित होने के कारण उसको नहीं देख पाते। यदि समाधि ज्ञान से एक रूप होकर देखें तो ही देखने में समर्थ है। घट,पट, वट, कुडम्, आकाश, पर्वत, जल और तेज आदि में सर्वत्र ही इस शिला के समान ही असंख्य जगत् अविस्थित है।

जगत् नाम की जो यह व्यर्थ भ्रान्ति है, वह स्वप्न नगर के ही समान है। क्योंकि यह जगत् रूपी माया मिथ्या है, तो इस मिथ्या भ्रम का अस्तित्व ही कहाँ से होगा? यदि उसका अस्तित्व है तो चिति रूप से ही है अन्य रूप से नहीं। परिज्ञात हुए यह भ्रान्ति, जिनकी दृष्टि में चिदाकाश रूप हो जाती है, उसके लिए तो उस भ्रान्ति का गमन ही समझो! इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति है वे भ्रमभाजन ही है। धारणाओं के अभ्यास से वैराग्य के वश होकर आपको संकल्प जनित समाधि स्थान जानती हुई यहाँ पहुँच गई और अदृश्य होते हुए भी इसने आपको देख लिया। इस प्रकार माया के समान अनुलंघनीय चित्त शक्ति चारों और फैली हुई है वैसे ही आदि-अन्तरहित ब्राह्मी शक्ति सर्वत्र फैली हुई है। **यहाँ कभी कोई कार्य न उत्पन्न होते हैं न नष्ट होते हैं।** केवल चिति ही द्रव्य काल, क्रिया, रूप से प्रकाशित होती हुई तपती है। यह देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि आदि सब चिति

रूपी शिला की प्रति मूर्तियाँ ही हैं। इसलिए उनका उदय-अस्त कुछ भी नहीं है। शिला के रूप में यह चिति ही विद्यमान है। वायु स्पन्दन केसमान सभी जगत् इस चिति के ही अंग है।

विज्ञानघन आत्मा को चिति ही जगत् मानती है। वह स्वयं आदि और अन्त से रहित होकर भी चित्स्वभाव के परिज्ञान के बिना देश वस्तु से उत्पन्न परिच्छिन्न भावना वाली चिति ही हो जाती है। यह चिति रूपी शिला यथार्थ में तो आदि अन्त रहित होकर भ्रांतिवश आदि अन्त वाली हो जाती है तथा निराकार होकर भी साकार जगत् रूपी अवयव वाली बन जाती है। जैसे स्वप्न में चिति अपने स्वच्छरूप को नगर रूप समझती है, वैसे ही जागृति में भी चिति स्वच्छ रूप को नगर रूप समझती है, वैसे ही जागृति में भी चिति पत्थर को अपना जगत् रूप अंग मानती है। यहाँ न नदियाँ प्रभावित है न चक्र घूमता है, न अर्थों का फल मिलता है, अपितु अपने में केवल चिदाकाश ही आभासित है। जैसे जल में स्थित जलत्व में कोई भेद नहीं होता वैसे ही संविदाकाल में आभासित महाकल्प और कल्प की संचित में भी अन्तर नहीं होता है। जैसे महाकाश में अन्यान्य घटादि आकाश उस महाकाश की सत्ता से ही अवस्थित है, वैसे ही ये जगत् स्वत: शून्य रूप होकर भी चिति की सत्ता में विद्यमान है, अपनी सत्ता से नहीं। हे मुने ! **अब आप अपने जगत् में जाइये और वहाँ एकांत समाधि में लीन होकर विक्षेप-हीन सुख का अनुभव करिये।** मेरे यह कल्पित बुद्धि आदि रूपी पदार्थ भी प्रलय रूप में अव्यक्त की और गमन करें । अब हम भी उस वृहद् ब्रह्मपद की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

संकल्प नाश से प्रलय :-वशिष्ठ जी ने कहा- है राम ! यह कहकर वे भगवान् ब्रह्माजी उन ब्रह्मलोक निवासियों से सहित पद्मासन बांधकर अनन्त समाधि में स्थित हो गए। ओंकार की आधी मात्रा में विद्यमान नाद, बिन्दु आदि भोगों में चित्त को लीन करने से उनकी सब वासनाओं का क्षय हो गया और तब वे चित्र लिखित मूर्ति के समान अचञ्चल हो गये। उन ब्रह्माजी का अनुसरण करती हुए वह सती विद्याधरी भी ध्यान में तन्मय हो गई तब वह समस्त वासनाओं के नि: शेष होने पर शान्त और आकाश रुपिणी हो गई। जब संकल्प-शून्यता को प्राप्त हुऐ ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्म-भाव को पाने लगे, तब मैं भी समाधि से सर्वव्यापी चिदाकाशरूप होकर ब्रह्माजी के समान ही सब देखने लगा। जैसे-जैसे ब्रह्माजी का संकल्प नीरसता को प्राप्त होता गया, वैसे-वैसे ही पर्वत द्वीप और समुद्रादि से युक्त पृथ्वी की उर्वरा शक्ति विनाशोन्मुख होने लगी। पृथ्वी विराटात्म रूप की एक देशता धारण करती है, उनके संवेदन का उपसंहार होने पर वह जड और रसहीन होकर उस प्रकार जर्जरता को प्राप्त हुई, जिस प्रकार कि मार्गशीर्ष समाप्त होने पर लता जरा से अविधुरता को प्राप्त होती है।

जिस प्रकार हमारे अंग संवेदन के उपसंहार में रसहीन हो जाते हैं वैसे ही ब्रह्माजी की भूमि संवेदन के उपसंहार में रसहीनता को प्राप्त हो गई। प्रथम तो वह पृथिवी एक साथ महा उत्पातों के भार से आवृत हो गई फिर उसमें दुष्कृत्य रूपी अंगारे से जलते हुए नरकों की ओर प्रवृत्ति करने वाले मनुष्य हुए। तब दुर्भिक्ष रूपी अकाण्ड ताण्डव राजाओं और दस्युओं के प्रकोप से उत्पन्न दैत्य और दारिद्र से सहित सौभाग्य से हीन हुए इस पृथ्वी से सभी स्त्रियाँ चरित्र हीन हुई और मनुष्य मर्यादा हीन हो गया। वह पांसु के समान मन्द नीहार, धूल धूसरित सूर्य तथा द्वन्द्वों का निराकरण न कर सकने वाले मूर्ख, दुर्व्यसनी और व्याधि से व्याकुल पुरुषों से आक्रान्त होती गई। उसमें अग्निदाह, जल प्रवाह और युद्धों से अनेक मण्डल नष्ट हो गये और अति वृष्टि, अनावृष्टि के कष्टों से व्यग्र कायरों से वह परिपूर्ण हो गई। अशङ्कित भीषण उपद्रवों से बडे-बडे पर्वतों एवं नगरों का पतन होने लगा, बालकों, क्षत्रियों, मुनियों, आर्यों तथा गुणियों के नाश से लोग रोने लगे।

सम्पूर्ण पृथिवी अधर्म रूपी शूल से आक्रान्त मनुष्यों से व्याप्त और सैकडों कुशास्त्रों से पीडित हो गई। उस समय दुर्जन जनों से ऐश्वर्य शाली और सज्जन विपत्तियों से आक्रान्त हो गए। तब अनार्य पृथ्वी पालक राजा हो गए, पण्डितों को वे सताने लगे, सर्वत्र लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोग रूपी धूल उडने लगी। आकाश मण्डल के आवर्तों की गोलाई के समान वर्तुलाकार उत्पन्न करने वाले जो धूम केतु गिरते थे, वे सुवर्ण, रत्न, मुक्ता और सिन्दूरियों सर्पों के समान वर्ण वाले थे। पहले मैंने जिन ब्रह्माजी के विषय में कहा है, उन्होंने जब अपने विधारण संकल्प का उपसंहार किया तब उपेक्षित असुरादि और पृथिवी आदि दोनों प्रकार के महाभूत क्षोभ को प्राप्त हो गए। चन्द्रमा, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि और यम यह सब अत्यन्त कोलाहल से व्याकुल हो गए , उनके अधिकार प्रवाह के ब्रह्मलोक में लीन होने से यह सब अपने-अपने आसन से गिरने लगे। भूकम्प होने से वृक्षों की पंक्तियाँ कट-कट शब्द करती हुई गिरने लगी। पर्वतों को भी झूलों के समान हिलने की अनुभूति होने लगी। भूकम्प से कैलास, मेरु और मन्दर की कन्दरायें भी चलायमान हो गई और कल्पवृक्ष से रक्त रूप पुष्प गुच्छ बरसने लगे। लोकान्तर पर्वत, पुर, समुद्र, वन सम्पूर्ण जगत् उत्पातमयी कल्पवायु के प्रवाह से परस्पर टकराते मनुष्य के कोलाहल से वैसे ही विकीर्ण क्षीण हो गया, जैसे अग्नि से जल कर त्रिपुरा नगर गिर गया था।

योग दर्शन में वर्णित परम स्वतन्त्रता के उपाय

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।।49।।

चित्त और पुरुष के भेद जानने वाले को सारे भावों का मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है। सर्वभाव-अधिष्ठातृत्वम्-गुणों का कर्तृत्व-अभिमान शिथिल होने पर

उनके सब परिणामों और भावों को पुरुष के प्रति स्वामी के समान बर्तता है।

वे गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमान काल में धर्मी भाव से अवस्थित रहते हैं, उनका यथार्थ विवेक पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञातृत्त्व कहलाता है। गुणों का सबसे प्रथम परिणाम महतत्त्व अर्थात् समष्टि चित्त है। इसी में सृष्टि के सब नियम बीज रूप से रहते हैं। वे पुरुषों के व्यष्टि चित्त ग्रहीतरूप हैं, जिनके द्वारा गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके स्वरूप अवस्थित होते हैं। पुरुष चित्त का स्वामी, ज्ञानस्वरूप है पर अविवेक के कारण चित्त में आत्मा का अध्यारोप हो जाता है। यही सर्वक्लेशों की मूल अविद्या है। सात्विक चित्त के प्रकाश में संयम करने से पुरुष और चित्त में भेद करने वाला विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसको विवेक-ख्याति कहते हैं। इस विवेक-ख्याति के हो जाने पर पुरुष अपने को चित्त से पृथक् देखता हुआ गुणों के परिणामों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उन पर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अधिष्ठाता होकर नियम में रखता है। श्रुति भी ऐसा ही बतलाती है **'आत्मनो वा अरे दर्शनेनेदं सर्वविदतम्'** अर्थात् पुरुष दर्शन होने पर सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है। इस सिद्धि का नाम विशोका है; क्योंकि इसकी प्राप्ति से योगी क्लशों के बन्धनों के क्षीण होने से सबका अधिष्ठिाता और सर्वज्ञ होकर शोक से रहित विचरता है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि वास्तव में 'सर्वभावधिष्ठातृत्व' पाँचों क्लेशों को दग्धबीज करके उन पर विजय प्राप्त कर लेना है, और'सर्वज्ञातृत्व' सह साक्षात् कर लेना है कि सारा व्यवहार ग्रहण और ग्राह्य रूप तीनों गुणों में चल रहा है अर्थात् सारा ही दृश्य त्रिगुणात्मक है, आत्मा इनका दृष्टा इन से सर्वथा भिन्न, असङ्ग, निर्लेप, अजर, अमर, अप्रसवधर्मी, निष्क्रिय, ज्ञान स्वरूप कूटस्थ-नित्य है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥50॥

विवेक-ख्याति से भी वैराग्य होने पर दोषों के बीज-क्षय होने पर कैवल्य होता है।

यह विवेक-ख्याति जिससे योगी सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त करता और जिससे अपने शुद्ध, अपरिणामी और ज्ञान स्वरूप को त्रिगुणात्मक, परिणामी और जड चित्त से अलग करके देखता है, चित्त ही का एक धर्म है, उसी का एक परिणाम है, अपना वास्तविक स्वरूप नहीं। इसलिए अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने के लिये इस विवेक-ख्याति से भी विरक्त हो जाता है। इसी को पर वैराग्य कहते हैं। जब पर वैराग्य पूर्ण तथा परिपक्व हो जाता है, तब चित्त को बनानेवाले गुण पुरुष को भोग-अपवर्ग दिलाने के कार्य को पूर्ण करके अपने कारण में लीन हो जाते हैं । उनके साथ ही अविद्या आदि क्लेशों के संस्कार भी विवेक ख्यातिद्वारा दग्धबीज के सदृश उत्पत्ति के अयोग्य होकर लीन हो जाते हैं, तब आत्मा के सामने कोई दृश्य नहीं रहता। यह पुरुष का गुणों से

अत्यन्त पृथक् होकर अपने केवली स्वरूप में अवस्थित होना कैवल्य है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्त्वादेषामभावे तदभावः ॥11॥

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से वासनाओं के संग्रहीत होने से इनके हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के अभाव से इन वासनाओं का अभाव होता है।

1) वासनाओं का हेतु-अविद्या आदि क्लेश, शुक्ल, कृष्ण तथा दोनों मिश्रित सकाम कर्म हैं। 2) वासनाओं का फल-जाती, आयु और भोग हैं। 3) वासनाओं का आश्रय-अधिकार सहित चित्त है। 4) वासनाओं का आलम्बन-इन्द्रियों के विषय हैं।

यद्यपि वासनाएँ अनादि हैं और अनन्त हैं तथापि वे सब इन्हीं हेतु फल-आश्रय और आलम्बन के सहारे रहती हैं। इनकी स्थिति में वासनाओं की उत्पत्ति होती हैं और अभाव में नाश। विवेक-ख्याति द्वारा तत्त्वज्ञान से अविद्या आदि क्लेशों का उनके फल आश्रय और आलम्बन सहित अभाव हो जाता है, उनके नाश होने पर वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः ॥30॥

उस धर्म मेघ समाधि से क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है। उस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति पर अविद्या आदि पाँचों क्लेशों और शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रत तीनों प्रकार के कर्म (सकाम कर्म)और उनकी वासनाएँ मूल सहित नाश हो जाती हैं। इस प्रकार क्लेश और कर्मों के अभाव में योगी जीवनमुक्त होकर विचरता है और शरीर त्याग के पश्चात् विदेह मुक्त पद को प्राप्त होता है अर्थात् पुनः जन्म धारण नहीं करता जैसा की भाष्यकार लिखते हैं, **कस्मात् यस्माद्विपर्ययो भवस्यकारणम् न हि क्षीण क्लेश विपर्ययः कश्चित् केन चित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति,** क्योंकि विपर्ययज्ञान अर्थात् अविद्या ही संसार का कारण है। इसलिए जिसके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये हैं ऐसा पुरुष कोई भी किसी कारण से भी, कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता। महर्षि गौतम ने भी न्याय दर्शन में ऐसा ही कहा है। **'वीतरागजन्मादर्शनात्; (3/1/25) जिसके राग वीत गये हैं ऐसे पुरुष का संसार में जन्म न देखे जाने से।**

ब्रह्माण्ड के मूल तत्त्व

काल रूप भगवान् अनादि हैं, इनका अन्त नहीं है , इसलिए संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी कभी नहीं रुकते (वे प्रवाह रूप से निरन्तर होते रहते) हैं।

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पाँचों भूत उत्तरोत्तर (क्रमशः) शब्द - स्पर्श आदि पाँच गुणों से युक्त हैं। ये पाँचों भूत शान्त, घोर और मूढ हैं (अर्थात् सुख, दुःख और मोहयुक्त हैं) अतः ये विशेष कहलाते हैं।

इन भूतों में पृथक्-पृथक् नाना शक्तियाँ हैं। अतः वे परस्पर पूर्णतया मिले बिना संसार की रचना नहीं कर सके।

सृष्टि की रचना में भगवान् तो केवल निमित्त मात्र ही हैं क्योंकि उसकी प्रधान कारण तो सृष्टि पदार्थों की शक्तियाँ ही हैं। वस्तुओं की रचना में निमित्त मात्र को छोडकर और किसी बात की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि वस्तु तो अपनी ही (परिणाम) शक्ति से वस्तुता (स्थूलरूपता) को प्राप्त हो जाती है।

विभिन्न सृष्टि :- सर्ग के आदि में ब्रह्माजी के पूर्ववत् सृष्टि का चिन्तन करने पर पहले अबुद्धि पूर्वक (अर्थात्) पहले-पहले असावधानी हो जाने से) तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ। उस महात्मा से प्रथम तम (अज्ञान), मोह, महा-मोह (भोगेच्छा) तामिस्त्र (क्रोध) और अन्धता-मिस्र (अभिनिवेश)नामक पञ्चपर्वा (पाँचप्रकर की) अविद्या उत्पन्न हुई। उसके ध्यान करने पर ज्ञान शून्य बाहर-भीतर से तमोमय और जड नगादि (वृक्ष-गुल्म-लता-वीरत्-तृण) रूप पाँच प्रकार का सर्ग हुआ। ब्रह्मा जी द्वारा सर्व प्रथम स्थापित होने के कारण नगादि को मुख्य कहा गया है, इसलिये यह सर्ग भी मुख्य सर्ग कहलाता है।

उस सृष्टि को पुरुषार्थ की असाधिका देखकर उन्होंने फिर अन्य सर्ग के लिये ध्यान किया तो तिर्यक्-स्रोत-सृष्टि उत्पन्न हुई। यह सर्ग (वायु के समान) तिरछा चलने वाला है इसलिए तिर्यक्-स्रोत कहलाता है। ये पशु, पक्षी आदि नाम से प्रसिद्ध हैं- और प्रायः तमोमय (अज्ञानी), विवेक रहित अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले और विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान मानने वाले होते हैं। ये सब अहंकारी, अभिमानी, अट्ठाईस वधों से युक्त अन्तः प्रकाशक और परस्पर एक दूसरे की प्रवृत्ति को न जानने वाले होते हैं।

उस सर्ग को भी पुरुषार्थ का असाधक समझ पुनः चिन्तन करने पर एक और सर्ग हुआ। वह ऊर्ध्व-स्रोतनामक तीसरा सात्त्विक सर्ग ऊपर के लोकों में रहने लगा। वे ऊर्ध्व-स्रोत सृष्टि में उत्पन्न हुए प्राणी विषय-सुख के प्रेमी, बाह्य और आन्तरिक दृष्टि सम्पन्न, तथा बाह्य और आन्तरिक ज्ञानयुक्त थे। यह तीसरा देव सर्ग कहलाता है। इस सर्ग के प्रादुर्भूत होने से सन्तुष्ट-चित्त ब्रह्माजी को अति प्रसन्नता हुई। फिर इन मुख्य सर्ग आदि तीनों प्रकार की सृष्टियों में उत्पन्न हुए प्राणियों को पुरुषार्थ का असाधक जान उन्होंने एक उत्तम साधक सर्ग के लिए चिन्तन किया। उन सत्यसंकल्प ब्रह्माजी के इस प्रकार चिन्तन करने पर अव्यक्त (प्रकृति) से पुरुषार्थ का साधक अर्वाक्स्रोत्र नामक सर्ग प्रकट हुआ। इस सर्ग के प्राणी नीचे (पृथिवी) पर रहते हैं इसलिये वे ' अर्वाक्स्रोत्र' कहलाते हैं। उनमें सत्त्व, रज और तम तीनों की ही अधिकता होती है। इसलिये वे दुःख बहुल अत्यन्न क्रियाशील, एवं बाह्य आभ्यन्तर ज्ञान से युक्त और साधक हैं। इस सर्ग के प्राणी मनुष्य हैं।

इस प्रकार अब तक तुमसे छः सर्ग कहे। उनमें महतत्त्व को ब्रह्माका पहला सर्ग जानना चाहिये। दूसरा सर्ग तन्मात्राओं का है जिसे भूतसर्ग़ भी कहते हैं और तीसरा वेकारिक सर्ग है जो ऐन्द्रियिक (इन्द्रिय-सम्बन्धी) कहलाता है। इस प्रकार बुद्धि पूर्वक उत्पन्न हुआ यह प्राकृत सर्ग हुआ। चौथा मूख्य सर्ग है। पर्वत-वृक्षादि स्थावर ही मूख्य सर्ग के अन्तर्गत हैं। पाँचवाँ जो तिर्यक् स्रोत बतलाया उसे तिर्यक् (कीट पतंगादि) योनि भी कहते हैं। फिर छठा सर्ग ऊर्ध्व-स्रोताओं का जो 'देवसर्ग' कहलाता है। उसके पश्चात् सातवाँ सर्ग अर्वाक् स्रोताओं का है वह मनुष्य सर्ग है। आठवाँ अनुग्रह-सर्ग है। वह सात्त्विक और तामसिक है। ये पाँच वैकृत (विहारी) सर्ग हैं और पहले तीन 'प्राकृत सर्ग, कहलाते हैं। नवाँ कोमार-सर्ग है जो प्राकृत और वैकृत भी है। इस प्रकार सृष्टि रचना में प्रवृत्त हुए जगदीश्वर प्रजापति के प्राकृत और वैकृत नामक ये जगत् के मूलभूत नौ सर्ग तुम्हें सुनाये।

सम्पूर्ण प्रजा अपने पूर्व-शुभाशभकर्मों से युक्त है; अतः प्रलय काल में सब का लय होने पर भी वह उनके संस्कारों से मुक्त नहीं होती। ब्रह्माजी के सृष्टि-कर्म से प्रवृत्त होने पर देवताओं से लेकर स्थावर पर्यन्त चार प्रकार की सृष्टि हुई। वह केवल मनोमयी थी। फिर देवता, असुर पितृगण और मनुष्य इन चारों की तथा जल की सृष्टि करने की इच्छा से उन्होंने अपने शरीर का उपयोग किया। सृष्टि- रचना की कामना से प्रजापति के युक्त चित्त होने पर तमोगुण की वृद्धि हुई। अतः सबसे पहले उनकी जंघा से असुर उत्पन्न हुए। तब, उन्होंने उस तमोमय शरीर को छोड दिया। छोडा हुआ तमोमय शरीर ही रात्रि हुआ। फिर अन्य देह में स्थित उनके होने पर सृष्टि की कामना वाले उन प्रजापति को अति प्रसन्नता हुई और मुख से सत्त्वप्रधान देवगण उत्पन्न हुए। तदनन्तर उस शरीर को भी उन्होंने त्याग दिया। वह त्यागा हुआ शरीर ही सत्य स्वरूप दिन हुआ। इसीलिये रात्रि में असुर बलवान होते हैं और दिन में देवगणों का बल विशेष होता है। फिर उन्होंने आंशिक सत्त्वमय अन्य शरीर ग्रहण किया और अपने को पितृवत मानते हुए (अपने पार्श्व-भाग से) पितृगण की रचना की। पितृगण की रचना कर उन्होंने उस शरीर को भी छोड दिया। वह त्याग हुआ शरीर ही दिन और रात्रि के बीच में स्थित सन्ध्या हुई। तत्पश्चात् उन्होंने आंशिक रजोमय अन्य शरीर धारण किया; उससे रज प्रधान मनुष्य उत्पन्न हुए। फिर शीघ्र ही प्रजापति ने उस शरीर को भी त्यागा दिया, वही ज्योत्स्न हुआ, जिसे पूर्व-सन्ध्या अर्थात् प्रातःकाल कहते हैं। इसीलिये, प्रातःकाल होने पर मनुष्य और सांयकाल के समय पितर बलवान होते हैं। इस प्रकार रात्रि, दिन, प्रातःकाल और सांयकाल ये चारों प्रभु ब्रह्माजी के ही शरीर हैं और तीनों गुणों के आश्रय हैं।

फिर ब्रह्माजी ने एक और रजोमात्रात्मक शरीर धारण किया। उसके द्वारा ब्रह्मा जी से क्षुधा उत्पन्न हुई और क्षुधा से काम की उत्पत्ति हुई। तब भगवान् प्रजापति ने अन्धकार में स्थित होकर क्षुधा ग्रस्त सृष्टि की रचना की। उसमें बडे कुरूप और दाढी-मुँछ वाले व्यक्ति उत्पन्न हुए। वे स्वयं ब्रह्माजी की ओर ही (उन्हें भक्षण करने के लिए) दौडे। उनमें से जिन्होंने यह कहा कि'ऐसा मत करो, इन की रक्षा करो' वे **'राक्षस'** कहलाये और जिन्होंने ऐसा कहा कि 'हम खायेंगे' वे खाने कि वासना वाले होने से **'यक्ष'** कहे गये। उनकी इस अनिष्ट प्रवृत्ति को देखकर ब्रह्माजी के केश सिर से गिर गये और फिर पुनः उनके मस्तक पर आरुढ हुए। इस प्रकार ऊपर चढने के कारण वे 'सर्प' कहलाये और नीचे गिरने के कारण 'अहि' कहे गये। तदनन्तर जगत-रचयिता ब्रह्माजी ने क्रोधित होकर क्रोध युक्त प्राणियों कि रचना की; वे कपिश (कालापन लिये हुए पीले) वर्ण के, अति उग्र स्वभाव वाले तथा मांसाहारी हुए। फिर गान करते समय उनके शरीर से तुरन्त ही गन्धर्व उत्पन्न हुए। वे वाणी का उच्चारण करते हुए अर्थात् बोलते हुए उत्पन्न हए थे, इसलिए "गन्धर्व" कहलाये।

इन सब की रचना करके भगवान् ब्रह्माजी ने पक्षीयों को, उनके पूर्व कर्म से प्रेरित होकर स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी आयु से रचा। तदनन्तर अपने वक्षः स्थल से भेड मुख से बकरी, उदर और पार्श्व-भाग से गौ, पैरो से घोडे, हाथी, गधे, वनगाय, मृग, ऊँट, खच्चर और न्यङ्कः आदि पशुओं की रचना की। उनके रोमों से फल मूल रूप औषधियाँ उत्पन्न हुई। कल्प के आरम्भ में ही ब्रह्माजी ने पशु और औषधि आदि की रचना करके फिर त्रेतायुग के आरम्भ में उन्हें यज्ञादि कर्मों में सम्मलित किया। गौ, बकरी, पुरूष, भेड, घोडे, खच्चर और गधे ये सब गाँवों मे रहने वाले पशु हैं। जगंली पशु ये हैं- स्वापद (व्याघ्र आदि) दो खुरवाले (वनगाय आदि), हाथी, बन्दर और पांचवें पक्षी, छठे जल के जीव तथा सातवें सरीसृप आदि। फिर अपने प्रथम (पूर्व) मुख से ब्रह्माजी ने गायत्री, ऋक्, त्रिवृत्सोम रथन्तर और अग्निष्टोम यज्ञों को निर्मित किया। दक्षिण-मुख से यजु, त्रैष्टुपद्छन्द, पञ्चदशस्तोम, बृहत्साम तथा उक्थ की रचना की। पश्चिम-मुख से साम, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम, वैरूप और अतिरात्र को उत्पन्न किया तथा उत्तर-मुख से उन्होंने एकविंशतिस्तोम, अथर्ववेद, आप्तोर्यामाण, अनुष्टुप्छन्द और वैराज कि सृष्टि की। इस प्रकार उनके शरीर से समस्त ऊँच-नीच प्राणी उत्पन्न हुए। उन आदि कर्त्ता प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी ने देव, असुर, पितृगण और मनुष्यों की सृष्टिकर तदन्तर कल्पका आरम्भ होने पर फिर यक्ष, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरागण, मनुष्य, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, और सर्प आदि सम्पूर्ण नित्य एवं अनित्य स्थावर-जंगम जगत् की रचना की। उनमें से जिन के

जैसे-जैसे कर्म पूर्व कल्पों में ये पुनः पुनः सृष्टि होने पर उनकी उन्ही में फिर प्रवृत्ति हो जाती है। उस समय हिंसा-अहिंसा, मृदुता-कठोरता, धर्म अधर्म, सत्य-मिथ्या ये सब अपनी पूर्व-भावना के अनुसार उन्हें प्राप्त हो जाते हैं, इसी से ये उन्हें अच्छे लगने लगते हैं।

उन समस्त सिद्धियों के क्षीण हो जाने और पाप के बढ जाने से फिर सम्पूर्ण प्रजा द्वन्द्व, ह्रास और दुःख से आतुर हो गयी। उसने मरुभूमि, पर्वत और जल आदि के स्वाभाविक तथा कृत्रिम दुर्ग और पुर तथा खर्वट आदि स्थापित किये। उन पुर आदिकों में शीत और घाम आदि बाधाओं से बचने के लिये उसने यथायोग्य घर बनाये। इस प्रकार शीतोष्णादि से बचने का उपाय करके उस प्रजा जीविका के साधन रूप कृषि तथा कला-कौशल आदि की रचना की। धान, जौ, गेहूँ, छोटे धान्य, तिल, काँगनी, ज्वार, कोदो, छोटी मटर, उडद, मूंग, मसूर, बडी मटर, कुलथी, राई, चना और सन-ये सत्रह ग्राम्य औषधियों की जातियाँ हैं। ग्राम और वन्य दोनों प्रकार की मिलकर कुल चौदह औषधियाँ याज्ञिक हैं। उनके नाम ये हैं- धान, जौ, उडद, गेहूँ, छोटे धान्य, तिल, काँगनी और कुलथी-ये आठ तथा श्यामाक (समाँ) नीवार, वनतिल, गवेधु, वेणुयव और मर्कट मक्का। ये चौदह ग्राम्य और वन्य औषधियाँ यज्ञानुष्ठान की साम्रगी हैं और यज्ञ इनकी उत्पत्ति का प्रधान हेतु है। यज्ञों के सहित ये औषधियाँ प्रजा की वृद्धि का परम कारण हैं। इसलिये इहलोक-परलोक के ज्ञाता पुरुष यज्ञों का अनुष्ठान् किया करते हैं । ये नित्यप्रति किया जाने वाला यज्ञानुष्ठान मनुष्यों का परम उपकार और उनके किये हुए पापों का शान्त करने वाला है।

जिनके चित्त में काल की गति से पाप का बीज बढता है उन्हीं लोगों का चित्त यज्ञ में प्रवृत नहीं होता। उन यज्ञ के विरोधियों ने वैदिक मत, वेद और यज्ञादि कर्म-सभी की निन्दा की है। वे लोग दुरात्मा, दुराचारी, कुटिलमति, वेद विनिन्दक और प्रवृत्ति मार्ग का उच्छेद करने वाले ही थे। इस प्रकार कृषि आदि जीविका के साधनों के निश्चित हो जाने पर प्रजापति ब्रह्माजी ने प्रजा की रचना कर उनके स्थान और गुणों के अनुसार मर्यादा, वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा अपने धर्म का भली प्रकार पालन करने वाले समस्त वर्णों के लोक आदि की स्थापना की। कर्म निष्ट ब्राह्मणों का स्थान पितृलोक है, युद्ध-क्षेत्र से कभी न हटने वाले क्षत्रियों का इन्द्रलोक है। तथा अपने धर्म का पालन करने वाले वैश्यों का वायु लोक और सेवा धर्म परायण शूद्रों का गन्धर्व लोक है। अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता मुनि है; उनका जो स्थान बताया गया है वही गुरुकुलवासी ब्रह्मचारीयों का स्थान है। इसी प्रकार वनवासी वानप्रस्थों का स्थान सप्तर्षिलोक गृहस्थों का पितृलोक और सन्यासियों का ब्रह्मलोक हैं तथा आत्मानुभव से तप्त योगियों का स्थान अमरपद (मोक्ष) है। जो निरन्तर एकान्त सेवी और और ब्रह्मचिंतन में मग्न रहने वाले योगिजन हैं उनका जो

परमस्थान है उसे पण्डितजन ही देख पाते हैं। चन्द्र और सूर्य आदि ग्रह भी अपने-अपने लोकों में जाकर फिर लौट आते हैं, किन्तु द्वादशाक्षर मन्त्र (ओम नमों भगवते वासुदेवाय) का चिन्तन करने वाले अभी तक मोक्षपद से नहीं लोटे। तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, असि पत्रवन, घोर, काल सूत्र और अवोचिक आदि जो नरक हैं वे वेदों की निन्दा और यज्ञों का उच्छेद करने वाले तथा स्वधर्म विमुख पुरुषों के स्थान कहे गये हैं ।

अनन्त काल एवं अनन्त परिवर्तन

इस संसार में जो अत्यन्त बुद्धि वाले पुरुष हैं उनकी मैं इसका भोक्ता हूँ-यह मेरे भोगने के योग्य पदार्थ हैं - इन भोगों के ये सब साधन हैं - इनका सम्पादन कर भोग करुँगा इतना मैंने प्राप्त कर लिया है शेष और प्राप्त करूँगा-इस तरह के बहुत से मनोविकल्पों की कल्पना हुआ करती है और लोग इस नश्वर शरीर को ही आत्मा तथा सुखोपभोगों को ही परम पुरुषार्थ समझा करते हैं। मनुष्य शत्रु, मित्रादि के तथा राग द्वेषादि के भेदों वाले होकर इस संसार को उन्होंने अत्यन्त दुरुच्छेद बना दिया है और सबको इसके स्वरूप में बडा भ्रम हो रहा है। इस संसार में काल वश शरीर और भोगों की क्षणिकता है तो अब आप ही बतलाइये कि जगत् के प्रपंच में मनुष्यों की किस तरह से आस्था हो सकती है। शीशे में प्रतिबिम्बित फल के खाने की इच्छा तो बालक ही किया करते हैं। जिस प्रकार चन्द्रोदय को कारण उपचित समुद्र को बडवानल खा जाया करता है उसी तरह इस जगत् में समुत्पन्न कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसको सर्वभक्षी काल न खा जाता हो। इस काल के गाल में सभी ग्रसित हो जाया करते हैं। जो कुछ भी इस जगत् में दिखलाई दिया करता है और विद्यमान है इन समस्त पदार्थों को यह महाकाल जो साक्षात् संहार करने के लिये महेश्वर रुद्र का रूप कवलित कर जाया करता है और यह ग्रसने को उद्यत रहता है। जो बल बुद्धि और वैभव आदि के कारण महान् से भी महान् होते हैं उनके भी सम्पूर्ण विश्व को कबलित कर जाने वाला महाबलि काल एक क्षण के लिए भी प्रतीक्षा न कर समय आने पर तुरन्त खा जाया करता है। बलवान काल देव का कोई स्वरूप देखने में नहीं आता है। यह तो कल्पयुग-वर्ष आदि के द्वारा कुछ प्रकट हुआ करता है और यह सभी पर आक्रमण करके स्थित रहता है। यह देवासुर मनुष्य आदि किसी को भी छोडता नहीं हैं ।

चाहे कोई सुरभ्य हो या शुभारम्भ वाले हो और सुमेरु के समान परम गुरुत्तम हो। इस विश्व ब्रह्माण्ड में सर्पों या गरूड की भांति हो। इस महाकाल के द्वारा सभी एक न एक दिन अवश्य ही निजीर्ण हो जाया करते हैं। यह काल पाषण के समान कठोर, दया से रहित, व्याघ्र के तुल्य महान् क्रूर और क्रकचादि के सदृश कर्कश होता है। इस जगत् में

कोई भी नहीं है जिसको यह काल न निगल जाता हो । इस महाकाल का अहर्निश कवलित करते रहने का प्रमुख कार्य है। एक के पश्चात् दूसरे को ग्रसता ही रहता है और अनन्त लोकों के समुदायों का महान् अशन करते हुए भी इसको कभी तृप्ति नहीं हुआ करती है। महाकाल ही इस विश्व की रचना करता है । यही हरणनाश और अशन करके इस संसार का हनन किया करता है। जिस तरह नर रंगमंच पर अनेक प्रकार के नृत्य दिखाया करता है उसी प्रकार से यह महाबली काल भी अनेक प्रकार की नृत्य की क्रियाएँ किया करता है। संसार सृजन और हनन सभी कुछ इस काल के ही प्रभाव से हुआ करता है। इस संसार में मनुष्यों की बुद्धि विवेक से शून्य एवं अत्यन्त चंचल है। लोक यहाँ पर अपने अनेक संकल्प और विकल्प की रचना किया करते हैं। महाबली काल के प्रभाव से उनको तनिक भी ज्ञान नहीं होता है। इसलिए ही झूठे मन सूबे बाँधते हुए सब लोग एक दिन इस काल के ग्रास बन जाया करते हैं।

यह काल भी एक राजकुमार के ही समान मृगयारूपी इस वन में क्रीडाकिया करता है। इस काल रूपी राजकुमार का भी बल विक्रम चिन्तन करने के योग्य है और इसकी लीलायें अत्यन्त अद्भुत होती हैं। इस काल की गति को कोई भी रोकने वाला नहीं है। जिस प्रकार से राजपुत्र की समस्त आपदायें उससे दूर ही रहा करती हैं। इस जगत् रूपी महान् जंगल में समस्त प्राणी ही इसके आखेट के पशुओं के समान हैं जो विवेक से रहित हैं। यह व्याघ्री के समान इस संसार रूपी वन में भूतों का विनाश करने के लिए विहार किया करता है। यह साक्षात् चण्डी के तुल्य है जिसके साथ समस्त मातृगण रहा करती हैं। यह काल अपने दुर्विलासों के करने में सर्वाधिक प्रमुख है। यही कृतान्त की अवस्था में स्थिर होकर प्राणियों के बुरे भले कर्मों का फल दिया करता है। इसलिए लोक में इसको दैव या काल कहा जाता है। वैसे इसका प्रत्यक्ष स्वरूप तो किसी को दिखलाई नहीं दिया करता है किन्तु जंगल में अनेक क्रियाओं के परिस्पन्दन से ही इसके स्वरूप का मान हुआ करता है। जिस तरह ताप से हिममाल गलकर विनष्ट हो जाया करती है उसी तरह इस संसार के समस्त प्राणियों का समुदाय भी अपने कर्म वश होता हुआ इस काल के प्रभाव से नाश को प्राप्त हो जाया करता है। इस जगत् में कुछ भी दिखलाई नहीं दिया करता है। यह सभी इस काल रूपी नर की नाट्यशाला ही है और महा विस्तृत नृत्यशाला से राग द्वेषादि की अत्यधिक प्रवृत्तियों के द्वारा काल ताण्डव नृत्य करता रहता है। संसारिक विषयों में इन्द्रियों की अतिशय प्रवृत्ति करने वाली यह काल की मर्यादा के स्वरूप वाली नियति ही उसकी प्रिय कान्ता है। स्त्री होने के कारण यह अत्यन्त चचंल होती है और विषयों की और प्राणियों का उन्मुखीकरण करके उनके धैर्य का विनाश कर दिया करती है। सर्प के

द्वारा अनिल भक्षण करने के समान ही यह समस्त भूतों के समुदाय को ग्रसती है। यह कृतध्न स्वरूप वाला काल अत्यन्त ही कठोर आचार वाला होता है तो मानव की तरुणता को वार्धक्य में डालकर विनष्ट कर दिया करता है। यह यमराज भी अत्यन्त निर्दयी राजा है जो कभी किसी प्राणी पर दया नहीं किया करता है और कोई जीव इसकी उदारता और कृपा का पात्र नहीं हुआ करता है।

इस जगत् में विशाल ऐश्वर्य और भोग विलास के आधार समस्त विषय तुच्छ हैं जिनका परिणाम परम दारुण एवं तुरन्त दुःख ही हुआ करता है। मानव की आयु की कुछ भी स्थिरता नहीं है और अत्यन्त चचंलता से परिपूर्ण है जो चाहे जब समाप्त हो जाया करती है। मृत्यु अत्यन्त कठोर होती है जो किसी को भी क्षमा नहीं किया करती है।

जिस यौवन पर मानव गर्व किया करता है और न मालुम क्या-क्या निन्दित कर्म करता है वह तदुपरान्त स्थायी भी नहीं होता है। बाल्यावस्था जो जडता से ही पूर्ण होती है और मोह से ही समाप्त हो जाया करती है। इस संसार की रचना ऐसी कला से पूर्ण एवं आकर्षक है कि इसकी विषय छटा को देखकर मनुष्यों का मन मोह मुग्ध हो जाया करता है किन्तु ये सभी बन्धन में डालने वाले हैं। विषयों का भोग महान् व्याधि के तुल्य है और विषयों की तृष्णा केवल मृग मरीचिका के समान वास्तविकता से शून्य हुआ करती है। विषयों की ओर हठात् लपकती हुई ये इन्द्रियाँ मनुष्य की शत्रु हैं और मन तो परम बलिष्ठ रिपु है जो असत्य देहादि को सत्य मान लिया करता है तथा आत्मा को स्वयं ही विनाश कर देता है।

इस लोक में मनुष्य की बुद्धि क्षीण हो जाया करती है और अत्यन्त भीतर ही भीतर आकुलित होकर सन्तप्त होती रहा करती है। इसमें विषयों के प्रति राग ही भरा रहता है और वैराग्य की भावना कभी नहीं होती है। संसार में मनुष्य के हृदय में रजो-गुण व्याप्त रहा करता है और तमोगुण की ओर ही बुद्धिशील रहता है। सत्व गुण तो उदित ही नहीं होता है। फिर अध्यात्म तत्त्व तो बहुत ही कठिन है और वह तो दूर की वस्तु है, अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति होना तो सर्वथा सम्भव ही नहीं है। मनुष्य के जीवन की स्थिति अस्थिर है न मालुम वह किस क्षण में समाप्त हो जावे। स्वप्न काल में भी बुद्धि विषयों की और अनुराग करने में ही उन्मुख रहा करती है। धैर्य छूट जाया करता है और निरर्थक पदार्थो में ही रति रहती है जो कि नश्वर एवं क्षण-भंगुर है। इस संसार में माया के जाल में फंस कर अत्यन्त मन्द एवं मलिन हो जाया करती है। यह मानव-शरीर भी पतनशील है और नष्ट ही हो जाने वाला है- वृद्धता देह में समागत होकर अहर्निश दुर्बल बनाती रहती है तथा किये हुए दुष्कृतों का कुफल प्रतिफल-स्फुरित होता रहता है। यह यौवन चाहे कितना भी यत्न क्यों

न किया जावे एक सा नहीं रहता। इस संसार में सत्पुरुषों की संगति अत्यन्त दुर्लभ होती है- स्वर्गादि का सुख भी अनित्य है जिसकी प्राप्ति करने के लिए लोग धर्म कृत्य किया करते हैं और लालायित रहा करते हैं। इस लोक में सभी कुछ नाशवान एवं असत्य है।

इस संसारिक मोह माया में मन डूबा रहता है और इसमें प्रसन्नता का एक दम अभाव रहा करता है। करुणा की भावना उत्पन्न ही नहीं होती है और अत्यन्त नीच विचार मन में प्रवेश करके स्थिर हो जाते हैं। धैर्य लोगों में बिल्कुल नहीं रहता है। सभी अधीर हो गये हैं जिसके कारण मन में स्थिरता का अभाव रहता है। इस मनुष्य को सत्पुरुषों का समागम अत्यन्त दुर्लभ रहता है और बहुधा चारों और दुर्जन पुरुष ही दिखाई दिया करते हैं। जिनकी संगति से पतन होता है। भावों के न रहने पर भी संसार के बंधन करने वाली वासना बराबर स्थिर रहती है और यही वासना प्राणियों के समुदाय को भटकाती रहा करती है। महा बलवान काल के प्रभाव से ये दिशायें भी दिखाई नहीं दिया करती है और सद् व्यवहार का उपदेश भी विरुद्ध दृष्टिगत हो जाता है। जब संसार में सभी का विनाश-अवश्यम्भावी हैं तो मुझ जैसे पुरुष में क्या आस्था हो सकती है? यह आकाश, समस्त भुवन-भूमि, सागर, तारागण, सिद्ध-दानव और ध्रुव तथा अमर कहलाने वाले देवगण भी स्थिर न रहकर विनाश को प्राप्त हो जाया करते हैं तो मुझे जैसे साधारण मानव के जीवन में क्या आस्था हो सकती हैं।

यह संसार बहुत ही बुरा एवं निन्दित है तो भी ऊपर से यह मनुष्य के मन में बहुत ही सुन्दर एवं सुखद प्रतीत हुआ करता है। मुझे तो इस जगत् में कोई ऐसा कोई भी पदार्थ दिखाई नहीं देता है जिसके पाने से चित्त को अत्यन्त विश्राम अर्थात् परम सुख मिल सके। मनुष्य का बचपन तो अनेक प्रकार की कल्पना किये हुए क्रीडा के कौतुको में ही चंचलता के साथ समाप्त हो जाया करता है। युवावस्था आते ही यह मन रूपी मृग कामिनी स्वरूप वाली गुफा में रमण करता हुआ जीर्ण हो जाया करता है, बुढापा आने पर यह शरीर निकम्मा और परम शिथिल होकर एकदम जर्जरित हो जाया करता है। उस दशा में यह मानव समुदाय केवल दुःख भोग करता है। इस मनुष्य को इस जगत् में किसी भी समय जीवन में सूख शान्ति का लोभ भी प्राप्त नहीं हुआ करता है। वृद्धता के स्वरूप वाली हिम की वृष्टि से यह काया के स्वरूप वाली यह कमलिनी मुरझा जाती है और इसकी सम्पूर्ण सुन्दरता नष्ट-भ्रष्ट हो जाया करती है। इस समय में यह पुरुष रूपी भौंरा इस देह को त्याग करके बहुत दूर चला करता है। उस दशा में यह संसार रूपी सरोवर सूख कर मनुष्य के लिए हमेशा को नष्ट-भ्रष्ट हो जाया करता है। वृद्धता के कारण असमर्थता होने पर भी बुढापे से विषयों में इसके मन की तृष्णा बढती चली जाया करती है। अन्त में यह देहलता एकदम

जर्जरित होकर नष्ट हो जाती है। इस जगत् में तृष्णा रुपिणी नदी निरन्तर प्रवाहित होती रहती है जिसके बलवान् प्रवाह के वेग में सभी प्रवाह ग्रसित हो गये हैं। तीर पर ही स्थित सन्तोष वाले वृक्ष की जडे उखाडकर ढीली कर ने में बहुत ही कुशल हैं अर्थात् तृष्णा के कारण सन्तोष हो ही नहीं पाता है। यह संसार एक सागर के समान है उसमें मनुष्य के शरीर के स्वरूप वाली काया चमडे में मढी हुई नौका के तुल्य है जो भूख प्यास आदि अनेक लहरों से समाहत होकर हिलती-डोलती हुई इधर से उधर घूमती रहती है। पाँच इन्द्रियाँ ही ग्राह है जो काया रूपिणी नौका को टक्कर देकर डुबाने के लिए समुद्यत रहा करती है और इस प्रकार से वह नौका शनैः-शनैः पतन की ओर चली जाती है। इस नौका में धैर्य और विवेक से शून्य ही जीव बैठे हुए है। यह संसार एक महान् जंगल के तुल्य है उसमें तृष्णा के स्वरूप वाली लताओं की अधिकता है । उस वन में विचरण करने वाले मन रूपी कपि अनेकानेक कामनाओं के विशाल वृक्षों पर और सैकडों ही शाखा-प्रशाखाओं पर कूदते-फाँदते हुए भटका करते हैं और इसी भटकन में मानव अपनी सम्पूर्ण आयु नष्ट कर देता है। फिर भी ये मनोवांछित फल इसको प्राप्त नहीं होता है। महान् विषम आपत्तियों के भी जिनमें विषाद और मोह दूर ही रहा करते हैं तथा स्वस्थावस्था और सम्पति की दशा से भी अहंकार का अभाव रहता है वे परम सुन्दरियाँ भी अपने रूप लावण्य से जिनके मन में कोई भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती है संसार में इस समय ऐसे महान् पुरुष बहुत ही अधिक दुर्लभ हैं अर्थात् कठिनाई से देखे जाते हैं। जो हाथियों के समुदाय से पूर्ण सेना रूपिणी तरंगों से उभार को प्राप्त हुए समर सागर को अपने बल पराक्रम के प्रभाव से पार कर जाया करते हैं; मेरे विचार से वे शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हीं को वास्तव में वीर मानता हूँ जो मन की अत्युन्नत तरंगों से परिपूर्ण इस शरीर और इन्द्रियों रूपी समुद्र को विवेक-वैराग्य के द्वारा पारकर जाया करते हैं। दुराशाओं से आहत चित्त वृत्ति वाले पुरुष कोई भी कर्म ऐसा नहीं करते हैं जिसको करके शाश्वतिक शांति प्राप्त कर सकें। सभी कर्म क्लेशकर होते हैं और उससे प्राप्त स्वर्गादि सुख भी नाशवान् हैं अतएव अभीष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर अन्ततोगत्वा नाश होने से वह भी दुःख के स्वरूप में परिणित हो जाया करता है। ऐसे महत् पुरुष तो इस जगत् में अत्यन्त दुर्लभ ही होते है जो कि कीर्ति से इस संसार को, प्रताप से समस्त प्रदेशों एवं दिशा-विदिशाओं को तथा सम्पदा से याचना करने वालों के घरो को और क्षमा उदारता आदि सात्विक गुणों से लक्ष्मी को परिपूर्ण किया करते हैं और धैर्य नहीं छोडा करते हैं। पुण्य फल के स्वरूप वाली सिद्धियोँ और सम्पदायें, पापों के परिणाम स्वरूप आपदायें निरन्तर स्वतः ही सबको प्राप्त होती रहा करती है। यह प्रारम्भ का फल बिना मिले नहीं रहता है और सबको अवश्य भोगना पडता है चाहे कोई पर्वतों की महत्तम गुफाओं

में रहता है या किसी वज्र निर्मित अभेद्यभवन में निवास करता हो। हे तात् ! इस संसार में पुत्रादि परिवार स्त्री और धन प्रभृति को मनुष्य भ्रम से उपहत बुद्धि के कारण अपने सुखों का साधन समझते हैं किन्तु ये सभी जब मृत्यु काल आता है कुछ भी भलाई नहीं कर पाते हैं प्रत्युत में काल से तो अत्यन्त स्मरणीय भोग भी विषपान होनें वाली मूर्छा के समान ही दुखद प्रतीत हुआ करते हैं। बाल्यकाल और यौवन के समाप्त हो जाने पर वृद्धावस्था में पहुँच कर इस परम जराजीर्ण क्षीण शरीर के कारण जीवात्मा अत्यन्त विषाद में मग्न होकर अपने किये हुए पापों का स्मरण किया करता है और अन्दर ही अन्दर दुःसह ज्वाला से जलता रहता हैं। जिस मनुष्य ने आरम्भ से अब तक सम्पूर्ण जीवन में धनार्जन विषयभोग और अभीष्ट मनोरथों के लिए कर्म को ही अपने हृदय में स्थान दिया है और इन्हीं के लिए अब तक सब कुछ कर्म करने में पूरा जीवन व्यतीत कर दिया है उस मनुष्य के बुढापे में चित्त पंख के समान चञ्चल हो जाया करता है। उस दशा में कौन सा उपाय है जिससे यह शान्ति प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है **कि निष्काम कर्म के बिना सुख-शान्ति पाना अत्यन्त ही कठिन एवं असंभव है**। प्रायः लोगों की रुचि नदी के तरंगों समान शीघ्र ही विनष्ट होने वाले संसारिक विषयों में ही रुचि रहा करती है और आत्मज्ञान की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं होता है। मनुष्यों का पूरा जीवन संसार में इन कार्यों को अभी करना है या बाद में करना है - इसी प्रकार से देखने में सुन्दर किन्तु परिणाम में अनर्थ रूप सिद्ध होने वाले कार्यों में विनष्ट हो जाया करता है और उसी व्यर्थ में जीवन नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार से वृक्षों में पत्ते उत्पन्न होकर कुछ ही समय में पीले पडकर झड जाया करते हैं और विनष्ट हो जाते हैं उसी तरह से ये प्राणी भी इस संसार में मानव जीवन प्राप्त कर के भी आत्म ज्ञान से रहित होकर अपने पूर्ण जीवन को लौकिक पदार्थों में खोकर अन्त में सब कुछ यही पर छोडकर थोडे समय में चल बसते हैं। इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जीवन का कुछ भी उपयोग नहीं कर पाते हैं। महामूढों के बिना कोई भी समझदार मनुष्य दिन में दूर-दूर तक इधर-उधर भटक कर विवेक शील महापुरुषों की संगति और सत्कर्मों का अनुष्ठान कर सन्ध्या के समय घर में आकर सुख की नींद नहीं सो सकता है। बाधा पहुचाने वाले सब समुदायों को निहित कर हटा देने पर जिस समय सभी और से एश्वर्य की वृद्धि होती है उसमें लिप्त होकर वैभव से सम्प्राप्त विषयों के उपयोगों में मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप और वास्तविक कर्त्तव्य को भूल जाता है और उन्हीं के सेवन में निरत हो जाया करता है इसी बीच में उन्हें मृत्यु आकर घेर लेती है।

इस जगत् में अहर्निश इस मृत्यु की लीला को देखते हुए भी बहुत आश्चर्य इस बात का है की इस अवश्यसंभावी और न टाली लाने वाली मौत को मनुष्य नहीं समझ पाते

हैं। इस संसार में किसी कारण से अतुल सम्पदा और सुख वैभव प्राप्त कर बहुत बडे वन कर भी क्षणभर विनष्ट होते हुए देखे जाते हैं। फिर भी मानव इस तुच्छ विषयों में ही मृत्यु को भूलकर भटकते ही रहा करते हैं। अपने प्राणों से प्रेम करने वाले मनुष्य देह के ही पोषण द्वारा विषयों के सुख भोगने में परायण रहा करते हैं। तथा काल के गाल में जाकर विनष्ट हो जाते हैं जो तत्त्वज्ञ विवेकीजन होते हैं वे ही देह को तुच्छ एवं आत्मा कल्याण का साधन मात्र समझते हुए श्रेय सम्पादन किया करते हैं। वृक्षों पर छाई हुई रमणीय विष वेलों के समान भ्रमरों के तुल्य चञ्चल एवं कोमल तथा रक्त पल्लवों के सदृश अधरों वाली मनोहारिणी सुन्दरियाँ आरम्भ काल में मन को चुरा लेती है और ये फिर परिणाम में प्राणी के प्राणहरण करने वाली वन जाया करती हैं। इस जगत् में स्त्री-पुत्र, मित्र, भाई-बन्धु आदि का जो एकत्र मिलन हो जाता है; यह सम्पूर्ण व्यवहार माया से परिपूर्ण है। इसलिये सम्मिलन में सत्यता और स्थिरता लेश मात्र को भी नहीं है। जिस प्रकार से तीर्थों की यात्रा में तथा देवोत्सवों में एकत्रित हुए दूर-दूर तक अपरिचित मनुष्यों का एक मेला हो जाया करता है उसी भाँति परलोक में आकर पुत्रादि के रूप यहाँ में सब सम्मिलित हो जाते हैं जैसे अमुक स्थान पर हमारी आपके मुलाकात होगी ऐसा संकेत स्वल्प समय के लिए मिलने के अभिप्राय से ही यह पारिवारिक समुदाय जुड जाया करता है। और सभी एक-एक करके चल बसते हैं। और किसी से भी कुछ सर्म्पक नहीं रहता है। जिस तरह से दीपमालाओं में दीपक जलते बुझते हुए रहते हैं ठीक उसी तरह बाल्य जीवन और वृद्धता की अवस्थाओं को भोगते हुए जन्म-मरण की परम्पराएँ कुलाल चक्र के समान वेग पूर्वक घूमती रहा करती है। और अत्यन्त चञ्चल हैं। दीपक में तेल है तभी तक वह जलता है वैसे ही यह अतात्विक स्नेह जीवन तक ही रहता है। जो कि सर्वथा मिथ्याभूत है।

कुम्हार का चाक बराबर फिरता है किन्तु असावधान पुरुष की बुद्धि में उसकी चिर स्थिरता ही प्रतित हुआ करती है। ठीक उसी तहर से वर्षा के जल के जल से बूद-बूद के तुल्य अस्थिर एवं अनित्य की तरह सांसारिक प्रवृत्ति चिर स्थायिनी प्रतीत हुआ करती हैं और जिस प्रकार से शरत्-काल में कमलों के सौदर्य, सौगन्ध्यादि के गुण शोभाप्रद होते हैं और हेमन्त में सब विलुप्त हो जाया करते हैं। उसी तरह मनुष्य की यौवनावस्था चमत्कृत दिखाने वाले गुण गण वृद्धता के आते ही नष्ट भ्रष्ट हो जाया करते हैं। इसनिए इसमें कुछ भी विश्वास नहीं करना चाहिए। यह संसार बडा ही स्वार्थी एवं कृतघ्न है जो कि देव वश अनेक बार जन्म ग्रहण करके अपनी छाया पत्र-पुष्प और फलों के द्वारा वृक्ष के द्वारा प्राणियों का उपकार किया करते हैं और उस निरिह निस्वार्थ सेवक वृक्ष को भी काट दिया जाता है। ऐसे स्वार्थी, कृतघ्न संसार में मानव सरीखा उपकार से रहित महान् अपराधी

क्या सदा जीवित रहेगा? ऐसा विश्वास करने का क्या कोई भी कारण हो सकता है ? विष वृक्ष और विषयों में समासक्त मनुष्य ये दोनों ही बहुत मनोरम प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु इसके अन्दर बडे भारी दोष भरे पडे रहते हैं। विष से युक्त वृक्ष हृदय में स्थिर प्रारम्भों का विघात करने को खडा रहता है और विषयों में आसक्त मनुष्य भी भीतर रहने वाली शन्ति के विषाद के लिए होता है अर्थात् इन दोनों की गति से तुरन्त ही मूर्च्छा अथवा मूढता प्राप्त हो जाया करती है।

उस संसार में सभी वस्तुयें दोषों से भरी हुई हैं। जगत् में ऐसी कौन से दृश्य हैं जिनमें दोष नहीं हैं। वे कौन -सी दिशायें हैं जिसमें दुःख नहीं विद्यमान है ! किसी ओर् चले जाइये संसार में पीडा ही पीडा दिखलाई दिया करती है। ऐसे कौन से जीवों के शरीर हैं जो क्षण भर में नाश को प्राप्त हो जाने वाले नहीं हैं ? तथा कौन सी लोक में होने वाली क्रियायें जिनमें माया से पूर्ण छल कपट नहीं है अर्थात् संसार के प्रत्येक कार्य कपट और पाखण्ड से भरे ही रहा करते हैं। उस काल में क्षण से लेकर कल्पों तक की कल्पना भी वास्तविक न होकर असत्य ही हुआ करती है। जिसके आधार पर ही जीवन की लघुता और दीर्घता लोभ माना करते हैं। जिस तरह क्षण अनन्त हैं; वैसे ही कल्प भी अनन्त होते हैं। भगवान् विष्णु और रुद्र की दृष्टि भी कल्प भी के ही समान है। ब्रह्मा लोक के निवासी भी कल्पों तक जीवन रखने वाले कुछ क्षणों तक ही जीवित रहा करते हैं। अन्त में सभी का विनाश होता है। सदा सर्वदा कोई भी यहाँ नहीं रहता है। इस जगत् में लोगों ने अपने कल्पित संकेतों के अनुसार ही समस्त पदार्थों के विशेष नाम रख लिये हैं। सर्वत्र पहाडों में पत्थर ही रहा करते हैं और पाषाणों के अतिरिक्त वहाँ पर दूसरी कोई वस्तु नहीं होता है। इसी तरह यह भूमि मिट्टी की है और वृक्षों में काष्ठ ही हुआ करता हैं। मानवों का शरीर हाड, माँस का ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन समस्त भोग्य वस्तुओं में कुछ भी वस्तु विकार से रहित एवं अपूर्व नहीं है। संसार के समस्त पदार्थों की रचना जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी इन्हीं महाभूतों से परस्पर में मिलकर हुआ करती है। और विवेक हीन पुरुषों की दृष्टि में घर आदि अनेक रूपों में दिखाई देकर भिन्न-भिन्न प्रती गति हुआ करते हैं। इन पदार्थों की प्रतीत चेतन के सान्धिय से होती है। विवेक की दृष्टि से पृथक्-पृथक् विभाग के साथ समाकीर्ण करने पर यह सम्पूर्ण जगत् इन्हीं पाँच जल, आकाश आदि भूतों के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं है।

सर्वथा मिथ्या होने पर भी इन पदार्थों के विषय में व्यवहारिक कौशल के कारण महान् विद्वान पुरुषों के भी मन में भोग सम्बन्धित चेष्टा को समुत्पन्न करने वाली जो व्यवहार की चमत्कृति तथा व्यवहारिक प्रवृति देखी जाया करती है। यह कोई आश्चर्य की बात

नहीं है। क्योंकि बहुधा स्वप्नों में मिथ्याभूत विषयों को लक्ष्य बनाकर कुछ लोगों की उस तरह की चमत्कार से पूर्ण प्रवृति देखी जाया करती है। जिस प्रकार से पशु हरी-हरी घास खाने की लालसा से पर्वत की अत्युन्नत ऊँची चोटी पर पहुँच जाता है और वहाँ पर आनन्दोन्माद में मग्न होकर फिसल जाया करता है ठीक उसी भाँति इस संसार में लोग श्रेष्ट पुरुषों के पद वैभव आदि प्राप्त करने के हठ पूर्वक इच्छा करने वाले राग-द्वेष आदि अनेक दोषों से युक्त होकर अपने ही चित्त से पतन के गर्त में गिर जाया करते हैं। जैसे काले हरिण विभिन्न वन प्रदेशों में भ्रमण किया करते हैं। जो अत्यन्त ही कोमल होता है और कहीं बहुत कठोर हुआ करता है उसी तरह से ये जीवात्मा भी किसी समय में तो दया दाक्षिण्यादि सद्गुणगण से युक्त देशों में और कभी क्रोध बैकुर्यादि युक्त शरीरों में भ्रमता रहा करता है किन्तु फिर भी इसको विवेक नहीं होता है । इस संसार में जो एक स्वप्न के ही समान मिथ्याभूत है मनुष्य अनेक कामनाओं में मग्न होकर बहुत बुरी चेष्टायें किया करता है। जो अपार रमणीय प्रतीत हुआ करती है और उनका परिणाम बडा ही भीषण होता है। यहाँ पर विवकशील मनुष्य कोई भी दिखाई नहीं दिया करते हैं। यहाँ पर सभी मनुष्य दुःख सहित रहते हैं। अतएव उन्हें अवश्य ही दुःख दावनल में दग्ध होना ही पडता है। समझ में नहीं आता है कि लोग ये किस तरह से ऐसा जीवन जीकर संसार में रहा करते हैं और उन्हें कभी विवेक नहीं होता है। (योग वशिष्ठ खण्ड-I पृ.177)

भूगोल

जम्बू वृक्ष, शाल्मल, कुश, क्रोञ्च, शाक और सातवाँ पुष्कर-ये सातोंद्वीप चारों और से खारे पानी, इक्षुरस, मदिरा, घृत, दधि, दुग्ध और मीठे जल के सात समुद्रों से धिरे हुए हैं। जम्बूद्वीप इन सब के मध्य में स्थित है और उसके बीचों-बीच सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। इसकी उँचाई चौरासी हजार योजन है और नीचे की और यह सोलह हजार योजन पृथ्वी में घुसा हुआ है। इसका विस्तार ऊपरी भाग में बत्तीस हजार योजन है तथा नीचे (तलैटी में) केवल सोलह हजार योजन है। इस प्रकार यह पर्वत इस पृथ्वी रूप कमल की कर्णिका (कोश) के समान है। इसके दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट और निषध तथा उत्तर में नील, श्वेत और श्रृङ्गी नामक पर्वत हैं (जो भिन्न-भिन्न वर्षों का विभाग करते हैं) उनमें बीच के दो पर्वत (निषध और नील) एक-एक लाख योजन तक फैले हुए हैं, उनसे दूसरे-दूसरे दस-दस हजार योजन कम हैं। (अर्थात् हेमकूट और श्वेत नब्बे-नब्बे हजार योजन तथा हिमवान् और श्रृङ्गी अस्सी-अस्सी सहस्र योजन तक फैल हुए हैं) वे सभी दो-दो सहस्र योजन ऊँचे और इतने ही चौडे हैं।

मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर पहला भारत वर्ष है तथा दूसरा किम्पुरुष वर्ष और

तीसरा हिम वर्ष है। उत्तर की ओर प्रथम रम्यक्, हिरण्य और तदन्तर उत्तरकुरुवर्ष है जो (द्वीपमण्डल की सीमा पर होने के कारण) भारत वर्ष के समान (धनुषाकार)है। इनमें से प्रत्येक का विस्तार नौ-नौ हजार योजन है। इन सब के बीच में इलावतवर्ष है जिसमें सुवर्णमय सुमेरु पर्वत खडा हुआ है। यह इलावृतवर्ष सुमेरु के चारों और नौ हजार योजन तक फैला हुआ है। इसके चारों और चार पर्वत हैं। ये चारों पर्वत मानों सुमेरु को धारण करने के लिए ईश्वर कृत कीलियाँ है (क्योंकि इनके बिना ऊपर से विस्तृत और मूल में संकुचित होने के कारण सुमेरु के गिरने की सम्भावना है।) इनमें से मन्दराचल पूर्व में, गन्धमादन दक्षिण में, विपुल पश्चिम में और सुपार्श्व ऊत्तर में है। ये सभी दस-दस हजार योजन ऊँचे हैं। इन पर पर्वतों की ध्वजाओं के समान क्रमशः ग्यारह-ग्यारह सौ योजन ऊँचे कदम्ब, जम्बू, पीपल और वट के वृक्ष हैं।

इनमें जम्बू (जामुन) वृक्ष जम्बूद्वीप के नाम का कारण है। उसके फल महान् गजराज के समान बडे होते हैं। जब वे पर्वत पर गिरते हैं तो फटकर और फैल जाते हैं। उनके रस से निकली जम्बू नाम की प्रसिद्ध नदी वहाँ बहती है, जिसका जल वहाँ के रहने वाले पीते हैं। उसका पान करने से वहाँ के शुद्ध चित्त लोगों को पसीना, दुर्गन्ध, बुढापा अथवा इन्द्रिय क्षय नहीं होता। उसके किनारे की मृत्तिका उस रस से मिलकर मन्द-मन्द वायु से सूखने पर जाम्बूनद नामक सुवर्ण हो जाता है, जो सिद्ध पुरुषों का भूषण है। मेरु के पूर्व में भद्राश्ववर्ष और पश्चिम में केतुमाल वर्ष है तथा इन दोनों के बीच में इलावृतवर्ष है। इसी प्रकार उसके पूर्व की ओर चैश्ररथ दक्षिण की ओर गन्धमादन, पश्चिम की ओर वैभ्राज और उत्तर की ओर नन्दन नामक वन हैं तथा सर्वदा देवताओं से सेवनीय अरुणोद, महाभद्र, असितोद और मानस-ये चार सरोवर हैं। शीताम्भ, कुमुन्द, कुररी मालयवान् तथा वैकंक आदि पर्वत (भूपद्म कर्णिका रूप) मेरु के पूर्व दिशा में केसराचल हैं। त्रिकूट, शिविर, पतंग, रुचक और निषाद आदि केसराचल उसके दक्षिण ओर हैं। शिखिवासा वैडूर्य, कपिल, गन्धमादन और जारुधि आदि उसके पश्चिमीय केसर पर्वत हैं। तथा मेरु के अति समीपस्थ इलावृतवर्ष में और जठरादि देशों में स्थित शङ्ख कूट, ऋषभ, हंस, नाग तथा कालञ्ज आदि पर्वत उत्तर-दिशा के केसराचल हैं।

मेरु के ऊपर अन्तरिक्ष में चौदह सहस्र योजन के विस्तार वाली ब्रह्माजी की महापुरी (ब्रह्मपुरी) है। उसके सब ओर दिशा एवं विदिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों के आठ अति रमणीक और विख्यात नगर हैं। विष्णुपादोद्भवा श्री गंगाजी चन्द्रमण्डल को चारों ओर से आल्पावित कर स्वर्गलोक से ब्रह्मपुरी में गिरती है। वहाँ गिरने पर वे चारों दिशाओं में क्रम से सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भ्रद्रा नाम से चार भागों में विभक्त हो

जाती हैं। उनमें से सीता पूर्व की ओर आकाशमार्ग से एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाती हुई अन्त में पूर्वस्थित भद्राश्चवर्ष को पारकर समुद्र में मिल जाती है। इसी प्रकार अलकनन्दा दक्षिण-दिशा की और भारत वर्ष में आती है और सात भागों में विभक्त होकर समुद्र में मिल जाती है। चक्षु पश्चिम दिशा के समस्त पर्वतों को पारकर केतुमाल नामक वर्ष में बहती हुई अन्त में सागर में जा गिरती है। तथा हे महा मुने ! भद्रा उत्तर के पर्वतों और उत्तरकुरुवर्ष को पार करती हुए उत्तरीय समुद्र में मिल जाती है। माल्यवान् और गन्धमादन पर्वत उत्तर तथा दक्षिण की और नीलाचल और निषधपर्वत तक फैल हुए हैं। उन दोनों के बीच में कर्णिकाकार मेरुपर्वत स्थित है।

मर्यादा पर्वतों के बहिर्भाग में स्थित भारत, केतुमाल, भद्रश्व और कुरुवर्ष इस लोकपद्म के पत्तों के समान है। जठर और देवकूट ये दोनों मर्यादा पर्वत हैं जो उत्तर और दक्षिण की ओर नील तथा निषधपर्वत तक फैले हुए हैं। पूर्व और पश्चिम की और फैले हुए गन्धमादन और कैलाश-ये दो पर्वत जिनका विस्तार अस्सी योजन है, समुद्र के भीतर स्थित हैं। पूर्व के समान मेरु की पश्चिम और भी निषध और पारियात्र दो मर्यादा पर्वत स्थित है। उत्तर की ओर त्रिश्रृङ्ग और जारुधि नामक वर्ष पर्वत हैं। ये दोनों पूर्व और पश्चिम की ओर समुद्र के गर्भ में स्थित हैं। इस प्रकार तुम से जठर आदि मर्यादा पर्वतों का वर्णन किया, जिनमे से दो-दो मेरु की चारों दिशाओं में स्थित हैं। मेरु के चारों ओर स्थित जिन शीतान्त आदि केसर पर्वतों के विषय में तुम से कहा था, उनके बीच में सिद्ध-चारणादि से सेवित अति सुन्दर कन्दराएँ हैं। उनमें सुरम्य नगर तथा उपवन है और लक्ष्मी, विष्णु, अग्नि एवं सूर्य आदि देवताओं के अत्यन्त सुन्दर मन्दिर हैं जो सदा किन्नर श्रेष्ठों से सेवित रहते हैं। उन सुन्दर पर्वत-द्रोणियों में गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, दैत्य और दानवादि अहर्निश क्रीडा करते हैं। ये सम्पूर्ण स्थान भौम (पृथ्वी के) स्वर्ग कहलाते है; ये धार्मिक पुरुषों के निवास स्थान हैं। पाप कर्मा पुरुष इनमें सौ जन्म में भी नहीं जा सकते।

श्री विष्णुभगवान् भद्राश्वर्ष में हयग्रीव रूप से, केतुमाला वर्ष में वराह रूप से और भारत वर्ष में कर्मरूप से रहते हैं। तथा वे भक्तप्रतिपालक श्री गोविन्द कुरुवर्ष में मत्स्यरूप से रहते हैं। इस प्रकार वे सर्वमय सर्वगामी हरि विश्व रूप से सर्वत्र ही रहते ही हैं। वे सबके आधार भूत और सर्वात्मक हैं। किम्पुरुष आदि जो आठ वर्ष हैं उनमें शोक, श्रम, उद्वेग और क्षुधा का भय आदि कुछ भी नहीं है। **वहाँ की प्रजा स्वस्थ, आतङ्क हीन और समस्त दुःखों से रहित है तथा वहाँ के लोग दस-बारह हजार वर्ष की स्थिर आयु वाले होते हैं। उनमें वर्षा कभी नहीं होती, केवल पार्थिव जल ही है और न उन स्थानों में कृतत्रेतादि युगों की ही कल्पना है।** इन सभी वर्षों में सात-सात कुल-पर्वत

हैं और उनमे निकली हुई सैकडों नदियाँ हैं। पुष्करद्वीप में सम्पूर्ण प्रजावर्ग सर्वदा (बिना प्रयत्न के) अपने आप ही प्राप्त हुए षड्रस भोजन का आहार करते हैं। स्वादूदक (मीठे पानी के) समुद्र के चारों ओर लोक निवास से शून्य और समस्त जीवों से रहित उससे दूनी स्वर्णमयी भूमि दिखाई देती है। वहाँ दस सहस्रयोजन विस्तार वाला लोकालोक-पर्वत है। वह पर्वत ऊँचाई में भी उतने ही सहस्रयोजन है। उसके आगे उस पवर्त को सब ओर से आवृतकर घोर अन्धकार चारों ओर से ब्रह्माण्ड-कटाह से आवृत्त है। अण्डकटाह के सहित द्वीप, समुद्र और पर्वतादियुक्त यह समस्त भूमण्डल पचास करोड योजन विस्तार वाला है। आकाशादि समस्त भूतों से अधिक गुणवाली यह पृथिवी सम्पूर्ण जगत् की आधार भूता और उसका पालन तथा उद्भव करने वाली है। मैंने तुम से यह पृथ्वी का विस्तार कहा; इसकी ऊँचाई भी सत्तरसहस्र योजन कही जाती है।

सप्त पाताल

अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल और पातल इन सातों में से प्रत्येक दश-दश सहस्र योजन की दूरी पर है। सुन्दर महलों से सुशोभित वहाँ की भूमियाँ शुक्ल, कृष्ण, अरुण और पीत वर्ण की तथा शर्करामयी (कँकरीली), शैली (पत्थर की) और सुवर्णमयी है। उनमें दानव, दैत्य, यक्ष और बडे-बडे नाग आदिकों की सैकडों जातियाँ निवास करती हैं। एक बार नारद जी ने पाताल लोक से स्वर्ग में आकर वहाँ के निवासियों से कहा था कि पाताल तो स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है। जहाँ नागगण के आभूषणों में सुन्दरप्रभायुक्त आह्लादकारिणी शुभ्र मणियाँ जडी हुई है। उस पाताल को किस के समान कहें? जहाँ-तहाँ दैत्य और दानवों की कन्याओं से सुशोभित पाताल लोक में किस मुक्त पुरुष की भी प्रीति न होगी। **जहाँ दिन में सूर्य की किरणें केवल प्रकाश ही करती हैं, घाम नहीं करती; तथा रात में चन्द्रमा की किरणों से शीत नहीं होता, केवल चाँदनी ही फैलती है।** जहाँ भक्ष्य, भोज्य और महापानादि के भोगों से आनन्दित सर्पों तथा दानवादिकों को समय जाता हुआ भी प्रतीत नहीं होता। जहाँ सुन्दर वन, नदियाँ, रमणीय सरोवर और कमलों के वन हैं जहाँ नरकोकिलों की सुमधुर कूक गूँजती है एवं आकाश मनोहारी है और जहाँ पाताल निवासी दैत्य, दानव एवं नागगण-द्वारा अति स्वच्छ आभूषण, सुगन्धमय अनुलेपन, वीणा, वेणु और मृंदगादि के स्वर तथा तूर्य-ये सब भाग्य शालियों के भोगने योग्य और भी अनेक भोग भोगे जाते हैं।

नरक लोक

रौरव, सुकर, रोध, ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित,

रुधिराम्भ, वैतरणि, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्रवन, कृष्ण, लालाभक्ष, दारुण, पूयवह, पाप, वह्निज्वाल, अधःशिरा, सन्देश, कालसूत्र, तमस्, आवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठ और अप्रचि-ये सब तथा इनके सिवा और भी अनेकों महा भयङ्कर नरक हैं, जो यमराज के शासनाधीन हैं और अति दारूण शस्त्र-भय तथा अग्नि-भय देने वाले हैं और जिन में जो पुरुष पापरत होते हैं वे ही गिरते हैं।

जो पुरुष कूटसाक्षी (झूठा गवाह अर्थात् जानकर भी न बतलाने वाला या कुछ का कुछ कहने वाला) होता है अथवा जो पक्षपात से यथार्थ नहीं बोलता और जो मिथ्या-भाषण करता है वह रौरव नरक में जाता है। भ्रूण (गर्भ) नष्ट करने वाले, ग्रामनाशक और गौ-हत्यारे लोग रोध नामक नरक में जाते हैं जो श्वासोच्छ्वास को रोकने वाला है, मद्य-पान करने वाला, ब्रह्मघाती, सुवर्ण चुराने वाला तथा जो पुरुष इनका संग करता है ये सब सुकर नरक में जाते हैं। क्षत्रिय अथवा वैश्य का वध करने वाला ताल नरक में तथा गुरुस्त्री के साथ गमन करने वाला, भगिनीगामी और राजदूतों को मारने वाला पुरुष तप्तकुण्ड नरक में पडता है। सती स्त्री को बेचने वाला, कारागृहरक्षक, अश्व विक्रेता और भक्त पुरुष का त्याग करने वाला ये सब लोग तप्त लोह नरक में गिरते हैं। पुत्रवधू और पुत्री के साथ विषय भोग करने वाला पुरुष महाज्वाला नरक में गिरता है, तथा जो नराधम गुरुजनों का अपमान करने वाला और उनसे दुर्वचन बोलने वाला होता है तथा जो वेद की निन्दा करने वाला, वेद बेचने वाला या अगम्या स्त्री से सम्भोग करता है, वे सब लवण नरक में जाते हैं । चोर तथा मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाला पुरुष विलोहितनरक में गिराता है। देव, द्विज और पितृगण से द्वेष करने वाला तथा रत्न को दुषित करने-वाला कृमिभक्षनरक में और अनिष्ट यज्ञ करने वाला कृमीशनरक में जाता है। जो नराधम पितृगण, देवगण और अतिथियों को छोडकर उनसे पहले भोजन कर लेता है वह अति उग्र लालाभक्षनरक में पडता है और वाण बनाने वाला वेधकनरक में जाता है। जो मनुष्य कर्णी नामक वाण बनाते हैं और जो खड्गादि शस्त्र बनाने वाले हैं वे अति दारुण विशसन नरक में गिरते हैं। असत्-प्रति-ग्रह (दुषित उपायों से धन संग्रह) करने वाला, अयाज्य-याजक और नक्षत्रों प्रजीवी (नक्षत्र-विद्या को न जानकर भी उसका ढोंग रचने वाले) पुरुष अधोमुख नरक में पडता हैं। साहस (निष्ठुर कर्म) करने वाला पुरुष पुयवह नरक में जाता है, तथा (पुत्र-मित्रादि की वञ्चना करके) अकेले ही स्वादु भोजन करने वाला और लाख, मांस, रस, तिल तथा लवण आदि बेचने वाला ब्राह्मण भी उसी (पुयवह) नरक में गिरता है। बिलाव, कुक्कुट, छाग, अश्व, शुकर तथा पक्षियों को (जीविका के लिए) पालने से भी पुरुष उसी नरक में जाता है। नट या मल्ल-वृत्ति से रहने वाला, धीवर का कर्म करने वाला, कुण्ड

(उत्पति से उत्पन्न सन्तान) का अन्न खाने वाला, विष देने वाला, चुगलखोर, स्त्री की असदवृति के आश्रय रहने वाला, धन आदि के लोभ से बिना पर्व के अमावस्या आदि पर्वदिनों का कार्य कराने वाला द्विज, घर में आग लगाने वाला, मित्र की हत्या करने वाला, शकुन आदि बताने वाला, ग्राम का पुरोहित तथा सोम (मदिरा) बेचने वाला - ये सब रुधिरान्धनरक में गिरते हैं। यज्ञ अथवा ग्राम को नष्ट करने वाला पुरुष वैतरणीनरक में जाता है, तथा जो लोग वीर्यपातादि करने वाला, खेतों की बाड तोडने वाले, अपवित्र और छलवृति के आश्रय रहने वाले होते हैं वे कृष्णनरक में गिरते हैं। जो वृथा ही वनों को काटता है वह असिपत्रवन नरक में जाता है। मेषोपजीवी (गडरिये) और व्याधगण वह्निज्वालनरक में गिरते हैं तथा जो कच्चे घडों अथवा ईंट आदि को पकाने के लिये उनमें अग्नि डालते हैं वे भी उस वह्निज्वालनरक में ही जाते हैं। व्रतों को लोप करने वाले तथा अपने आश्रम से पतित दोनों ही प्रकार के पुरुष सन्देश नामक नरक में गिरते हैं। जिन ब्रह्मचारियों का दिन में तथा सोते समय (बुरी भावना से) वीर्यपात हो जाता है, अथवा जो अपने ही पुत्रों से पढते हैं वे लोग स्वभोजननरक में गिरते हैं। इस प्रकार, ये तथा अन्य सैकडों-हजारों नरक हैं जिन में दुष्कर्मी लोग नाना प्रकार की यातनाएँ भोगा करते हैं। इन उपरोक्त पापों के समान और भी सहस्त्रों पाप-कर्म हैं, उनके फल मनुष्य भिन्न-भिन्न नरकों में भोगा करते हैं। जो लोग अपने वर्णाश्रम -धर्म के विरुद्ध मन, वचन अथवा कर्म से कोई आचरण करते हैं वे नरक में गिरते हैं। अधोमुख-नरकनिवासियों को स्वर्ग-लोक में देवगण दिखायी दिया करते हैं और देवता लोग नीचे के लोकों में नारकी जीवों को देखते हैं। पापी लोग नरक भोग के अनन्तर क्रम से स्थावर, कृमि, जलचर, पक्षी, पशु, मनुष्य, धार्मिक पुरुष, देवगण तथा मुमुक्षु होकर जन्म ग्रहण करते हैं। मुमुक्षु पर्यन्त इन सब में दूसरों की अपेक्षा पहले प्राणी (संख्या में सहस्त्र गुण) अधिक हैं। जितने जीव स्वर्ग में हैं उतने ही नरक में हैं, जो पापी पुरुष (अपने पाप का) प्रायश्चित्त नहीं करते वे ही नरक में जाते हैं। भिन्न-भिन्न पापों के अनुरूप जो-जो प्रायश्चित्त हैं उन्हीं-उन्हीं को महर्षियों ने वेदार्थ का स्मरण करके बताया है। स्वायम्भुवन मनु आदि स्मृतिकारों ने महान् पापों के लिए महान् और अल्पों के लिए अल्प प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की है।

चित्त को प्रिय लगने वाला ही स्वर्ग है और उसके विपरीत (अप्रिय लगने वाला ही नरक है। पाप और पुण्य ही के दूसरे नाम नरक और स्वर्ग हैं। जब कि एक ही वस्तु सुख और दुःख तथा ईष्या और कोप का कारण हो जाती है तो उसमें वस्तुतः (नियतस्वभावत्व) ही कहाँ हैं ? क्योंकि एक ही वस्तु कभी प्रीति केकारण होती है तो वही दूसरे समय दुःखदायिनी हो जाती है। और वही कभी क्रोध की हेतु होती है तो

कभी प्रसन्नता देने वाली हो जाती है। अतः कोई भी पदार्थ दुःखमय नहीं है और न कोई सुखमय है। ये सुख-दुःख तो मन के ही विकार हैं (परमार्थतः) ज्ञान ही परब्रह्म है और (अविद्या की उपाधि से)वही बन्धन का कारण है। यह सम्पूर्ण विश्व ज्ञानमय ही हैः ज्ञान से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। हे ! मैत्तेय विद्या और अविद्या को भी तुम ज्ञान ही समझो।

भुर्भूवः आदि सप्त ऊर्ध्वलोकः- जितनी दूर तक सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का प्रकाश जाता है; समुद्र नदी और पर्वतादि से युक्त उतना उतना प्रदेश पृथ्वी कहलाता है। जितना पृथिवी का विस्तार और परिमण्डल (घेरा) है, उतना ही विस्तार परिमण्डल भूवर्लोक का भी है। पृथिवी से एक लाख योजन दूर सूर्यमण्डल है और सूर्य मण्डल से भी एक लक्ष योजन के अन्तर पर चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमा से परे सौ हजार (एक लाख) योजन ऊपर सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल प्रकाशित हो रहा है।

नक्षत्र मण्डल से दो लाख योजन ऊपर बुध और बुध से भी दो लक्ष योजन ऊपर शुक्र स्थित है। शुक्र से इतनी ही दूरी पर मंगल है और मंगल से भी दो लाख योजन ऊपर वृहस्पतिजी हैं। बृहस्पतिजी से दो लाख योजन ऊपर शनि है और शनि से एक लक्ष योजन के अन्तर पर सप्तर्षिमण्डल है। तथा सप्तर्षियों से भी सौ हजार योजन ऊपर समस्त ज्योतिश्चक्र की नाभिरूप ध्रुव मण्डल स्थित है। यह त्रिलोकी यज्ञफल की भोगभूमि है और यज्ञानुष्ठान की स्थिति इस भारतवर्ष में ही है। ध्रुव से एक करोड योजन ऊपर महर्लोक है, जहाँ कल्पान्त पर्यन्त रहने वाले सिद्धगण रहते हैं। उससे भी दो करोड योजन ऊपर जनलोक है जिसमें ब्रह्माजी के प्रख्यात पुत्र निर्मलचित्त सनकादि रहते हैं। जनलोक से चौगुना अर्थात् आठ करोड योजन ऊपर तपलोक है; वहाँ वैराज नामक देवगणों का निवास है जिनका कभी दाह नहीं होता। तप लोक से छः गुणा अर्थात् बारह करोड योजन के अन्तर पर सत्यलोक सुशोभित है जो ब्रह्मलोक भी कहलाता है और जिसमें फिर न मरने वाले अमरगण निवास करते हैं।

जो भी पार्थिव वस्तु चरण संचार के योग्य है वह भूर्लोक ही है । उसका विस्तार मैं कह चुका। पृथिवी और सूर्य के मध्य में जो सिद्ध गण और मुनिगण सेवित स्थान है, वही दूसरा भुवर्लोक है। सूर्य और ध्रुव के बीच में जो चौदह लक्ष योजन का अन्तर है, उसी को लोकास्थिति का विचार करने वालों ने स्वर्लोक कहा है। ये (भु, भुव, स्वः) 'कृतक' त्रैलोक्य कहलाते हैं और जन, तप तथा सत्य-ये तीनों 'अकृतक' लोक हैं। इन कृतक और अकृत त्रिलोकियों के मध्य में महर्लोक कहा जाता है, जो कल्पान्त में केवल जन शून्य हो जाता है, अत्यन्त नष्ट नहीं होता (इसलिए यह 'कृतकाकृत' कहलाता है)।

इस प्रकार मैंनें तुमसे सात लोक और सात ही पाताल कहे। इस ब्रह्माण्ड का बस

इतना ही विस्तार है। यह ब्रह्माण्ड कपित्थ (कैथे) के बीज के समान ऊपर नीचे सब और अण्डकदाह से घिरा हुआ है। यह अण्ड अपने से दुगुने जल से आवृत है और वह जल का सम्पूर्ण आवरण अग्नि से घिरा हुआ है। अग्नि वायु से और वायु आकाश से परिवेष्टित है तथा आकाश भूतों के कारण तामस अहंकार और अहंकार ममत्व से घिरा हुआ है। ये सातों उत्तरोत्तर एक दूसरे दसगुणे हैं। महतत्त्व को भी प्रधान ने आवृत कर रखा है। वह अनन्त है; तथा उसका न कभी अन्त (नाश) होता है और न कोई संख्या ही है; क्योंकि वह अनन्त असंख्येय, अपरिमेय और सम्पूर्ण जगत् का कारण है और वही परा प्रकृति है। उसमें ऐसे -ऐसे हजारों, लाखों तथा सैकडों करोड ब्रह्माण्ड है।

पापियों के नरककुण्डों का निर्णय

हरिसेवां विना साध्वि न लभेत्कर्मखण्डनम्।
शुभकर्म सवर्गबीजं नरकं च कुकर्मतः ॥ 1 (ब्रह्म वै. पु. पृ.392)

हे साध्वि ! बिना भगवान् की सेवा किये कर्मों का नाश नहीं होता है, क्योंकि शुभकर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और कुकर्म से नरक प्राप्त होता है ।

पुंश्चल्यन्नं च यो भुडक्ते वेश्यान्नं च पतिव्रते ।
तां व्रजेत्तु द्विजो यो हि काल सूत्रं प्रयाति सः॥2

हे पतिव्रते ! व्यभिचारिणी स्त्री का अन्न एवं वेश्या का अन्न खाने वाला और वेश्या का भोग करने वाला ब्राह्मण कालसूत्र नामक नरक में जाता है ।

शतवर्ष काल सूत्रे स्थित्वा शूद्रो भवेद् ध्रुवम् ।
तत्र जन्मनि रोगी च ततः शुद्धो भवेद् द्विजः ॥3

वहाँ सौ वर्ष तक कालसूत्र में रहकर अन्त में शूद्र के यहाँ उत्पन्न होता है, और जन्म से ही रोगी रहता है, पश्चात् उस ब्राह्मण की शुद्धि होती है ।

पतिव्रता चैकपत्नी द्वितीये कुलटा स्मृता ।
तृतीये धर्षिणी ज्ञेया चतुर्थे पुंश्चली स्मृता॥4

इस प्रकार एक पति वाली स्त्री पतिव्रता, दो पति वाली स्त्री कुलटा, तीन पतिवाली 'धर्षिणी' और चार पति (पुरुषों से संभोग कराने) वाली स्त्री पुँश्चली कही जाती है।

वेश्या च पञ्चमे षष्ठे युग्मी च सप्तमेऽष्टमे।
तत उर्ध्वं महावेश्या साऽस्पृश्या सर्वजातिषु॥5

पाँच से संभोग कराने वाली को'वेश्या' छह से भोग कराने वाली को 'युग्मी' और इससे अधिक वाली को 'महावेश्या' कहते हैं, वह सभी जातियों में अछूत है।

यो द्विजः कुलटां गच्छेद्धर्षिणीं पुश्चलीमपि।
वेश्यां युग्मीं महावेश्यामवटोदं प्रयातिसः ॥6

जो ब्राह्मण कुलटा, धर्षिणी, पुँश्चली, वेश्या, युग्मी और महावेश्या के साथ संभोग करता है, वह अवटोद नामक नरक में जाता है।

शताब्दं कुलटागामी धृष्टागामी चतुर्गुणम् ।
षड्गुणं पुंश्चलीगामी वेश्यागामी गुणाष्टकम् ॥7
युग्मीगामी दशगुणं वसेत्तत्र न संशयः।
महावेश्याकामुश्च ततः शतगुणं वसेत् ॥8

वहाँ कुलटागामी सौ वर्ष, उससे चौगुने वर्ष धृष्टागामी, उससे छह गुने पुँश्चलीगामी, आठ गुने वेश्यागामी, दस गुने युग्मी गामी और महावेश्यागामी कामी उससे सौ गुने अधिक वर्ष तक रहता है, इसमें संशय नहीं।

तदा हि सर्वगामी चेत्येवमाह पितामहः।
तत्रैव यातनां भुडक्ते यमदूतेन ताडितः ॥9॥

तब वह सर्वगामी भी कहा जाता है, ऐसा ब्रह्मा ने कहा है। इस प्रकार वह वहाँ यमदूतों द्वारा ताड़ित होते हुए यातनाएँ भोगता है।

तित्तिरः कुलटागामी धृष्टागामी च वायसः।
कोकिलः पुश्चलीगामी वेश्यागामी वृकस्तथा ॥10॥
युग्मीगामी सूकरश्च सप्त जन्मसु भारते।
महावेश्या कामुकश्च श्मशाने शाल्मलिस्तरुः ॥11॥

पश्चात् भारत में सात जन्मों तक कुलटागामी तित्तिर, धृष्टागामी कौवा, पुँश्चली गामी कोकिल, वेश्यागामी भेड़िया, युग्मीगामी सूकर, महावेश्यागामी श्मशान मे सेमर का वृक्ष होता हैं।

योभुक्ते ज्ञानहीनश्च ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
अरूंतुदं स यात्येव चन्द्रमानाब्दमेव च ॥12

जो चन्द्र-सूर्य के ग्रहण समय अज्ञनवश भोजन करता है, वह चन्द्रमा के प्रमाण वर्ष तक अरुन्तुद नामक नरक मे रहता हैं।

ततो भवेन्मानवश्चाप्युदरव्याधिसंयुतः।
गुल्मयुक्तश्च काणश्च दन्तहीनस्तत; शुचिः ॥13

पश्चात् मानव के यहाँ जन्म ग्रहण कर उदररोग से पीडित, गुल्म का रोगी, काना और दाँतों से रहित होता हैं। अनन्तर उसकी शुद्धि होती हैं।

वाक्प्रदत्तां हि कन्यां च यश्चान्यस्मै ददाति च।
स वसेत्पांशुभोगे च तद्भोजि च शताब्दकम् ॥14

वाग्दान द्वारा दी हुई कन्या को जो अन्य किसी को दे देता है, वह सौ वर्ष तक पांशु भोग नामक नरक में जाता है और वही (धुलि) भोजन भी करता है।

दत्तापहारी यः साध्वि पाशवेष्टं शताब्दकम् ।
निवसेच्छरशय्यायां यमदूतेन ताडितः ॥15

दान दी हुई वस्तु का अपहरण करने वाला फाँस से आबद्ध होकर शर शय्या नामक नरक में सौ वर्ष तक यमदूतों द्वारा ताडित होता है।

न पूजयेद्यो हि भक्त्या शिवलिंग पार्थिवम् ।
स याति शूलिनः कोपाच्छूलप्रोतं सुदारूणम् ॥16

जो भक्ति पूर्वक भगवान् शंकर के पार्थिव लिंग का पूजन नहीं करता है, वह शंकर जी के कोप के कारण शूल प्रोत नामक अति दारुण नरक में जाता है।

स्थित्वा शताब्दं तत्रैव श्वापदः सप्तजन्मसु।
ततो भवेद्देवलश्च सप्तजन्मस्वतः शुचिः ॥17

वहाँ सौ वर्ष तक यातनाओं को भोगकर यहाँ सात जन्मों तक हिंसक पशु और सात जन्मों तक मन्दिर का पुजारी होता है, अनन्तर शुद्ध होता है।

करोति दण्डं यो विप्रेयद्भयात्कम्पतेद्विजः।
प्रकम्पने वसेत्सोऽपि विप्रलोमाब्दमेव च ॥18

जो ब्रह्माण को दण्ड देता है और जिसके भय से ब्राह्मण कम्पित होता है, वह उस ब्राह्मण के लोक प्रमाण वर्ष तक प्रकम्पन नरक में रहता है।

प्रकोपवदना कोपात्सवामिनं या च पश्यति।
कटूक्तिं तं च वदति याति चोल्कामुखं च सा ॥19

अति क्रोध मुख वाली जो स्त्री क्रुद्ध होकर अपने पति को देखती है और उन्हें कटु वाणी भी कहती है, वह उल्का मुख नामक नरक में जाती है।

उल्कां ददाति वक्त्रे च सततं यमकिंकरः।
दण्डेन ताडयेन्मूर्ध्नि तल्लोमाब्दप्रमाणकम् ॥20

वहाँ यम के दूत निरन्तर उसके मुख में उल्का (जलती हुई लकड़ी) ड़ालते हैं और लोम प्रमाण वर्ष तक दण्ड से उसके शिर पर आघात पहुँचाते हैं।

ततो भवेन्मानवी च विधवा सप्तजन्मसु।
भुक्त्वा दुःखंच वैधव्यं व्याधियुक्ता ततःशुचिः ॥21

पश्चात् सात जन्मों तक वह मनुष्य होकर विधवा होती है। इस भाँति विधवा-दुःख अनुभव करके वह रोगपीड़ित होती है और अनन्तर शुद्ध होती है।

या ब्रह्माणी शूद्रभोग्या साऽन्धकूपं प्रयाति च।
तप्तशौचोदके ध्वान्ते तदाहारा दिवानिशम् ॥22

जो ब्राह्मणी शूद्र से संभोग कराती है, वह अन्धकूप नामक नरक में जाती है। वहाँ शौच के संतप्त जल में और अँधेरे में वही पीकर दिन-रात रहती है।

निवसेदतिसंतप्ता यमदूतेन ताड़िता।
शौचोदके निमग्ना च यावदिन्द्राश्चतुर्दश॥23

इस भाँति अति संतप्त होकर निवास करने पर भी यमदूत उसे ताड़ना देते हैं। इस प्रकार उस शौचजल में वह चौदह इन्द्रों के समय तक रहती है।

काकी जन्मसहस्राणि शतजन्मानि सूकरी।
कुक्कूटी शतजन्मानि शृगाली सप्तजन्मसु॥24
पारावती सप्तजनौ वानरी सप्तजन्मसु।
ततो भवेत्सा चण्डाली सर्वभोग्या च भारते॥25
ततो भवेच्चरजकी यक्ष्मग्रस्ता च पुंश्चली।
ततः कुष्ठयुता तैलकारी शुद्धा भवेन्ततः॥ 26

पश्चात् भारत में सहस्र जन्मों तक कौवें की मादा, सौ जन्मों तक सूकरी, सौ जन्मों तक मुर्गी, सात जन्मों तक सियारिन, सात जन्मों तक कबूतरी, और सात जन्मों तक वानरी होकर अनन्तर भारत में चाण्ड़ाली, सर्वजनभोग्या, धोबिन तथा यक्ष्मा से पीड़ित वेश्या होती है। अनन्तर कुष्ठ रोग से पीड़ित तेलिन होती है तब उसकी शुद्धि होती है।

वेश्या वसेद्वेधने च युग्मी वै दण्डताडने।
जालबन्धे महावेश्या कुलटा देहचूर्ण के ॥27
स्वैरिणी दलने चैव धृष्टा वै शौषणे तथा ।
निवसेद्यातनायुक्ता यमदूतेन ताडिता॥28
विष्मूत्रभक्षणं तत्र यावन्मत्वन्तरं सति।
ततो भवेद्विट्कृमिश्च वर्षलक्षं ततः शुचि॥29

उसी प्रकार वेश्या वेधन नरक में युग्मी दण्डताडन नरक में, महावेश्या जालबन्ध नरक में, कुलटा देहचूर्ण नरक में तथा स्वैरिणी दलन नरक में, धृश्टा शोषण नरक में जाती है और यमदूतों द्वारा ताड़ित होकर भाँति-भाँति की यातनाओं को सहन करती हैं। इस प्रकार एक मन्वंतर के समय तक वहाँ विष्ठा भक्षण करके रहती है। पश्चात् लाखवर्ष तक

विष्ठा का कीड़ा होती है। तब उसकी शुद्धि होती है।

ब्रह्मणो ब्रह्माणीं गच्छेत्क्षत्रियामपि क्षत्रियः।
वैश्यो वैश्यां च शूद्रां च शूद्रो वाऽपि वज्रेद्यदि॥30
स्वर्णपरदारी च कषं याति तया सह।
भुक्त्वा कषायतप्तोदं निवसेदद्वादशाब्दकम् ॥31

यदि ब्राह्माण किसी अन्य ब्राह्मणी के साथ, क्षत्रिय अन्य क्षत्रियपत्नी के साथ, वैश्य अन्य वैश्य की पत्नी के साथ और शूद्र अन्य शूद्र की पत्नी के साथ संभोग करता है, तो वह अपनी जाति की अन्य स्त्री के साथ रमण करने वाला पुरुष उस स्त्री के साथ कष नरक में जाता है वहाँ बारह वर्ष तक कसैला और तप्त जल वाले कुण्ड में रहकर वही पान करते हुए निवास करता है।

ततो विप्रो भवेच्छुश्चैवं च क्षत्रियादयः।
योषितश्चापि शुध्यन्ती त्येवमाह पितामहः॥32

अनन्तर ब्राह्मण शुद्ध होता है। इस प्रकार क्षत्रिय आदि और स्त्रियाँ शुद्ध होती हैं ऐसा ब्रह्मा ने स्वयं कहा है।

क्षत्रियो ब्राह्मणीं गच्छेदेश्यो वाऽपि पतिव्रते।
मातृगामी भवेत्सोऽपि शूर्पच नरकं व्रजेत् ॥33

हे पतिव्रते ! क्षत्रिय या वैश्य यदि ब्राह्मणी के साथ रमण करता है, वह मातृगार्मी माता के साथ व्यभिचार करने वाला) कहा जाता है और वह शूर्प नामक नरक में जाता है।

शूर्पाकारैश्च कृमिभिर्ब्राह्मण्या सह भक्षितः।
प्रतप्तमूत्रभोजो च यमदूतेन ताड़ितः॥34

वहाँ सूप के आकार वाले कीड़े ब्राह्मणी समेत उस पुरुष को नित्य (काट-काट कर) खाते हैं और पुरुष खौलते हुए मूत्र का पान करता है और यमदूतों द्वारा ताड़ित होता है।

तत्रैव यातनां भुङ्क्ते यावदिन्द्राश्चतुर्दश।
सप्तजन्मसु वाराहइछागलश्च ततः शुचिः॥ 35

इस प्रकार चौदह इन्द्रों के समय तक वहाँ यातनाओं को भोगकर यहाँ सात जन्मों तक सूकर और बकरा होता है, तब उसकी शुद्धि होती है।

करे धृत्वा च तुलसीं प्रतिज्ञां यो न पालयेत्।
मिथ्या वा शपथं कुर्यात्स च ज्वालामुखं व्रजेत्॥36

हाथ में तुलसी लिए प्रतिज्ञा करके जो कोई उसका पालन नहीं करता है अथवा मिथ्या शपथ करता है, वह ज्वाला मुख नरक में जाता है।

गंगातोयं करे धृत्वा प्रतिज्ञां यो न पालयेत्।
शिलां च देवप्रतिमां स च ज्वालामुखं व्रजेत् ।।37

जो हाथ में गंगाजल, शालग्रामशिला या देव प्रतिमा को लिए प्रतिज्ञा करता है और उसका पालन नहीं करता है, वह भी ज्वालामुख नामक नरक में जाता है।

दत्वा च दक्षिणं हस्तं प्रतिज्ञां यो न पालयेत् ।
स्थित्वा देवगृहे वाऽपि स च ज्वालामुखं व्रजेत् ।।38

अपना दाहिना हाथ देकर जो प्रतिज्ञा करता है या देव मन्दिर में रहकर प्रतिज्ञा करता है और उसका पालन नहीं करता है, वह ज्वालामुख नरक में जाता है।

स्पृष्ट्वा च ब्राह्मणं गां च वहिं विष्णुसमं सति।
न पालयेत्प्रतिज्ञां च स च ज्वालामुखं व्रजेत्ै ।।39

विष्णु के समान होने वाले ब्राह्मण, गौ और अग्नि का स्पर्श करके जो प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता है, वह ज्वाला मुख नरक में जाता है।

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यो हि विश्वासघातकः।
मिथ्यासाक्ष्यप्रदश्चैव स च ज्वालामुखं व्रजेत्ै ।।40

मित्र का द्रोही, कृतघ्न (उपकार न मानने वाला), विश्वासघाती एवं झूठी गवाही देनेवाला ज्वाला मुख नरक में जाता है।

एते तत्र वत्सन्त्येव यावदिन्द्राश्चतुर्दश।
यथाऽङ्.गर प्रदग्धाश्च यमदूतैश्च ताडिताः ।।41

इस प्रकार ये सभी प्राणी चौदह इन्द्रों के समय तक वहाँ अंगार से जले हुए की भाँति संतप्त रहते हुए निरन्तर यमदूतों द्वारा ताडित होते हैं।

चण्डालस्तुलसीस्पर्शी सप्तजन्मस्वतः शुचिः।
म्लेच्छो गंगाज़लस्पर्शी पञ्चजन्मस्वतः शुचिः ।।42
शिलास्पर्शी विटकृमिश्च सप्तजन्मसु सुन्दरि।
अर्चास्पर्शी व्रणकृमिः सप्तजन्मस्वतःशुचिः ।। 43

तुलसी का स्पर्श करके झूठी शपथ खाने वाला सात जन्मों तक चाण्डाल होने के बाद शुद्ध होता है और गंगाजल का स्पर्श करके झूठी शपथ खाने वाला पाँच जन्मों तक म्लेच्छ होकर शुद्ध होता है। शालग्राम शिला का स्पर्श करके झूठी शपथ खाने वाला सात जन्मों तक विष्ठा का कीड़ा होता है और अर्चा का स्पर्श के मिथ्या शपथ करने वाला सात जन्मों तक घाव का कीडा होता है और अनन्तर शुद्ध होता है।

दक्षहस्तप्रदाता च सर्पः स्यात् सप्तजन्मसु।
ततो भवेद्धस्तहीनो मानवश्च ततः शुचिः ।।44

दाहिने हाथ को आगे रखकर मिथ्या शपथ करने वाला सात जन्मों तक सर्प होता है। पश्चात् हाथ रहित मनुष्य होकर शुद्ध होता है।

मिथ्यावादी देवगृहे देवलः सप्त जन्मसु।
विप्रादिस्पर्शकारी च सोऽग्रदानी भवेद्ध्रुवम् ।।45

देव मन्दिर में झूँठ बोलने वाला सात जन्मों तक देवल (मन्दिर का पुजारी) होता है। ब्राह्मण आदि का स्पर्श करने वाला निश्चित महापात्र होता है।

ततो भवन्ति मूकास्ते बधिशश्च त्रिजन्मसु।
भार्याहीना वंशहीना बुद्धिहीनास्ततः शुचिः ।।46

अनन्तर तीन जन्म तक गूँगा और बहरा होता है, जो स्त्री हीन, सन्तान हीन, और बुद्धि हीन रहता है पश्चात् शुद्ध होता है।

मित्रद्रोही च नकुलः कृतघ्नश्चापि गण्डकः।
विश्वासघाती व्याघ्रश्च सप्तजन्मसु भारते ।।47
मिथ्यासाक्ष्यप्रदश्चैव भल्लूकः सप्तजन्मसु।
पूर्वान्सप्त परा सप्त पुरुषान्हन्ति चाऽऽत्मनः ।।48

मित्र का द्रोही भारत में सात जन्मों तक नेवला, कृतघ्न गैंड़ा, विश्वासघाती बाघ और झूठी गवाही देने वाला भालू होता है। इस प्रकार ये सभी सात जन्मों तक अपने-अपने दुष्परिणाम भोगते हैं तथा अपने-अपने पूर्व और पर की सात-सात पीढियों को भी नरक ले जाकर हनन करते हैं।

नित्यक्रियाविहीनश्च जडत्वेन युतो द्विजः।
यस्यानास्था वेदवाक्यं मन्दं हसीतसंततम् ।।49
व्रतोपवासहीनश्चसद्वाक्य परिनिन्दकः।
जिह्मे-जिह्मे वसेत्सोऽपि शताष्दं च हिमोदके ।।50

जो नित्य-क्रिया से हीन एवं जड (मूर्ख) ब्राह्मण है, जो वेद वाक्यों में अविश्वास रखने वाला है, जो मन्द बुद्धि वाले मूर्ख का निरन्तर उपहास करता है, जो व्रत-उपवास से रहित होकर सात्त्विक बातों की भलीभाँति निन्दा करता है और कुटील के साथ कुटिल बन जाता है, वह हिम (बर्फ) के कुण्ड में सौ वर्ष दुःखानुभव करता है।

जलजन्तुर्भवेत्सोऽपि शतजन्म क्रमेण च।
ततो नाना प्रकाश च मत्स्यजातिश्ततः शुचिः ।।51

पश्चात् सौ जन्मों तक क्रमशः जल-जीव और अनेक भाँति की मछली होता है, तब उसकी शुद्धि होती है।

यो वा धनस्यापहारं देवब्राह्मणयोश्चरेत्।
पातयित्वा स्वपुरूषान्दश पूर्वान्दशापरान्।।52
स्वयं याति च धूर्मान्धं धूमध्वान्तसमन्वितम्।
धूम क्लिष्टो धूम भोजी वसेत्तत्र चतुर्युगम्।।53

जो देवों या ब्राह्मणों का धन अपहरण करता है, वह अपने पूर्व के दश और पर के दस पुरुषों को नरक भेजकर स्वयं धूमांध नामक नरक में जाता है, जो धूम के घने अंधकार से आच्छन्न रहता है। वहाँ धूम से दुःखी होकर धूम का भोजन करता हुआ वह चारों युगों के समय तक रहता है।

ततो मूषकजातिश्च शतजन्मानि भारते।
ततो नानाविधाः पक्षिजातयः कृमिजातयः ।।54

पश्चात् भारत में सौ जन्मों तक मूषक (चूहा), अनेक भाँति के पक्षी और अनेक रंग के कीडे होता है।

ततो नानाविधा वृक्षजातयश्च ततो नरः।
भार्याहीनो वशंहीनः शबरोव्याधि संयुतः।।55

पुनः अनेक भाँति के वृक्ष होकर जंगली मनुष्य होता है, जो स्त्री हीन, सन्तानहीन, और व्याधि-पीड़ित रहता है।

ततो भवेत्स्वर्णकारः सुवर्णस्य वणिक्तथा।
ततो यवनसेवी च ब्राह्मणो गणकस्ततः।।56

अनन्तर सुनार, सुवर्ण का व्यापारी, यवन (मुसलमान) का सेवक और ज्योतिष का ज्ञाता ब्राह्मण होता है।

विप्रो दैवज्ञोपजीवी वैद्यजीवा चिकित्सकः।
व्यापारी लोहलाक्षादे रसादे विक्रयीच यः।।57
स याति नागवेष्टं च नागैर्वेष्टित एव च ।
वेसत्स्वलोभमानाब्दं तत्र वै नागदंशितः।।58

जो ब्राह्मण ज्योतिष शास्त्र से अपनी जीविका चलाता है, चिकित्सक वैद्य होता है, लोहा, लाख (लाह) का व्यापारी और रस (भस्म) का विक्रेता होता है, वह नागवेष्ट नामक नरक में जाता है। वहाँ नागों (सर्पों) से आवेष्टित होकर अपने लोभ के प्रमाण वर्ष तक रहता है और नित्य नाग लोग उसे काटते रहते हैं।

ततो भवेत्स गणको वेद्यो वै सप्तजन्मसु।
गोपश्च कर्मकारश्च शङ्खकारस्ततः शुचिः।।59
प्रसिद्धानि च कुण्डानि कथितानि पतिव्रते।
अन्यानि चाप्रसिद्धानि तत्र क्षुद्राणिसन्ति वै।।60
सन्ति पातकिनस्तेषु स्वकर्मफल भोगिनः।
भ्रमन्ति तावत्संसारे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।।61

पश्चात् सात जन्मों तक ज्योतिषी, वैद्य, गोप (अहीर) कर्मकार (बढई) और शंख बनाने वालों की जाति में उत्पन्न होता है, तब उनकी शुद्धि होती है। इस प्रकार प्रसिद्ध कुण्डों को तो मैंने तुम्हें बता दिया है। इसी भाँति अन्य अप्रसिद्ध कुण्ड भी वहाँ बहुत हैं और इनसे छोटे-छोटे भी कुण्ड हैं जिनमें अपने कर्म के फल भोगने वाले पातकी पडे रहते हैं जो संसार में भी इधर-उधर भ्रमण किया-करते हैं। अनन्तर अब क्या सुनना चाहती हो।

विभिन्न प्रलय-सृष्टि

समस्त भूतों का चार प्रकार का प्रलय है-नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य उनमें से नैमित्तक प्रलय ही बाह्य प्रलय है, जिसमें जगत्पति ब्रह्माजी कल्पान्त में शयन करते हैं; तथा प्राकृतिक प्रलय में ब्रह्माण्ड प्रकृति में लीन हो जाता है। ज्ञान के द्वारा योगी का परमात्मा में लीन हो जाना आत्यन्तिक प्रलय है और रात-दिन जो भूतों का क्षय होता है वही नित्य-प्रलय है प्रकृति से महत्वादि-क्रम से जो सृष्टि होती है वह प्राकृतिक सृष्टि कहलाती है और अवान्तर-प्रलय के अनन्तर जो (ब्रह्मा के द्वारा) चराचर जगत् की उत्पति होती है वह दैनन्दिनी सृष्टि कही जाती है और जिसमें प्रतिदिन प्राणियों की उत्पत्ति होती रहती है। उसे पुराणार्थ में कुशल महानुभावों ने नित्य-सृष्टि कहा है। इस प्रकार समस्त शरीर में स्थित भूत भावन भगवान् विष्णु जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते रहते हैं। सृष्टि, स्थिति और विनाश की इन वैष्णवी शक्तियों का समस्त शरीरों में समान भाव से अहर्निश सञ्चार रहता है। ये तीनों महती शक्तियाँ त्रिगुणमयी है। अतः जो जन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर जाता है वह परम पद को ही प्राप्त कर लेता है, फिर जन्म-मरणादि के चक्र में नहीं पडता।

सब वस्तुओं का जो कारण होता है वही उनका साधन भी होता है और जिस अपनी अभिमत वस्तु की सिद्धि की जाती है वही साध्य कहलाती है। मुक्ति की इच्छा वाले योगिजनों के लिए प्राणायाम आदि साधन हैं और परब्रह्म ही साध्य जहाँ से फिर लौटना नहीं पडता। जो योगी की मुक्ति का कारण है। वह साधनालम्बन ज्ञान ही उस ब्रह्मभूत परमपद का प्रथम भेद है। क्लेश बन्धन से मुक्त होने के लिये योगाभ्यासी योगी का

साध्यरूप जो ब्रह्म है, उसका ज्ञान ही आलम्बन-विज्ञान नामक दूसरा भेद है। इन दोनों साध्य-साधनों का अभेद पूर्वक जो **'अद्वैतमय ज्ञान'** है उसी को मैं तीसरा भेद करता हूँ और उक्त तीनों प्रकार के ज्ञान की विशेषता निराकरण करने पर अनुभव हुए आत्म स्वरूप के समान ज्ञान-स्वरूप भगवान् विष्णु का जो निर्व्यापार अनिर्वचनीय, व्याप्तिमात्र, अनुपम, आत्मबोध स्वरूप, सत्तामात्र, अलक्षण, शान्त, अभय, शुद्ध, भावनातीत और आश्रय हीन रूप हैं, 'ब्रह्म' नामक ज्ञान (उसका चौथा भेद) है। जो योगिजन अन्य ज्ञानों का निरोधकर इस (चौथे भेद) में ही लीन हो जाते हैं। वे इस संसार क्षेत्र के भीतर बीजारोपण रूप कर्म करने में निर्बीज वासना रहित होते हैं। अर्थात् वे लोक संग्रह के लिये कर्म करते भी रहते हैं, तो भी उन्हें उन कर्मों का कोई पाप-पुण्य रूप फल प्राप्त नहीं होता इस प्रकार का वह निर्मल, नित्य, व्यापक, अक्षय और समस्त हेय गुणों से रहित विष्णु नामक परम पद है। पुण्य-पाप का क्षय और क्लेशों की निवृत्ति होने पर जो अत्यन्त निर्मल हो जाता है वही योगी उस परब्रह्म का आश्रय लेता है जहाँ से वह फिर नहीं लौटता।

उस ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप हैं, जो क्षर और अक्ष रूप समस्त प्राणियों में स्थित हैं। अक्षर ही वह परब्रह्म है और क्षर सम्पूर्ण जगत् है। जिस प्रकार एकदेशीय अग्नि का प्रकाश सर्वत्र फैला रहता है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म की ही शक्ति है। अग्नि की निकटता और दूरता के भेद से जिस प्रकार उसके प्रकाश में भी अधिकता और न्यूनता का भेद रहता है उसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति में भी तारतम्यता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं । उनसे न्यून देवगण हैं तथा उनके अनन्तर दक्ष आदि प्रजापतिगण हैं। उनसे भी न्यून मनुष्य, पशु, पक्षी मृग और सरीसृपादि हैं तथा उनसे भी अन्यन्त न्यून, वृक्ष, गुल्म और लता आदि हैं। अतःआविर्भाव (उत्पन्न होना) तिरोभाव (छिपजाना) जन्म और नाश आदि विकल्पयुक्त भी यह सम्पूर्ण जगत् वास्तव में नित्य और अक्षय ही है।

नैमित्तिक प्रलय

आप मुझे परार्द्ध की संख्या बतलाइये, जिसको दूना करने से प्राकृत प्रलय का परिणाम जाना जा सके। (विष्णु पुराण पृ. 505)

एक से लेकर क्रमशः दशगुण गिनते-गिनते जो अठारहवीं बार गिनी जाती है वह संख्या परार्द्ध कहलाती है।

इस परार्द्ध की दूनी संख्या वाला प्राकृत प्रलय है, उस समय यह सम्पूर्ण जगत् अपने कारण अव्यक्त में लीन हो जाता है । मनुष्य का निमेष ही एक मात्रा वाले अक्षर के उच्चारण-काल के समान परिमाण वाला होने से मात्रा कहलाता है ; उन पन्द्रह निमषों की

एक काष्ठा होती है और तीस काष्ठा की एक कला कही जाती है। पन्द्रह कला एक नाडिका का प्रमाण है । वह नाडिका साढे बारह पल ताँबे के बने हुए जल के पात्र से जानी जा सकती है। मगधदेशीय माप से वह पात्र जलप्रस्थ कहलाता है; उसमें चार अङ्गुल लम्बी चार मासे की सुवर्ण-शलाका से छिद्र किया रहता है (उसके छिद्र को ऊपर करके जल में डुबों देने से जितनी देर में वह पात्र भर जाये उतने ही समय को एक नाडिका समझना चाहिये) ऐसी दो नाडिकाओं का एक मुहूर्त होता है, तीस मुहूर्त का एक दिन-रात होता है तथा इतने (तीस) ही दिन-रात का एक मास होता है, बारह मास का एक वर्ष होता है, देवलोक में यही एक दिन-रात होता है । ऐसे तीन सौ साठ वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षों का एक चतुर्युग होता है और एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है ।

यही एक कल्प है। इसमें चौदह मनु बीत जाते हैं। इसके अन्त में ब्रह्मा का नैमित्तिक प्रलय होता हैं। मैं उस नैमित्तिक प्रलय का अत्यन्त भयानक रूप वर्णन करता हूँ। इसके पीछे मैं तुमसे प्राकृत प्रलय का भी वर्णन करूँगा। एक सहस्रचतुर्यु बीतने पर जब पृथिवी क्षीण काय हो जाती है तो सो वर्ष तक अति घोर अनावृष्टि होती है। उस समय जो पार्थिक जीव अल्प शक्ति वाले होते हैं वे सब अनावृष्टि से पीडित होकर सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर, रुद्र रूप धारी अव्ययात्मा भगवान् विष्णु संसार का क्षय करने के लिये सम्पूर्ण प्रजा को अपने में लीन कर लेने का प्रयत्न करते हैं ।

उस समय भगवान् विष्णु सूर्य की सातों किरणों मे स्थित होकर सम्पूर्ण जल को सोख लेते हैं। इस प्रकार प्राणियों तथा पृथ्वी के अन्तर्गत सम्पूर्ण जल को सोख कर वे समस्त भूमण्डल को शुष्क कर देते हैं। समुद्र तथा नदियों में, पर्वतीय सरिताओं और स्त्रोतों में तथा विभिन्न पातालों में जितना जल है वे सबको सुखा डालते हैं। तब भगवान् के प्रभाव से प्रभावित होकर तथा जल पान से पृष्ट होकर वे सातों सूर्य रश्मियाँ सात सूर्य हो जाती हैं। उस समय ऊपर-नीचे सब ओर दैदिप्य मान होकर वे सातों सूर्य पाताल पर्यन्त सम्पूर्ण त्रिलोकी को भस्म कर डालते हैं। उन प्रदीप्त भास्करों से दग्ध हुई त्रिलोकी पर्वत, नदी और समुद्रादि के सहित सर्वथा नीरस हो जाती है। उस समय सम्पूर्ण त्रिलोकी के वृक्ष और जल-आदि के दग्ध हो जाने से यह पृथिवी कछुए की पीठ के समान कठोर हो जाती है। तब, सबको नष्ट करने के लिये उद्यत हुए श्री हरि कालाग्निरुद्ररूप से शेषनाग के मुख से प्रकट होकर नीचे से पातालो को जलाना आरम्भ करते हैं। वह महान् अग्नि समस्त पातालों में जाकर पृथिवी पर पहुँचती है और सम्पूर्ण भूतल को भस्म कर डालती है। तब वह दारुण अग्नि भुवर्लोक तथा स्वर्ग लोक को जला डालती है। और वह ज्वाला समूह

का महान् आवर्त वहीं चक्कर लगाने लगता है। इस प्रकार अग्नि के आवर्तो से घिरकर सम्पूर्ण चराचर के नष्ट हो जाने पर समस्त त्रिलोकी एक तप्त कराह के समान प्रतीत होने लगती है। तदनन्तर अवस्था के परिवर्तन से परलोक की चाह वाले भुवर्लोक और स्वर्गलोक में रहने वाले (मन्वादि)अधिकारीगण अग्नि ज्वाला से सन्तप्त होकर महर्लोक चले जाते हैं किन्तु वहाँ भी उस उग्र कालानल के महाताप से सन्तप्त होने के कारण वे उससे बचने के लिये जनलोक में चले जाते हैं। तदनन्तर रुद्र रूपी भगवान् विष्णु सम्पूर्ण संसार को दग्ध करके अपने मुख-निःश्वास से मेघों को उत्पन्न करते हैं। तब विद्युत् से युक्त भयंकर गर्जना करने वाले गज समूह के समान बृहदाकार संवर्तक नामक घोर मेघ आकाश में उठते हैं। उनमें से कोई मेघ नील कमल के समान श्याम वर्ण, कोई कुमुद-कुसुम के समान श्वेत, कोई धूमवर्ण और कोई पीतवर्ण होते हैं। कोई गधेके-से वर्णवाले, कोई लाख के-से रंग वाले, कोई वैडूर्य-मणि के समान और कोई इन्द्रनील-मणि के समान होते हैं। कोई शंख और कुन्द के समान श्वेतवर्ण, कोई जाती(चमेली) के समान उज्जवल और कोई कज्जल के समान श्यामवर्ण, कोई इन्द्रगोप के समान रक्तवर्ण और कोई मयूर के समान विचित्र वर्ण वाले होते हैं। कोई गेरु के समान, कोई हरिताल के समान और कोई महामेघ, नील-कण्ठ के पंक के समान रंग वाले होते हैं। कोई नगर के समान, कोई पर्वत के समान और कूटागार (गृह विशेष) के समान बृहदाकार होते हैं तथा कोई पृथ्वीतल के समान विस्तृत होते हैं। वे घनघोर शब्द करने वाले महाकाय मेघगण आकाश को आच्छादित कर लेते हैं और मुसलाधार जल बरसाकर त्रिलोकव्यापी भयंकर अग्नि को शान्त कर देते हैं। अग्नि के नष्ट हो जाने पर भी अहर्निश निरन्तर बरसते हुए वे मेघ सम्पूर्ण जगत को जल में डूबो देते हैं। अपनी अति स्थूल धाराओं से भुर्लोक को जल में डुबोकर वे भुवर्लोक तथा उसके भी ऊपर के लोकों को भी जलमग्न कर देते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के अन्धकारमय हो जाने पर तथा सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम में जीवों के नष्ट हो जाने पर भी वे महामेघ सौ वर्ष अधिक काल तक बरसते रहते हैं ।

प्राकृत प्रलयः- जब जल सप्तर्षियों के स्थान को भी पार कर जाता है तो यह सम्पूर्ण त्रिलोकी एक महासमुद्र के समान हो जाती है। तदनन्तर, भगवान् विष्णु के मुख-निःश्वास से प्रकट हुआ वायु उन मेघों को नष्ट करके पुनः सौ वर्ष तक चलता रहता है फिर जनलोक निवासी सनकादि सिद्धगण से स्तुत और ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए मुमुक्षुओं से ध्यान किये जाते हुए सर्वभूतमय, अचिन्त्य, अनादि, जगत के आदि कारण आदिकर्ता, भूतभावन, मधुसूदन भगवान हरि विश्व की सम्पूर्ण वायु को पीकर अपनी दिव्यमायारूपिणी योगनिद्रा का आश्रय ले वासुदेवात्मक स्वरूप का चिन्तन

करते हुए उस महासमुद्र में शेषशय्या पर शयन करते हैं। इस प्रलय के होने में ब्रह्मारूपधारी भगवान हरि का शयन करना ही निमित्त हैं; इसलिये यह नैमित्तिक प्रलय कहलाता है। जिस समय सर्वात्मा भगवान् विष्णु जागते रहते हैं उस समय सम्पूर्ण संसार की चेष्टाएँ होती रहती हैं और जिस समय वे अच्युत मायारूपी शय्या पर सो जाते हैं उस समय संसार भी लीन हो जाता है। जिस प्रकार ब्रह्माजी का दिन एक हजार चतुर्युग का होता है उसी प्रकार संसार के एकार्णवरूप हो जाने पर उनकी रात्रि भी उतनी ही बडी होती है उस रात्रि का अन्त होने पर अजन्मा भगवान् विष्णु जागते हैं और ब्रह्मा रूप धारणकर, जैसा तुमसे पहले कहा था उसी क्रम से फिर सृष्टि रचते हैं।

इस प्रकार तुम से कल्पान्त में होने वाले नैमित्तिक एवं अवान्तर-प्रलय का वर्णन किया। अब दूसरे प्राकृत प्रलय का वर्णन सुनो ! अनावृष्टि आदि के संयोग से सम्पूर्ण और निखिल पातालों के नष्ट हो जाने पर तथा भगवदिच्छा से उस प्रलयकाल के उपस्थित होने पर जब महत्व से लेकर (पृथिवी आदि पञ्च)विशेष पर्यन्त सम्पूर्ण विकार क्षीण हो जाते हैं तो प्रथम जल पृथिवी के गुण गन्ध को अपने में लीन कर लेता है। इस प्रकार गंध छीन लिए जाने से पृथिवी का प्रलय हो जाता है। गंध तन्मात्रा के नष्ट हो जाने पर पृथिवी जलमय हो जाती है, उस समय बडे वेग से घोर शब्द करता हुआ जल बढकर इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लेता है। यह जल कभी स्थिर होता और कभी बहने लगता है । इस प्रकार तरङ्गमालाओं से पूर्ण इस जल से सम्पूर्ण लोक सब ओर से व्याप्त हो जाते हैं। तदनन्तर जल के गुण रस को तेज अपने में लीन करता है। इस प्रकार रस-तन्मात्रा का क्षय हो जाने से जल भी नष्ट हो जाता है। तब रसहीन हो जाने से जल अग्निरूप हो जाता है तथा अग्नि के सब और व्याप्त हो जाने से जल के अग्नि में स्थित हो जाने पर वह अग्नि सब ओर फैलकर सम्पूर्ण जल को सोख लेती है और धीरे-धीरे यह सम्पूर्ण जगत् ज्वाला से पूर्ण हो जाता है। जिस समय सम्पूर्ण लोक ऊपर-नीचे तथा सब ओर अग्नि शिखाओं से व्याप्त हो जाता है उस समय अग्नि के प्रकाशक स्वरूप को वायु अपने में लीन कर लेता है। सब के प्राण स्वरूप उस वायु में जब अग्नि का प्रकाशक रूप लीन हो जाता है तो रूप-तन्मात्रा के नष्ट हो जाने से अग्नि रूपहीन हो जाती है।

उस समय संसार के प्रकाश हीन और तेज के वायु में लीन हो जाने से अग्नि शान्त हो जाती है और अति प्रचण्ड वायु चलने लगती है। तब अपने उद्भवस्थान आकाश का आश्रय वह प्रचण्ड वायु ऊपर नीचे तथा सब ओर दशों दिशाओं में बडे वेग से चलने लगती है। तदन्तर वायु के गुण स्पर्श को आकाश लीन कर लेता है; तब वायु शान्त हो जाती है और आकाश आवरणहीन हो जाता है। उस समय रूप, रस, स्पर्श, गंध तथा

आकाश से रहित अत्यन्त महान् एक आकाश ही सबको व्याप्त करके प्रकाशित होता है। उस समय चारों ओर से गोल, छिद्र स्वरूप शब्दलक्षण आकाश ही शेष रहता है और वह शब्दमात्र आकाश सबको आच्छादित किये रहता है। तदनन्तर आकाश के गुण शब्द को भूतादि ग्रस लेते हैं। इस भूतादि में ही एक साथ पञ्चभूत और इन्द्रियों का भी लय हो जाने पर केवल अंहकारात्मक रह जाने से यह तामस (तमःप्रधान) कहलाता है। फिर इस भूतादि को भी (सत्वप्रधान होने से) बुद्धि रूप महतत्त्व ग्रस लेता है। जिस प्रकार पृथ्वी और महतत्त्व ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत् की आदि-अनन्त सीमाएँ हैं। उसी प्रकार उसके बाह्य जगत् की भी हैं इसी तरह जो सात आवरण बताये गये हैं। वे सब भी प्रलय काल में (पूर्ववत् पृथिवी आदि क्रम से) परस्पर (अपने-अपने कारणों में) लीन हो जाते हैं। जिससे यह समस्त लोक व्याप्त है वह सम्पूर्ण भूमण्डल सातों, द्वीप सातों समुद्र, सातों लोक और सकल पर्वत श्रेणियों के सहित जल में लीन हो जाते हैं। फिर जो जल का आवरण है उसे अग्नि पी जाती है तथा अग्नि वायु में और वायु आकाश में लीन हो जाती है। आकाश को भूतादि (तामस अहंकार) भूतादि को महतत्त्व और इन सबसे सहित महतत्व को मूल प्रकृति अपने में लीन कर लेती है। न्यूनाधिक से रहित जो सत्त्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्था है उसी को प्रकृति कहते हैं; इसी का नाम प्रधान भी है। यह प्रधान ही सम्पूर्ण जगत् का परम कारण है। यह प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त रूप से सर्वमयी है। इसलिये अव्यक्त में व्यक्त रूप लीन हो जाता है।

इससे पृथक् जो एक शुद्ध, अक्षर, नित्य और सर्वव्यापक पुरुष है वह भी सर्वभूत परमात्मा का अंश ही है। जिस सत्तामात्र स्वरूप आत्मा (देहादि संघात) से पृथक् रहने वाले ज्ञानात्मा एवं ज्ञातव्य सर्वेश्वर में नाम और जाति आदि की कल्पना नहीं है। वही सबका परम आश्रय परब्रह्म परमात्मा है और वही ईश्वर है। वह विष्णु ही इस अखिल विश्व रूप से अवस्थित है। उसको प्राप्त हो जाने पर योगिजन फिर इस संसार में नहीं लौटते।

मैंने तुमसे जो द्विपरार्द्धकाल कहा है वह उन विष्णु भगवान् का केवल एक दिन है। व्यक्त जगत् के अव्यक्त प्रकृति में और प्रकृति के पुरुष में लीन हो जाने पर इतने ही काल की विष्णुभगवान् की रात्रि होती है। वास्तव में तो उन नित्य परमात्मा का न कोई दिन है और न रात्रि तथापि केवल उपचार (अध्यारोप) से ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार मैंने तुमसे यह प्राकृत प्रलय का वर्णन किया, अब तुम आत्यन्तिक प्रलय का वर्णन और सुनो।

आत्यन्तिक प्रलय (मुक्ति)

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों तापों को जानकर ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न होने पर पण्डितजन आत्यन्तिक प्रलय प्राप्त करते हैं। आध्यात्मिक

ताप शरीरिक और मानसिक दो प्रकार के होते हैं। उनमें शारीरिक ताप के भी कितने ही भेद हैं, वह सुनो। शिरोरोग, प्रतिश्याम (पीनस) ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, अर्श (बवासीर), शोथ (सूजन), श्वास, (दमा), छर्दि तथा नेत्ररोग, अतिसार और कुष्ठ आदि शारीरिक कष्ट-भेद दैहिक ताप के कितने ही भेद हैं। अब मानसिक तापों को सुनो। काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, (गुणों में दोषारोपण) अपमान, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि भेदों से मानसिक ताप के भी अनेक भेद हैं । ऐसे ही नाना प्रकार के भेदों से युक्त नाप को आध्यात्मिक कहते हैं। मनुष्यों को जो दुःख मृग, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, राक्षस और सृरीसृप (बिच्छू) आदि से प्राप्त होता है उसको आधिदैविक कहते हैं। शीत, उष्ण, वायु वर्षा जल और विद्युत आदि से प्राप्त हुए दुःख को भी को आधिभौतिक कहते हैं।

मनुष्यगति के दुःख

इनके अतिरिक्त गर्भ, जन्म, जरा, अज्ञान, मृत्यु और नरक से उत्पन्न हुए दुःख के भी सहस्रों प्रकार के भेद हैं। अत्यन्त मल पूर्ण गर्भाशय में उल्ब (गर्भ की झिल्ली) से लिपटा हुआ यह सुकुमार शरीर जीव, जिसकी पीठ और ग्रीवा की अस्थियाँ कुण्डलाकार मुडी रहती हैं, माता के खाये हुए अत्यन्त तापप्रद खट्टे, कडवे, चरपरे, गर्म और खारे पदार्थों से जिसकी वेदना बहुत बढ जाती है, जो मल-मूत्र रूप महा पंक में पडा-पडा सम्पूर्ण अंगों में अत्यन्त पीड़ित होने पर भी अपने अंगों को फैलाने या सिकोडने में समर्थ नहीं होता और चेतना युक्त होने पर भी श्वास नहीं ले सकता, अपने सैकडों पूर्वो जन्मों का स्मरणकर कर्मों से बंधा हुआ अत्यन्त दुःख पूर्वक गर्भ में पडा रहता है। उत्पन्न होने के समय उसका मुख मल, मूत्र, रक्त, और वीर्य आदि में लिपटा रहता है और उसके सम्पूर्ण अस्थिबन्धन प्राजापत्य (गर्भ को सकुंचित करने वाली) वायु से अत्यन्त पीड़ित होते हैं। प्रबल प्रसूति-वायु उसका मुख नीचे को कर देती है और वह आतुर होकर बडे क्लेश के साथ माता के गर्भाशय से बाहर निकल पाता है।

उत्पन्न होने के अनन्तर बाह्य वायु का स्पर्श होने से अत्यन्त मूर्च्छित होकर वह बेसुध हो जाता है। उस समय वह जीव दुर्गन्धयुक्त फोडे में से गिरे हुए किसी कट के विद्ध अथवा आरे से चीरे हुए कीडे के समान पृथ्वी पर गिरता है। उसे स्वयं खुजलाने अथवा करवट लेने की भी शक्ति नहीं रहती। वह स्नान तथा दुग्ध-पानादि आहार भी दूसरे ही की इच्छा से प्राप्त करता है। अपवित्र (मलमूत्रादि में सने हुए) बिस्तर पर पडा रहता है, उस समय कीडें और डॉस आदि उसे काटते हैं। तथापि वह उन्हें दूर करने में समर्थ भी नहीं होता इस प्रकार जन्म के समय और उसके अनन्तर बाल्यवस्था में जीव आधिभौतिकादि अनेकों

दुःखों को भोगता है। अज्ञान रूप अन्धकार से आवृत मूढ-हृदय ग्रहण द्वारा पुरुष यह नहीं जानता कि मैं कहाँ से आया हूँ ? कौन हूँ? कहा जाऊँगा ? तथा मेरा स्वरूप क्या है ? मैं किस बंधन से बंधा हुआ हूँ? इस बन्धन का क्या कारण है? अथवा यह अकारण ही प्राप्त हुआ है ? मुझे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए ? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? किस अवस्था में मुझे किस प्रकार रहना चाहिये ? क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है ? अथवा क्या गुणमय और क्या दोषमय है? इस प्रकार पशु के समान विवेक शून्य शिश्नोदरपरायण पुरुष अज्ञान जनित महान् दुःख भोगते हैं।

अज्ञान तामसिक भाव (विकार) है । अतः अज्ञानी पुरुषों की (तामसिक) कर्मों के आरम्भ में प्रवृत्ति होती है, इससे वैदिक कर्मों का लोप हो जाता है। मनीषिजनों ने कर्म लोप का फल नरक बतलाया है, इसलिए अज्ञानी पुरुषों को इहलोक और परलोक दोनों जगह अत्यन्त ही दुःख भोगना पडता है। शरीर के जरा-जर्जरित हो जाने पर पुरुष के अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो जाते हैं, उसके दाँत पुराने होकर उखड जाते हैं और झुर्रियों तथा नस-नाडियों से आवृत्त हो जाता है। उसकी दृष्टि दूरस्थ विषय के ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है, नेत्रों के तारे गोलकों में घुस जाते हैं, नासिका के रन्ध्रों में से बहुत से रोम बाहर निकल आते हैं और शरीर काँपने लगता है। उसकी समस्त हड्डियाँ दिखलायी देने लगती हैं, मेरुदण्ड झुक जाता है तथा जठराग्नि के मन्द पड जाने से उसके आहार और पुरुषार्थ कम हो जाते हैं। उस समय उसका चलना, फिरना, उठना बैठना और सोना आदि सभी चेष्टाएँ बडी कठिनता से होती हैं, उसके श्रोत्र और नेत्रों की शक्ति मन्द पड़ जाती है तथा लार बहते रहने से उसका मुख मलिन हो जाता है। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वाधीन न रहने के कारण वह सब प्रकार मरणासन्न हो जाता है तथा (स्मरणशक्ति के क्षीण हो जाने से) वह उसी समय अनुभव किये हुए समस्त पदार्थो को भी भूल जाता है। उसे एक वाक्य उच्चारण करने में भी महान् परिश्रम होता है तथा श्वास और खाँसी आदि के महान् कष्ट के कारण वह (दिन-रात) जागता रहता है। वृद्ध पुरुष औरों की सहायता से ही उठता तथा औरों के बिठाने से ही बैठ सकता है, अतः वह अपने सेवक और स्त्री-पुत्रादि के लिए सदा अनादर का पात्र बना रहता है । उसका समस्त शौचाचार नष्ट हो जाता है तथा भोग और भोजन की लालसा बढ जाती है, उसके परिजन भी उसकी हँसी उड़ाते हैं और बन्धुजन उससे उदासीन हो जाते हैं। अपनी युवावस्था की चेष्टाओं को अन्य जन्म में अनुभव की हुई- सी स्मरण करके वह अत्यन्त सन्तापवश दीर्घ निःश्वास छोडता रहता है। इस प्रकार वृद्धावस्था में ऐसे ही अनेकों दुःख अनुभव कर उसे मरणकाल में जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे भी सुनो। कण्ठ और हाथ-पैर शिथिल पड़ जाते तथा शरीर में अत्यन्त कम्प छा जाता

है । बार-बार उसे ग्लानि होती और कभी कुछ चेतना भी आ जाती है । उस समय वह अपने हिरण्य (सोना), धन-धान्य, पुत्र-स्त्री, भृत्य और गृह आदि के प्रति 'इन सबका क्या होगा ?' इस प्रकार अत्यन्त ममता से व्याकुल हो जाता है। उस समय मर्मभेदी क्रकच (आरें) तथा यमराज के विकराल बाण के समान महाभयंकर रोगों से उसके प्राण-बंधन कटने लगते हैं। उसकी आँखों के तारे चढ जाते हैं , वह अत्यन्त पीड़ा से बारम्बार हाथ-पैर पटकता है तथा उसके तालु और ओंठ सूखने लगते हैं । फिर क्रमशः दोष-समूह से उसका कण्ठ रुक जाता है अतः वह 'घर-घर' शब्द करने लगता है, तथा ऊर्ध्वश्वास से पीड़ित और महान् ताप से व्याप्त होकर क्षुधा-तृष्णा से व्याकुल हो उठता है । ऐसी अवस्था में भी यमदूतों से पीड़ित होता हुआ वह बड़े क्लेश से शरीर छोड़ता है और अत्यन्त कष्ट से कर्मफल भोगने के लिए यातना-देह प्राप्त करता है। मरणकाल में मनुष्यों को ये और ऐसे ही अन्य भयानक कष्ट भोगने पड़ते हैं, अब, मरणोपरान्त उन्हें नरक में जो यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं वह सुनो ।

नरक गति के दुःख

प्रथम यम-किङ्कर अपने पाशों में बाँधते हैं, फिर उनके दण्ड-प्रहार सहने पड़ते हैं, तदनन्तर यमराज का दर्शन होता है और वहाँ तक पहुँचने में बडा दुर्गम मार्ग देखना पड़ता है। फिर तप्त बालुका, अग्नि-यन्त्र और शस्त्रादि से महाभंयकर नरकों में जो यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं वे अत्यन्त असह्य होती हैं । आरे से चीरे जाने, मूस में तपाये जाने, कुल्हाड़ी से काटे जाने, भूमि में गाड़े जाने, शूली पर चढाये जाने सिंह के मुख में डाले जाने, गिद्धों के नोचने हीथियों से दलित होने, तेल में पकाये जाने, खारे दलदल में फसने, ऊपर ले जाकर नीचे गिराये जाने और क्षेपण-यन्त्र द्वारा दूर फेंके जाने से नरकनिवासियों को अपने पाप-कर्मों के कारण जो-जो कष्ट उठाने पड़ते हैं उनकी गणना नहीं हो सकती। केवल नरक में ही दुःख हो, सो बात नहीं हैं, स्वर्ग में भी पतन का भय लगे रहने से कभी शान्ति वहीं मिलती ।(नरक अथवा स्वर्ग-भोग के अनन्तर) बार-बार वह गर्भ में आता है और जन्म ग्रहण करता है तथा फिर कभी गर्भ में ही नष्ट हो जाता है और वह जन्म लते हीमर जाता है, जो उत्पन्न हुआ है वह जन्मते ही बाल्यावस्था में, युवावस्था में, मध्यमवय में अथवा जराग्रस्त होने पर अवश्य मर जाता है । जब तक जीता है तब तक नाना प्रकार के कष्टों से घिरा रहता है, जिस तरह कि कपास का बीज तन्तुओं के कारण सूत्रों से घिरा रहता है। द्रव्य के उपार्जन, रक्षण और नाश में तथा इष्ट मित्रों के विपत्तिग्रस्त होने पर भी मनुष्यों को अनेकों दुःख उठाने पड़ते हैं।

मनुष्यों को जो-जो वस्तुएँ प्रिय हैं, वे सभी दुःखरूपी वृक्ष का बीज हो जाती हैं। स्त्री,

पुत्र, मित्र, अर्थ, गृह, क्षेत्र और धन आदि से पुरुषों को जैसा दुःख होता है वैसा सुख नहीं होता। इस प्रकार संसारिक दुःख रूप सूर्य के ताप से जिनका अन्तःकरण तप्त हो रहा है उन पुरुषों को मोक्ष रूपी वृक्ष की (घनी) छाया को छोडकर और कहाँ सुख मिल सकता है ।

आत्यान्तिक प्रलय (मुक्ति)

अतः मेरे मत में गर्भ, जन्म और जरा आदि स्थानों में प्रकट होने वाले आध्यात्मिकादि तिविध दुःख-समूह की एकमात्र सनातन औषधि भगवत्प्राप्ति ही है जिसका अतिशय आनन्द सुख की प्राप्ति कराना ही प्रधान लक्षण है। इसलिये पण्डितजनों को भगवत्प्राप्ति का प्रत्यन्न करना चाहिए। कर्म और ज्ञान ये दो ही उसकी प्राप्ति के कारण कहे गये हैं।

ज्ञान दो प्रकार का है-शास्त्रजन्य तथा विवेक। शब्दब्रह्म का ज्ञान शास्त्रजन्य है और परब्रह्म का बोध विवेकजन्य। अज्ञान घोर अन्धकार के समान है। उसको नष्ट करने के लिए शास्त्रजन्य ज्ञान दीपकवत् और विवेकजन्य ज्ञान सूर्य के समान हैं इस विषय में वेदार्थ का स्मरण कर मनुजी ने जो कुछ कहा है वह बतलाता हूँ, श्रवण करो।

ब्रह्म दो प्रकार का है - शब्द ब्रह्म और परब्रह्म। शब्दब्रह्म (शास्त्रजन्य ज्ञान) में निपुण हो जाने पर जिज्ञासु (विवेकजन्य ज्ञान के द्वारा) पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अर्थवेद की श्रुति है कि विद्या दो प्रकार की है- परा और अपरा। परा से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है और अपरा ऋगादि वेदत्रयी रूपा है। जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, पाणि, पादादिशून्य, व्यापक, सर्वगत, नित्य, भूतों का आदि कारण स्वयं कारणहीन तथा जिससे सम्पूर्ण व्याप्य और व्यापक प्रकट हुआ है। और जिसे पण्डितजन (ज्ञान नेत्रों से) देखते हैं वह परमधाम ही ब्रह्म है, मुमुक्षुओं को उसी का ध्यान करना चाहिये और वही भगवान् विष्णु का वेदवचनों से प्रतिपादित अति सूक्ष्म परमपद है। परमात्माका वह स्वरूप ही भगवत् शब्द का वाच्य है और भगवत् शब्द ही उस आद्य एवं अक्षय स्वरूप का वाचक है। जिसका ऐसा स्वरूप बतलाया गया है उस परमात्मा के तत्व का जिसके द्वारा वास्तविक ज्ञान होता है वही परमज्ञान (परा विद्या) है त्रयीमय ज्ञान (कर्मकाण्ड) इससे पृथक् (अपरा विद्या) है।

भगवत् (भगवान्) का रहस्य वह ब्रह्म यद्यपि शब्द का विषय नहीं है तथापि आदर प्रदर्शन के लिए उसका भगवत् शब्द से उपचारतः कथन किया जाता है। समस्त कारणों के कारण, महाविभूतिसंज्ञक परब्रह्म के लिए ही भगवत् शब्द का प्रयोग हुआ है। इस ('भगवत्' शब्द) में भकार के दो अर्थ है- पोषण करने वाला और सबका आधार तथा गकार के अर्थ कर्म फल प्राप्त कराने वाला, लय करने वाला और रचयिता है ।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य-इन छः का नाम भंग है। उस अखिल भूतात्मा में समस्त भूतगण निवास करते हैं और वह स्वयं भी समस्त भूतों में विराजमान है इसलिए वह अव्यय (परमात्मा) ही वकारका अर्थ है। इस प्रकार यह महान् 'भगवान्' शब्द परब्रह्म स्वरूप श्री वासुदेव का ही वाचक है। किसी और का नहीं। पूज्य पदार्थों को सूचित करने के लक्षण से युक्त इस 'भगवान्' शब्द का परमात्मा में मुख्य प्रयोग है तथा औरों के लिए गौण। क्योंकि जो समस्त प्राणियों के उत्पत्ति और नाश आना और जाना तथा विद्या अविद्या को जानता है वही भगवान् कहलाने योग्य है। करने योग्य (त्रिविध) गुण (और उनके क्लेश)आदि को छोडकर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्गुण ही 'भगवत्' शब्द के वाच्य है।

उन परमात्मा में ही समस्त भूत बसते हैं और वे स्वयं भी सबके आत्मारूप से सकल भूतों में विराजमान हैं इसलिए उन्हें वासुदेव भी कहते हैं। पूर्वकाल में खाण्डिक्य जनक के पूछने पर केशिध्वजने उनसे भगवान् अनन्त के वासुदेव नाम की यथार्थ व्याख्या इस प्रकार की थी। प्रभू समस्त भूतों में व्याप्त हैं और सम्पूर्ण भूत भी उन्ही में रहते हैं, तथा वे ही संसार के रचियता और रक्षक है, इस लिए वे वासुदेव कहलाते हैं। वे सर्वात्मा समस्त आवरण से परे हैं। वे समस्त भूतों की प्रकृति, प्रकृति के विकार तथा गुण और उनके कार्य आदि दोषों से विलक्षण हैं। पृथिवी और आकाश के बीच में जो कुछ स्थित है वह सब उनके द्वारा व्याप्त किया हुआ है। वे सम्पूर्ण कल्याण गुणों के स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी माया शक्ति के लेश मात्र से ही सम्पूर्ण प्राणियों को व्याप्त किया है और वे अपनी इच्छा से स्व-मनोनुकूल महान् शरीर धारण कर समस्त संसार का कल्याण-साधन करते हैं। वे तेज, बल, ऐश्वर्य, महाविज्ञान, वीर्य, और शक्ति आदि गुणों की एकमात्र राशि हैं, प्रकृति आदि से भी परे हैं और उन परमेश्वर में अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशों का अत्यन्ताभाव है। वे ईश्वर ही समष्टि और व्याष्टि रूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप हैं, वे ही सब के स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जानने वाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान की परमेश्वर संज्ञा है। जिसके द्वारा वे निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल, और एक रूप परमात्मा देखे या जाने जाते हैं उसी का नाम ज्ञान (परा विद्या) है और जो इस के विपरीत है वही अज्ञान (अपरा विद्या) है।

जिसमें स्थित होकर ब्रह्म में लीन हुए मुनिजन फिर स्वरूप में च्युत नहीं होते, मैं उस योग का वर्णन करता हूँ; श्रवण करो।

मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण केवल मन ही है, विषय का संग करने से वह बंधन कारी और विषय शून्य होने से मोक्षकारक होता है। अतः विवेकज्ञान सम्पन्न मुनि अपने चित्त को विषयों से हटाकर मोक्ष प्राप्ति के लिए ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का चिन्तन

करे। जिस प्रकार अयस्कान्तमणी अपनी शक्ति से लोहे को खींचकर अपने में संयुक्त कर लेती है उसी प्रकार ब्रह्मचिन्तन करने वाले मुनि को परमात्मा स्वभाव से ही स्वरूप में लीन कर देता है। आत्मज्ञान के प्रयत्न भूत यम, नियम आदि की अपेक्षा रखने वाली जो मन की विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही **योग** कहलाता है, जिसका योग इस प्रकार के विशिष्ठ धर्म से युक्त होता है वह मुमुक्षु योगी कहा जाता है। जब मुमुक्षु पहले-पहले योगाभ्यास आरम्भ करता है ता उसे 'योगयुक्त योगी' कहते हैं और जब उसे परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तो वह विनिष्पन्न समाधि कहलाती है। यदि किसी विघ्न वश उस योग युक्त योगी का चित्त दूषित हो जाता है तो जन्मान्तर में भी उसी अभ्यास को करते रहने से मुक्त हो जाता है।

विनिष्पन्न समाधि योगी तो योगाग्नि से कर्म समूह के भस्म हो जाने के कारण उसी जन्म में थोड़े ही समय में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। योगी को चाहिये कि अपने चित्त को ब्रह्म चिन्तन के योग्य बनाता हुआ ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह, का निष्कामभाव से सेवन करे तथा चित्त से स्वाध्याय, शौच, सन्तोष और तप का आचरण करे तथा मन को निरन्तर परब्रह्म में लगाता रहे। ये पाँच-पाँच यम और नियम बतलाये गये हैं। इनका सकाम आचरण करने से पृथक्-पृथक् फल मिलते हैं और निष्काम भाव से सेवन करने से मोक्ष प्राप्त होता है।

जिसमें परमेश्वर के रूप की ही प्रतीति होती हैं, ऐसी जो विषयान्तर की स्पृहा से रहित एक अनवरत धारा है उसे ही ध्यान कहते है; यह अपने से पूर्व यम-नियमादि छः अंगों से निष्पन्न होता है। उस ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पना हीन (ध्याता, ध्येय और ध्यान के भेद से रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है उसे ही समाधि कहते हैं। (समाधि से होने वाला भगवत्साक्षात्काररूप) विज्ञान ही प्राप्तव्य परब्रह्म तक पहुँचने वाला है तथा सम्पूर्ण भावनाओं से रहित एकमात्र आत्मा ही प्रापणीय (वहाँ तक पहुँवने वाला) है। मुक्ति-लाभ में क्षेत्रज्ञ कर्ता है और ज्ञान करण है; (ज्ञान रूपी करण के द्वारा क्षेत्रज्ञ के) मुक्ति रूपी कार्य को सिद्ध करके वह विज्ञान कृतकृत्य होकर निवृत्त हो जाता है। उस समय यह भगवद्भाव से भरकर परमात्मा से अभिन्न हो जाता है। इसका भेद-ज्ञान तो अज्ञानजन्य ही है। भेद उत्पन्न करने वाले अज्ञान के सर्वथानष्ट हो जाने पर ब्रह्म और आत्मा में असार (अविद्यमान) भेद कौन कर सकता है ?

योग दर्शन में वर्णित परम-स्वतन्त्रता

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थत्वसंयमार्दिन्द्रियजयः ।।47

ग्रहण स्वरूप, अस्मिता, अन्वय एवं अर्थत्व-इन पाँचइन्द्रियों के रूपों में संयम करने से

इन्द्रिय जय रूप फल की प्राप्ति होती है। सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार भूतों के स्थूल आदि रूप हैं और उन स्थूलादि में संयम करने से भूतजय नामक सिद्धि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार इन्द्रियों के रूप ग्रहण आदि हैं। ग्रहण आदि में संयम करने वाला योगी इन्द्रिय जय-रूप सिद्धि को प्राप्त करता है। सारी इन्द्रियाँ इस योगी के वश में हो जाती हैं ।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।।48

इन्द्रिय जय की प्राप्ति होने से योगी को मन की भाँति शीघ्र गतिशीलता, विकर्ण भाव तथा प्रधानजय नामक तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

1) **''कायस्यानुत्तमो गतिलाभोमनोजवित्वं ।''**

शरीर की सर्वश्रेष्ठ (अर्थात् तीव्र) गति की प्राप्ति का नाम मनोजवित्त है। मन के समान शरीर में जब वेग का आ जाना ही मनोजवित्त है। इस सिद्धि के प्राप्त हो जाने पर योगी का शरीर मन की भाँति शीघ्रगामी बन जाता है। वह क्षण भर में असंख्य योजन दूर जाकर तुरन्त लौट सकता है। यह सिद्धि शरीर निष्ट है।

2) **विदेहानामिन्द्रियामभिप्रेत देशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः।**

शरीर रूप आश्रय के बिना भी इन्द्रियों का विषय ग्रहण में समर्थ होना विकरण भाव कहा जाता है अर्थात् देह रूप आश्रय के बिना भी इन्द्रियों का अभिलषित काश्मीर आदि देश, अतीत आदि काल तथा सूक्ष्म विषयों में भी वृत्ति लाभ होना (अर्थात् व्यापार करना) विकरण भाव नामक सिद्धि है।

विदेहानाभिन्द्रियाणां करणभावो,विकरणभावः। देशः काश्मीरादिः। कालोऽतीतादिः। विषयः सूक्ष्मादिः । (इति तत्त्वैशारदी)

विकरण भाव की व्याख्या करने वाले भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि जिस देश, काल एवं विषय में योगी इच्छा करता है उनमें देह की अपेक्षा के बिना ही इन्द्रियों की गति हो जाती है इन्द्रियाँ वहाँ पहुँच कर अपना काम कर लेती हैं। काशी में गंगा तट पर बैठा-बैठा योगी नेपाल के पशुपतिनाथ के मदिंर मे कौन अर्चन वन्दन कर रहा है? इसे वह अपनी आँखों से देख सकता है। वहाँ की घंटा ध्वनि को अपने कानों से सुन सकता है। यही है विकरण भाव नामक सिद्धि। यह सिद्धि इन्द्रिय निष्ठ है।

3)**सर्व प्रकृति विकार वशित्वं प्रधानजय इति -**सम्पूर्ण प्रकृति (अर्थात् कारण)एवं सम्पूर्ण विकार (कार्य) को वश में कर लेना प्रधानजय नामक तीसरी सिद्धि कही जाती है। प्रधान कहते हैं कारण को। प्रधानजय नामक सिद्धि के अधिगत होने पर संसार के समस्त कार्य कारणात्मक पदार्थ योगी के वशीभूत हो जाते हैं।

4) **एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते ।**

इन इन्द्रियों की तांत्रिक संज्ञा बतला रहे हैं- एतास्तिस्त्र इति। ये त्रिविध सिद्धियाँ योगमत में ''मधुप्रतीका'' कही जाती हैं। बात यह है कि सिद्धियों का एक और विभाग है। जिसके अनुसार सारी सिद्धियों को चार भागों मे बाँटा जाता है।- मधुमति, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कार शेषा। भाष्यकार यह बतला रहे हैं कि उक्त मनोजवित्वादि त्रिविध सिद्धियाँ मधुप्रतीका कही जाती हैं।

5)**एताश्च करणपंचकरूप जयादधिगम्यन्ते ।।48।।**

शङ्का-इन्द्रिय जय से इन्द्रियों को ही योगी के वश में होना चाहिए। आप इन्द्रिय जय का फल प्रधान जय भी बतला रहे हैं। कार्य कारण भी योगी के वश में हो जाते हैं, यह कैसे सम्भव है ?

समाधान-एताश्चेति/ये मनोजवित्वादि त्रिविध सिद्धियाँ चक्षुरादि पंचविध इन्द्रियों के ग्रहणादि पाँच रूपों के जय से अधिगत होती हैं। कहने का भाव यह है कि ये त्रिविध सिद्धियाँ केवल इन्द्रियजय का फल नहीं हैं अपितु गृहणादि पाँच रूपों से समन्वित इन्द्रियजय का फल है, जिसके भीतर प्रधान आदि भी आ जाते हैं। अतः इन्द्रियजय का फल प्रधानादिजय को भी बतलाना अनुचित नहीं है।

'' सत्व पुरुषान्यताख्याति मात्रस्य सर्वभावधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च '' ।।49।।

पुरुष एवं प्रकृति के भेद ज्ञान से सम्पन्न योगी की सम्पूर्ण पदार्थों के अधिष्ठातृत्व का और (अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ को नियन्त्रित करने के सामर्थ्य का समस्त)पदार्थों के ज्ञानत्व का (अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों को ठीक ठाक जान लेने की शक्ति का) लाभ है।

तद्वैराग्यादपि दोष बीज क्षये कैवल्यम् ।।50।।

विवेक ख्याति की निष्ठा द्वारा, विवेक ख्याति जन्य सिद्धि, विषयक पर वैराग्य की प्राप्ति हो जाने पर वैराग्य जन्य असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा, रागादि दोषों के मूल कारण अविद्या के समाप्त हो जाने पर, पुरुष को कैवल्य (परम स्वतंत्रता)की प्राप्ति होती है अर्थात् अन्य सिद्धियाँ तो हस्तगत ही हो जाती हैं, कैवल्य भी योगी को प्राप्त हो जाता है।

''सत्यपुरुषयो शुद्धि साम्ये कैवल्यम्'' ।।55

बुद्धि एवं पुरुष की शुद्धि के समान रूप हो जाने पर मोक्ष हो जाता है।

''तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार पतिबन्धी ।।50।।'' (पातञ्जलीयोगसूत्र समाधिसार)

यह समाधि जात संस्कार दूसरे सब संस्कारों का प्रतिबन्धी होता है अर्थात् दूसरें संस्कारों को फिर आने नहीं देता।

''भावनोपचयात् शुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्'' ।।29(सांख्य दर्शन, तृतीय अध्याय)

गम्भीर ध्यान के बल से शुद्ध स्वरूप पुरुष के पास प्रकृति की सारी शक्तियाँ आ जाती हैं।

अध्याय-4

विज्ञानानुसार ब्रह्माण्ड विज्ञान

परिभाषा ब्रह्माण्ड विज्ञान की

ब्रह्माण्ड विज्ञान (Cosmology) विज्ञान की वह शाखा है जिसका संबंध ब्रह्माण्ड (Universe) की उत्पत्ति, उसकी वर्तमान संरचना, विकास तथा अंतिम नियति से है। विगत साठ-सत्तर वर्षों में इस तरह के तीन मॉडल (Model) सामने आए हैं-

1 महाविस्फोट (Big bang)मॉडल,
2 स्थायी दशा (Steady State) मॉडल और
3 स्पंदमान (Oscillatrory) मॉडल।

इन तीनों में से महाविस्फोट मॉडल का पलडा भारी है। ऐसे ब्रह्माण्डीय मॉडल भौतिक घटनाओं को किसी तरह का दैवी कारण या महत्ता प्रदान न करके उन्हें प्रकृति के नियमों के आधार पर घटित बताने का प्रयास करते हैं।

किसी भी मॉडल द्वारा इस मूलभूत प्रेक्षण की पुष्टि होनी चाहिए कि सुदूर मंदाकिनियों (Galaxies) से आने वाले प्रकाश को स्पेक्ट्रम में 'अभिरक्त सिरा' (Red End)की ओर विस्थापित होना चाहिए। यह घटना 'ब्रह्माण्डीय अभिरक्त विस्थापन' (Cosmological Red Shift) कहलाती है।

आधुनिक सिद्धांत कहता है कि यह अभिरक्त विस्थापन 'डॉप्लर प्रभाव' (Doppler Effect) है। जिसके अनुसार अन्य मंदाकिनियाँ हमसे दूर भाग रही हैं। सुदूरतम मंदाकिनियों में सर्वाधिक अभिरक्त विस्थापन पाया जाता है। वे सर्वाधिक गति से हमसे दूर पलायन करती जा रही हैं।

इसकी पुष्टि में पाँच मंदाकिनियों की दूरियाँ तथा उनके अभिरक्त विस्थापन के मान दिए जा सकते हैं-

मंदाकिनियाँ	दूरी (प्रकाशवर्ष)	अभिरक्त विस्थापन
कन्या (Virgo)	55 मिलियन	750 मील/सेकेंड
सप्तर्षि(Ursa Major)	700 मिलियन	930 मील/सेकेंड
उत्तरी किरीट (Corona Borealis)	1 बिलियन	13,400 मील/सेकेंड
बोतीज (Bootes)	1.8 बिलियन	24,400 मील/सेकेंड
महासर्प (Hydra)	2.8 बिलियन	38,000 मील/सेकेंड

यदि दूरी तथा विस्थापन वेग (मील/से.) के बीच आरेख खींचा जाए तो

पाँचों मंदाकिनियां एक सीध में पडेगी । इस तरह के सम्बन्ध का गहन अध्ययन करने वाले थे 'एडविन हुबल' (Edwin Hubble) जिन्होंने अनेक मंदाकिनियों की दूरी तथा उनके पलायन वेग (Velocity of recession) में संबंध स्थापित किया, जो इस प्रकार है-

'जो मंदाकिनी जितनी दूर है, वह उतनी ही तेजी से दूर जा रही है ।'

इसे हुबल नियम (1929) कहते हैं जिसे हम इस तरह लिख सकते हैं -

$v = Hx$

जहाँ H = हुबल स्थिरांक हैं।

इस स्थिरांक का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि यह उस दर को बताता है जिससे मंदाकिनियाँ हम से दूर जा रही है या जिस गति से'ब्रह्माण्ड का प्रसार' हो रहा है। इसका मान लगभग 20 किलोमीटर प्रति सेकेंड प्रति मिलियन प्रकाशवर्ष है। यानी

H =15-30 Km/sec/MLY

इन मंदाकिनियों से भी परे हैं ताराकल्प, यानी 'क्वासर' (Quasar) जो सबसे तेजी से हमसे दूर भाग रहे हैं।

1) *महा विस्फोट सिद्धान्त* :- महाविस्फोट सिद्धान्त सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसके अनुसार, 10 से 20 बिलियन प्रकाशवर्ष पूर्व यह ब्रह्माण्ड बुरी तरह से विस्फोट कर गया जिसे महाविस्फोट कहते हैं। महाविस्फोट के पूर्व हमारे वर्तमान ब्रह्माण्ड का सारा'पदार्थ' (Matter) तथा 'विकिरण' (Radiation)आदिम अग्नि के गोले में समाहित था और वह अत्यन्त गरम सघन अवस्था में था। फलस्वरूप ब्रह्माण्ड तेजी से प्रसार कर गया। महाविस्फोट के साथ ही 'दिक्' (Space) तथा 'काल' (Time) का शुभारंभ हुआ।

इस तरह पदार्थ (प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन) एवं विकिरण तेजी से प्रसरित हुए और शीतल होने लगे। कई लाख वर्षों बाद यह मंदाकिनियों में संघनित हो गया। ब्रह्मांड तब से प्रसार करता आया है और ये मंदाकिनियाँ तभी से एक दूसरे से दूर पलायन करती रही हैं। **आज भी ब्रह्मांड का प्रसार हो रहा है-** यह ' ब्रह्मांड प्रसरणशील ' है । आज भी मंदाकिनियों के अन्तर्गत तारे निर्मित हो रहे हैं। ये महा विस्फोट से निकली प्रारम्भिक हाईड्रोजन गैस का उपयोग कर रहे हैं। स्वाभाविक है कि भविष्य में यह प्रारम्भिक (आदि) हाईड्रोजन तारों का निर्माण करते-करते चुक जाएगी और तब वह ब्रह्माण्ड जो महाविस्फोट के साथ प्रारम्भ हुआ था अंधकारमय बन जाएगा, यानी श्याम ब्रह्माण्ड प्रति फलित होगा जो नितांत शीतल या ठंडा होगा।

2) ***स्थायी दशा सिद्धान्त*** : - स्थायी दशा सिद्धान्त मॉडल के अनुसार, ब्रह्मण्ड

समय के साथ न तो विकसित होता है, न ही बदलता है, इसका न कोई आदि है, न कोई अंत। यह ब्रह्माण्ड भूत, वर्तमान तथा भविष्य में जैसे का तैसा बना रहेगा।

यह मॉडल पूर्ण ब्रह्मांडीय सिद्धान्त का पालन करता है, जो कहता है कि ब्रह्मांड सर्वत्र तथा सदा वही रहेगा। इस तरह पदार्थ का घनत्व सदैव यही बना रहेगा। इस के अनुसार, नवीन हाइड्रोजन इस गति से निरंतर उत्पन्न होती रहेगी कि पलायन कर रही मंदाकिनियों के साथ जो पदार्थ चला जाता है उसकी आपूर्ति होती रहेगी। यह मॉडल बहुतेरे खगोल विदों को इस लिए पसन्द है, क्योंकि यह इस दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करता है कि ब्रह्मांड सदैव विद्यमान था और भविष्य में भी विद्यमान रहेगा किंतु शायद यही इस मॉडल का सबसे बडा दोष है; क्योंकि यह ऊर्जा संरक्षण नियम का विरोध करता है- इसमें यह नहीं बतलाया गया कि नई हाइड्रोजन कहाँ से आयेगी। ऊर्जा का न तो सृजन किया जा सकता है, न विनाश। हाँ, इसका रूपान्तरण हो सकता है।

3)*स्पंदमान सिद्धान्त* :- स्पंदमान सिद्धान्त मॉडल का कथन है कि हमारे ब्रह्मांड की शुरुआत महाविस्फोट के साथ हुई तो है, किंतु यह सदैव प्रसार नहीं करता रहेगा। गुरुत्व के कारण यह प्रसार रुक जायेगा। इस के अनुसार ब्रह्मांड सदैव स्पंदमान रहता है यानी बाहर की ओर प्रसार करता रहता है और फिर से भीतर की ओर संकोच करता है। भविष्य में भी इसी तरह स्पंदित होता रहेगा। संप्रति प्रसार अवस्था है जो विगत 10-20 बिलियन प्रकाश वर्ष से चल रही है। भविष्य में यह ब्रह्मांड का प्रसरण मंद पडता जायेगा। और जब प्रसरण पूरी तरह रुक जायेगा तब इसका संकुचन होगा। संकुचन के साथ ही सारी मंदाकिनियाँ भहरा पडेंगी और सारा पदार्थ पुन: उसी में संघट्टित हो जायेगा। तब पुन: महाविस्फोट होगा और उसी पदार्थ से नूतन प्रसरणशील ब्रह्मांड उत्पन्न होगा। यह ब्रह्मांड सतत दोलायमान होता रहेगा।

इस तरह प्रथम, द्वितीय तथा विकासीय मॉडल कहे जाते हैं- जिनके अनुसार ब्रह्मांड में (Evolutionary models) अवश्यंभावी है। इनमें से प्रथम विकृत प्रणाली परिवर्तन (खुला) है तो तीसरा संवृत (बंद) प्रणाली। (अंतरिक्ष की रोचक बातें (पृ.11)

ब्रह्माण्ड का विश्ववैचित्र्य :- हमारा सूर्य मंदाकिनी विश्व केन्द्र से 33,000 प्रकाश वर्ष की दूरी पर है। विश्व केन्द्र और सूर्य के ठीक बीच में जो भाग है वहाँ के आयनित हाइड्रोजन वायु का घनत्व और जगहों की अपेक्षा कुछ ज्यादा है। ज्यादा घनत्व वाला यह विभाग सूर्य से 14,000 प्रकाश वर्ष और विश्व केन्द्र से 12,000 प्रकाश वर्ष दूर है। उसका पाट या वलय करीब 5 से 7 हजार प्रकाश वर्ष की चौडाई वाला है। इस पाट में अनेक शिशु तारें हैं जो अपने इर्दगिर्द के हाइड्रोजन वायु को आयनित करते रहते हैं

और इसी कारण यह विभाग आयनित हाइड्रोजन के हिसाब से बहुत समृद्ध है। इस पाट से केन्द्र की ओर के या सूर्य की ओर के भागों में अवस्थित आयनित हाइड्रोजन का घनत्व कम होता जाता है। (ब्रह्मांड दर्शन) (डॉ.छोटू भाई)पृ.सं.131

उपर्युक्त आयनित हाइड्रोजन- वलय के बीच वाले भाग में शिथिल हाइड्रोजन वाला एक अतापीय-उद्गम है। इस उद्गम के मध्य भाग में, करीब मंदाकिनी विश्व के केन्द्र में आयनित हाइड्रोजन वायु के कुछ गाढे बादल हैं। इन बादलों के इस प्रकार के अस्तित्व का कारण क्या है और उनकी वायु वहाँ किस करामात से आयनित होती है उसका पता अब तक मालूम नहीं हो सका है। विश्व केन्द्र के नजदीक भागों की भ्रमण गति के आधार पर और अतापीय रेडियो-उत्सर्गों से यह ज्ञात हुआ है कि मंदाकिनी विश्व केन्द्र के करीब 200 प्रकाश वर्ष व्यास के विस्तार में जो तारे और वायु हैं उनका कुल द्रव्यमान 50 लाख सूर्य-द्रव्यमान के बराबर है।

शिल्पी विश्व और भट्टी विश्व हम से क्रमश: 4,60,000 और 9,20,000 प्रकाश वर्ष दूर हैं। ये दोनों स्थानीय विश्व समूह के सदस्य हैं। स्थानीय विश्व समूह में मंदाकिनी विश्व में देवयानी विश्व के सिवा अन्य 25 तारा विश्व हैं जिनमें से अधिकांश वामन तारा विश्व हैं। अलबत्ता इनमें से बहुत से तारा विश्व हमसे नजदीक होने पर भी बहुत ही निस्तेज हैं और इसी कारण उनके फोटो प्राप्त करने का काम बहुत ही मुश्किल हो जाता है। शिल्पी विश्व प्रकार के चार अन्य तारा विश्व, सिंह विश्व$_2$, सिंह विश्व$_1$, कालिय विश्व और ध्रुवमत्स्य विश्व हैं। इनमें से पहले दो हमसे 7,50,000 प्रकाश वर्ष की दूरी पर और अन्य दो 3,30,000 प्रकाश वर्ष की दूरी पर हैं।

भट्टी विश्व समूह (भट्टी तारा विश्व नहीं) में करीब 80 प्रतिशत ताराविश्व वामन विश्व हैं। अन्य विश्व समूहों में भी वामन विश्वों का आधिक्य है और यों समस्त ब्रह्माण्ड में वामन विश्व प्रचुर मात्रा में होने का अब माना जाता है।

मंदाकिनी विश्व का स्वरूप :- अपने तारा विश्व में सौ अरब तारे और उतने ही तारों को जन्म दे सकने वाले निहारिका-द्रव्य होने की बात पढकर, स्वभाविक प्रश्न होगा कि यह सब कैसे योजित किया गया होगा? मनुष्य की दृष्टि शक्ति कुछ सीमा तक मर्यादित है। **नग्न आँख से 500 प्रकाश वर्ष की दूरी वाले शून्य (०) निरपेक्ष वर्ग के तारों को हम देख सकते हैं।** इन तारों से अधिक दूर के आकाश को देखने के लिए दूरबीन का उपयोग अनिवार्य है। दूरबीनों से आकाश दर्शन करने पर मालुम हुआ है कि आकाश के तारे मिलकर संपुट आकार का तारा विश्व रचते हैं। फूली हुई पूडी के आकार वाले इस मंदाकिनी विश्व का व्यास 1,00,000 प्रकाश वर्ष है और उसके मध्य

भाग की मोटाई 15,000 प्रकाश वर्ष है। अपना सूर्य मंदाकिनी विश्व का ही एक तारा है और विश्व केन्द्र से वह 30,000 प्रकाश वर्ष दूर अवस्थित है। सूर्य के चारों और के तारा विश्व की मोटाई 2,500 वर्ष के करीब है।

मंदाकिनी विश्व को गौर से देखने पर मालूम होगा कि संपुट आकार के इस विश्व के बाहर के क्षेत्र में भी तारों का अस्तित्व है। मगर ये सभी खचाखच अवस्थित नहीं हैं, छितरें हैं।

मंदाकिनी विश्व का संपुट विभाग विभिन्न प्रकार के तारे तारागुच्छ, ताराबादल, निहारिकायें, अंतर्तारकीय वायु वगैरह की भारी समृद्धि वाला है। अवकाश स्थित अन्य ताराविश्व भी इसी प्रकार की सम्पत्ति वाले हैं। तारा विश्व सामान्य गेंद की तरह गोलाकार नहीं हैं मगर केन्द्र से निकले हुए और केंद्र के चारों ओर लिपटने वाले बाहुयुक्त गेंद के आकार के हैं। यह भी पता चला है कि ताराविश्वों के इन बाहुओं में जो वायुबादल हैं उनमें अति गरम और नीले वर्ण वर्ग के तारे हैं। यही नहीं, इन तारों के चारों ओर के विस्तार में अवकाशी तारकगुच्छ भी मौजूद हैं। विराट नीले तारे और अवकाशी तारकगुच्छ हमारे मंदाकिनी विश्व में भी हैं। क्या इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अपने ताराविश्व के भी वायु भुजाएँ हैं ?

विश्वभुजाएँ सामान्यत: 10,000 प्रकाश वर्ष लंबी और 500 प्रकाश वर्ष चौडी होने का मालूम हुआ है। चाक्षुष-दूरबीनें इन भुजाओं के केवल छोर को ही देख पाती हैं, उनके आर-पार का कुछ नहीं। विश्व भुजाओं में अवस्थित शिथिल हाइड्रोजन का ब और ओ वर्ण वर्ग के अतिगरम तारों का पता रेडियों- दूरबीन के द्वारा चला है और यों मंदाकिनी विश्व का चित्र और भी स्पष्ट हुआ है। हाँ, एक बात सही है कि केन्द्र से 40,000 प्रकाश वर्ष से भी ज्यादा दूर की विश्व भुजाओं का पता लगाना अभी बाकी ही है। मंदाकिनी विश्व के बीच के भाग में तारों की भीड-भाड प्रतीत होती है मगर वास्तव में वैसा नहीं है। विश्व केंद्र के आस-पास के 6 से 7 हजार प्रकाशवर्ष मोटाई के और 16 हजार प्रकाशवर्ष व्यास वाले अडांकार विभाग में 10 अरब तारे हैं और वे सभी एक दूसरे से काफी अन्तर पर हैं। उनके आपस में भीडभाड जैसा है ही नहीं। इन तारों के बीच में अन्ततारकीय द्रव्य मौजूद है या नहीं इसका फैसला नहीं हो सका है। कई निरीक्षकों का अनुमान है कि मंदाकिनी विश्व के केंद्रभाग में उत्पन्न होकर भुजाओं की ओर पसरने वाले हाइड्रोजन का वहाँ अस्तित्व है मगर यह वायु किस प्रकार उत्पन्न होती है, उसका कोई कारण अभी तक समझ में नहीं आया है। दूर दूर के ताराविश्वों के निरीक्षणों से भी इसमें सहायता नहीं मिली है। सामान्यतया यह माना जाता है कि ताराविश्वों के केंद्रों में वायु नहीं होती है।

सौ अरब तारे वाला हमारा तारा विश्व अक्षभ्रमण करता है ।

प्रश्न- उठेगा कि वह मालूम हुआ किस तरह ?

उत्तर-सूर्य के इर्दगिर्द के तारों की गतियों के कारण तारा विश्व के अक्षभ्रमण का पता चला है।

मंदाकिनी विश्व का अक्षभ्रमण अखंडित पदार्थ के भ्रमण जैसा नहीं है। हमारे विश्व का अक्षभ्रमण-वेग केन्द्र के समीप बहुत कम है मगर केन्द्र से दूर हटने पर वह क्रमिक रुप में बढता जाता है। केन्द्र से 21,000 प्रकाशवर्ष की दूरी पर वह सबसे ज्यादा हो जाता है और आगे बढने के बजाय घटने लगता है। विश्व के छोर तक पहुँच कर वह बहुत ही कम हो जाता है। मंदाकिनी विश्व में सबसे ज्यादा वेग हर सेकण्ड 210 किलोमीटर का है। हमारा सूर्य जहाँ अवस्थित है वहाँ का वेग सेक्ण्ड 200 किलोमीटर का है।इतना वेग धारण करने पर भी सूर्य वाले विश्वभाग को विश्वकेंद्र का पूरा चक्कर काटने में 22 करोड वर्ष का समय लगता है। सूर्य की उम्र 7 अरब वर्ष की मानी जाय तो अपने जन्म के बाद सूर्य ने मंदाकिनी विश्व के 30 ही चक्कर काटे समझे जायेंगे। सूर्य का अस्तित्व 200 चक्कर और काटने तक टिकने का अंदाजा है। मंदाकिनी विश्व के छोर पर जो तारे हैं उनको एक विश्व-चक्कर पूरा करने में करीब 37 करोड वर्ष लग जाते हैं।

ताराविश्व: वितरण और वेग :- ताराविश्वों के सारे समूह भी एक समान नहीं है। ताराविश्वों की संख्या के हिसाब से वे विविध प्रकार के समूहों की रचना करते हैं।वैज्ञानिकों ने इन समूहों को पाँच भागों में विभाजित किया है। प्रथम विभाग विश्वगुच्छ का है। विश्वसमूह में ज्यादा से ज्यादा सौ के करीब विश्व होते हैं। दूसरा विभाग विश्वगुच्छ का है। विश्वगुच्छ में हजारों की संख्या में ताराविश्व होते हैं। इन विश्वगुच्छों का केंद्रीय भाग ज्यादा सघन होता है। कई विश्वगुच्छों में एक से ज्यादा गुच्छ केन्द्र होते हैं। ऐसे विश्व गुच्छ केन्द्र एक से ज्यादा स्थानों में संकेंद्रणता दिखाते हैं।

विश्व समूह और विश्वगुच्छ में एक फर्क संकेंद्रणता का है। विश्वसमूह के विश्व संकेंद्रणता नहीं दिखाते हैं। विश्व मेघ तीसरे प्रकार का विभाजन है । विश्वमेघ में सैकडों अथवा हजारों ताराविश्व होते हैं। बहुधा विश्वमेघ ऐसे विश्वों के समूह होते हैं जो किसी भी प्रकार के विशिष्ट या दर्शनीय स्वरूपों के नहीं होते। विश्वसमूह-मेघ के चौथे प्रकार में बिखरे हुए अनेक विश्व समूह का सम्मेलन होता है। विश्वगुच्छ-मेघ में विश्वगुच्छों के समूह होते हैं। विश्व समूहों का यह प्रकार सबसे बडा है । सामान्यतः या विश्वगुच्छ-मेघ में एक लाख के करीब ताराविश्व होते हैं। यह सब होते हुए भी इन सारे समूहों या गुच्छों के कारण अंतरिक्ष में कहीं भीड नहीं है। सारे विश्व एक दूसरे से ठीक-ठीक दूर आये हुए हैं; इतना ही नहीं वे सब अंतरिक्ष में करीब समान रूप से फैले हुए भी हैं।

अंतरिक्ष की गहराई बडी गहन है। सूर्य और चन्द्र हम से नजदीक के आकाशीय पदार्थ हैं। उनके बिम्ब का व्यास आधा अंश है। सूर्य या चन्द्र से आकाश का जो भाग ढक जाता है वह लगभग 1/4 वर्ग अंश है। खगाश्व विश्व समूह इससे चौगुनी जगह रोकता है और उसमें चार सौ ताराविश्व होने का जाना गया है। गिनती के हिसाब से एक वर्ग अंश जितनी जगह में सामान्यतया 100 ताराविश्व होते हैं। फोटोग्राफी की रीति से उतनी ही जगह में ज्यादा से ज्यादा 2500 ताराविश्वों के होने का पता चला है। प्रति 100 वर्ग अंश में विश्वसमूहों की सामान्य संख्या औसतन एक से दो जितनी मगर ज्यादा से ज्यादा संख्या 150 के करीब है। इसका अर्थ यह हुआ की अंतरिक्ष में यत्र-तत्र-सर्वत्र ताराविश्व फैले हुए हैं। यह होते हुए भी ब्रह्मांड के विशाल विस्तार के हिसाब से ताराविश्वों की संख्या इतनी कम है कि अंतरिक्ष का 99.9 प्रतिशत भाग सचमुच खाली ही है।

'कोई एक ताराविश्व एक अरब प्रकाशवर्ष दूर है।' कहने का अर्थ यह है कि उस ताराविश्व के प्रकाश को हम तक पहुँचने में एक अरब वर्ष बीत जाते हैं यानी आकाश में उस ताराविश्व को जिस स्थिति में हम देखते हैं वह उसकी आज की सही स्थिति नहीं हैं। वह उसके 1अरब वर्ष पहिले की स्थिति है। तारा विश्व के प्रकाश को हम तक पहुँचने में जो। अरब वर्ष लगे इस बीच वह ताराविश्व खुद भी अंतरिक्ष में थोडा दूर और सरक गया है। इस हिसाब से उसका सही अन्तर एक अरब प्रकाश वर्ष से भी ज्यादा है। 1 अरब प्रकाशवर्ष दूर के ताराविश्व का दूर गमन का वेग प्रति सेक्ंड 22,500 किलोमीटर या प्रतिवर्ष 0.8 प्रकाश वर्ष है । ताराविश्व का आज का अंतर खोजते समय इस वेग के कारण जो स्थलांतर हुआ हो उसे भी ध्यान में लेना चाहिए। एक अरब वर्ष में उपर्युक्त ताराविश्व 8 करोड प्रकाशवर्ष दूर सरका होगा और इसका आज का सहीं अंतर 1.08 अरब प्रकाशवर्ष होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि इस विचलन द्वारा प्राप्त होने वाले अंतर में थोडा फर्क पडेगा ही। वैज्ञानिक मानते हैं कि 2 अरब प्रकाशवर्ष दूर के ताराविश्वों या विश्वसमूहों के लिए ऐसा अंतर-संस्कार खास तकलीफ पैदा करने वाला न होगा। और यों 'वेग के अंतर के प्रमाण में गति करता है' वाला हबल का सूत्र काम देगा। इससे ज्यादा दूर के ताराविश्वों के लिए उस सूत्र को शुद्ध करना होगा। (ब्र. द. पृ.-84)

पृथ्वी का इतिहास :- भूवैज्ञानिकों तथा जीवाश्मविज्ञानियों ने पृथ्वी का इतिहास खोज निकाला है । पृथ्वी के इतिहास के काल मापक्रम के 6प्रमुख विभाग किये गए हैं, जिन्हे महाकल्प (Era) कहा जाता है। एक महाकल्प प्राय: कई लाख वर्षों का होता हैं। ये हैं- ऐजोइक (Azoic), आर्कियोजोइक (Archaeozoic), प्रोटेरोजोइक (Proterozoic),पेलियोजोइक (Palaeozoic), मीसोजोइक

(Mesozoic)तथा सिनोजोइक (Cenozoic)। इनमें से प्रथम तीन महाकल्पों को प्रिकैंब्रियन (Precambrian) कहा जाता है। इस महाकल्प में पृथ्वी के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

महाकल्पों को उपविभाजित करके युगों (Periods) तथा युगों को कल्पों (Epoch)में विभाजित किया जाता है। वर्तमान काल से 600 मिलियन वर्ष पूर्व प्रिकैंब्रियन महाकल्प (I) था। 600-225 मिलियन वर्ष के बीच पेलियोजोइक महाकल्प (Palaeozoic Era (II); 225-70 मिलियन वर्ष के बीच मीसोजोइक महाकल्प (Mesozoic Era)(III); 70 मिलियन से अब तक सीनोजोइक महा कल्प (Cenozoic Era) (IV) है। इस सीनोजोइक महाकल्प के अंतर्गत टर्शियरी काल तथा क्वार्टनरी काल है। टर्शियरी काल के अन्तर्गत पैलियोसीन, इयोसीन, ओलेगोसीन, मायोसीन, प्लायोसीन युग आते हैं। क्वार्टनरी काल के अंतर्गत प्लाइस्टोसीन तथा अर्वाचीन युग आते हैं।

गोंडवाना भूखंड के महाद्वीपों को चित्रबद्ध करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अफ्रीका के पश्चिमी तट तथा दक्षिण अमेरिका के पूर्व तट में विलक्षण रूप से समान्तर है। वस्तुत: तटों का यह संमांतर इतना स्पष्ट और सूक्ष्म है कि लगता है- ये दो महाद्वीप एक ही भूखंड के दो टूटे टुकडे हो। यदि तटीय समुद्र में एक हजार मीटर की गहराई पर, जहाँ मंद-मंद ढाल वाले महाद्वीपीय उप तट का अकस्मात् अंत होकर कराल ढाल आरंभ होता है ; महाद्वीपों की सीमांत रेखा लें तो परस्पर मिलाए जाने पर ये महाद्वीप पूरी तरह मेल खाते हैं; जैसे कागज के पन्ने को फाडकर टुकडों को पुन: मिलाकर जोड दिये जाने पर होता है। यह प्रमाण है महाद्वीपीय विस्थापन का ।

महाकल्प पृथ्वी की दशा	**पशु-वनस्पति**
IV) महान् जलवायु परिवर्तन,पृथ्वी ऊपर उठी। हिम पिघली, समुद्र तल ऊपर उठा।	जंगलों का विस्तार। समुद्री तथा स्थलीय पशुओं का विकास, मनुष्य ने पशु पाले, खेती शुरु की।
III)पर्वत बनने की क्रिया में कमी, पृथ्वी ने आकार ग्रहण किया। समुद्र हटते गए।	वानर जैसे मनुष्य, फुलने वाले वृक्षों का विकास, पशुओं का विकास।
II)पर्वतों का बनना तथा अपरदन जारी। स्थल पर समुद्री जल का अधिकार।	समुद्र तथा स्थल पर सरीसृपों का बाहुल्य! डायनासोर का विराट आकार, शंकु-पौधों का विकास।

I) समुद्र से पृथ्वी आच्छादित पर्वतों का बनना शुरू। कोयला युग।	पर्णपाती पौधों का विकास। सरीसृप तथा कीटों बाहुल्य, मछलियाँ, काइयाँ तथा कीटों का बाहुल्य, मछलियाँ, काइयाँ, प्रवाल-द्वीप, पृथ्वी पर जंगलों का विकास।
0)पृथ्वी की पपडी बनी। भाप पानी में बदली। पृथ्वी की सतह मरूस्थल थी।	कोई जीवन नहीं। समुद्र में जीवाणु तथा शैवाल।

यूरोप में बाल्टिक सागर तथा स्कैंडेनेविया प्रदेश आज 4-9 मीटर प्रति एक हजार वर्ष की गति से उभर रहा है । रोचक बात तो यह है कि पृथ्वी के उभरने की गति उन क्षेत्रों में सबसे अधिक है। जहाँ प्राचीन समय से हिमाच्छदन की मोटाई सर्वाधिक है।

सर्वेक्षकों के अनुसार, हिमालय का उत्थान आज भी लगातार जारी है, अर्थात् वह आज तक अपने स्थैतिक संतुलन को नहीं प्राप्त कर सका है। ऐसी स्थिति में यदि किसी कारण हिमालय की सम्पूर्ण बर्फ गलकर बह जाए तो उसके उत्थान की गति में तीव्रता आ जायेगी। (पृथ्वी की रोचक बातें, पृ. -39)

विज्ञान के अनुसार जीवन के तत्त्व

लगभग उन सभी रसायनों में जिनसे जीवित वस्तुएँ बनी होती हैं, एक प्रकार का परमाणु पाया जाता है, जिसे ''कार्बन परमाणु'' कहते हैं। और कार्बन परमाणुओं में भी एक विशेष प्रकार का परमाणु होता है जो साधारण कार्बन परमाणु से कुछ भारी होता है, -अर्थात् इस प्रकार का कार्बन परमाणु कुछ समय बाद अपने -आप विघटित हो जाता है या अलग-अलग हो जाता है और फिर दूसरी किस्म का परमाणु बन जाता है। इस प्रकार के परमाणु को ' कार्बन -14' कहा जाता है और यह एक कभी न बदलने वाली, स्थिर गति से विघटित होता रहता है। अगर ईसा- पूर्व 3,600 साल पहले किसी हड्डी के टुकडे में 10,000 नियमित कार्बन परमाणु और 100 कार्बन-14 परमाणु थे तो आज उस टुकडे में 10,000 नियमित कार्बन परमाणु और 50 कार्बन - 14 परमााणु होंगे।

बात यह है कि नियमित कार्बन परमाणु के साथ-साथ कार्बन-14 परमाणु प्राणियों के शरीर में तभी प्रवेश कर पाते हैं जब वे प्राणी जीवितावस्था में रहते हैं। इसलिए वैज्ञानिकों ने इन छोटे-छोटे परमाणुओं की गिनती करने के (ये परमाणु इतने छोटे होते हैं कि इन्हें सबसे शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी की सहायता से भी नहीं देखा जा सकता) और विभिन्न प्रकार के कार्बन परमाणुओं के साथ इनकी तुलना करके यह तय करने के बडे

आश्चर्यजनक तरीके निकाल रखे हैं कि वह प्राणी कब मरा था। शीशे की नलियों के चमकते हुए जालों और तेज रोशनियों तथा परमाणु-गणक मशीनों की खरखराहट और टिक-टिक से भरी बडी-बडी प्रयोग शालाओं के वैज्ञानिक, हड्डी के एक नन्हें से टुकडे की परीक्षा करके कह सकते हैं कि यह आदमी 75,000 साल पहले मरा था। (आदमी की कहानी, लेखक-डोनाल्ड बार, अमेरिका की शिक्षा मंत्रालय, वाशिंगटन)

जीवों की उत्पत्ति :- पृथ्वी की कहानी शुरू हुई थी इस शून्य अन्तरिक्ष की भयानक ठंडक में । कई वैज्ञानिकों का यह मत है कि ऐसा कुछ हुआ होगा, या होना चाहिए था; इस समय जहाँ सूर्य और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह स्थित हैं वहाँ कभी धूल और गैस का एक विशालकाय काला बादल था। धीरे-धीरे इसके आस पास के तारों से आने वाले प्रकाश ने आहिस्ता-आहिस्ता धकेलकर इस पदार्थ को इक्ट्ठा कर दिया फिर गुरुत्वाकर्षण ने इसे दबाकर कडा, ज्यादा कडा तथा और भी ज्यादा कडा कर दिया। इसके केन्द्र में एक ढेर सा बन गया और उसके भीतर के गुरुत्व ने ज्यादा पदार्थ को अपनी ओर खींच लिया। अन्त में गैंस का यह ढेर इतना बडा बन गया कि इसके केन्द्र के परमाणु इसके परमाणु इसके ऊपर के पदार्थ से बहुत जोर से दबने लगे। इसके परमाणुविक शक्ति का एक बहुत बडा विस्फोट शुरु हो गया, जैसे किसी उद्जन बम का लगातार विस्फोट हो रहा है, और इस तरह बहुत जल्दी ही यह ढेर एक बडा भारी चमकीला गोला बन गया-अर्थात् सूर्य का जन्म हुआ। इसके आस पास धूल के बादल का बाकी बचा भाग बराबर नाचता रहा। धीरे-धीरे धूल के छोटे-छोटे ढेर बनने लगे और फिर ये भी चमकदार गोले बन गए। इस प्रकार ग्रहों और उनके चन्द्रमाओं का निर्माण हुआ।

जब सूर्य के बाद तीसरा ग्रह- जिसे हम पृथ्वी कहते हैं- कुछ ठंडा हुआ तो उसके चारों ओर हवा की एक हल्की-सी परत छाई हुई थी, लेकिन वह हवा ऐसी नहीं थी जिसमें हम सांस लेते हैं। अगर हम नई जन्मी हुई पृथ्वी की हवा में सांस लेने की कोशिश करते तो हमारा दम घुट जाता और कुछ सेकण्ड में ही प्राण निकल जाते। वह हवा कुछ प्रकार की गैसों से मिलाकर बनी थी- जैसे हाइड्रोजन, मेथेन, अमोनिया और पानी की भाप। लाखों सालों तक पृथ्वी के चारों ओर बडे भयानक तूफान मंडराते रहे और वर्षा के बादलों के बीच बडी तेज बिजलियाँ कौंधती रही। लाखों सालों सूरज की किरणें पृथ्वी पर पडती रहीं। **सूरज की किरणों और बिजली ने गैसों के परमाणुओं को विचित्र प्रकार के अम्लों में बदल दिया। ये अम्ल'एमिनो अम्ल' कहलाते हैं। इन्हीं अम्लों के आधार पर हमारे शरीर के मांस और रक्त का निर्माण हुआ है। कहीं-कहीं ये एमिनो अम्ल ठीक-ठीक अनुपात में आपस में मिल गए और 'प्रोटीन'**

के सूक्ष्म कणों का निर्माण हुआ। लेकिन प्रोटीन को हम जीवित पदार्थ नहीं कह सकते । और अन्त में कुछ और अम्ल तैयार हुए जो इनसे भी अधिक आश्चर्यजनक थे। इन्हे 'न्यूक्लीक अम्ल' कहते हैं। और जब ये परमाणु समूह या अणु एक विशेष प्रकार से आपस में मिले तो दूसरे अम्ल पदार्थ इनके साथ चिपक गए और उनके पास ही ठीक उसी प्रकार व्यवस्थित हो गए। ये थी पहली जीवित वस्तुएँ।

विकास-वाद -समस्त जीवित प्राणी उसी बडे परिवार के सदस्य हैं। इस विचार को 'विकास वाद' कहते हैं। चाहे शेर हो, चाहे जिराफ, कीडा, बाज, गौरैया या बर्र- सभी आपस में रिश्तेदार हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि इन सबकी पहली पूर्वज एक कोशिका थी, जो लगभग 20 खरब साल पहले पृथ्वी के तूफानी सागरों में तैरा करती थी। यह प्रोटीनों का एक बारीक-सा गुच्छा था जिसके बीच में आश्चर्यजनक न्यूक्लीक अम्लों का समूह मौजूद था और जिसकी शक्ल दांतेदार थी। कोशिका के इस केन्द्रभाग ने अपने आसपास की प्रोटीन थैली के अम्लों में से विभिन्न रासायनिक द्रव्यों के कण बटोर लिए और उन्हें बिल्कुल अपने जैसी शक्ल में ही व्यवस्थित कर लिया। उसका यह प्रति रूप टूटकर अपने मूलरूप से अलग हो गया। अपने साथ वह प्रोटीन समूह का एक अंश भी तोडता लाया और इस तरह एक नई कोशिका का केन्द्र बन गया। फिर दोनों कोशिकाएँ टूटकर बट गई। इस तरह अब चार कोशिकाएँ हो गईं। फिर आठ हुई, और फिर सोलह हो गई।अपने और उस तरह अरबों कोशिकाएँ बन गई, जिनमें से प्रत्येक न्यूक्लीक अम्ल की पहली दांतेदार शक्ल की ठीक नकल थी। धीरे-धीरे इन कोशिकाओं में परिवर्तन होने लगा। ये अब विशेषज्ञ बन गई । इनमें से कुछ को एक विशेष प्रकार के रासायनिक द्रव्य अलग करने की योग्यता प्राप्त थी और दूसरी, कुछ दूसरे रासायनिक द्रव्य पैदा करती थी। जब कोई विद्युत् धारा इनमें से कुछ को छू लेती थी तो उनकी शकल बदल जाती थी अन्य कोशिकाओं में प्रकाश की किरणों के स्पर्श से विद्युत् क्रिया उत्पन्न हो जाती थी। और ये विशेषज्ञ कोशिकाएँ अब केवल अपने बल पर अकेली ही नहीं रहती थी ये अब दलों या बस्तियों के रूप में रहती थी और अपने बीच विभिन्न प्रकार के काम बांट लिया करती थी। ये बस्तियां अपने प्रतिरूप भी तैयार करने लगी। लेकिन यह काम इस तरह नहीं होता था,जैसे कोई फुटबाल टीम मैदान से अलग हटकर अपने आप को किसी नई टीम के रूप में फिर से संगठित कर ले और पुराने खिलाडियों के स्थान पर उसी तरह के नये खिलाडियों को नियुक्त कर ले। बल्कि यह काम किसी बस्ती की' मास्टर प्लान ' की तरह होता था जो न्यूक्लिक अम्लो में स्पष्ट रुप से चित्रित होती थी। प्रत्येक कोशिका की अपनी एक कापी यानि उसका प्रतिरूप होता था और यह प्रतिरूप एक नई बस्ती को प्रदान करने के लिए एक

विशेष कोशिका में रखा होता था। फिर धीरे-धीरे ये मास्टर प्लान भी बदलने लगीं और कोशिकाओं की बस्तियाँ ज्यादा से ज्यादा पेचीदा होती गई। ऐसी कोशिकाएँ जो प्रकाश के प्रति संवेदनशील थी, अपनी बस्ती के लिए आँखे बनने लगी। जो कोशिकाएँ विद्युत् धारा पहुँचाती थी, वे तंत्रिका बन गई । कुछ रासायनिक-कर्म कोशिकाएँ आमाशय का काम करने लगीं और इस तरह प्राणियों का निर्माण हुआ।

विभिन्न प्राणियों का विकास :- किसी प्राणी की रूपरेखा में होने वाले परिवर्तनों को 'म्यूटेशन्स' या उत्परिवर्तन कहते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि मास्टर प्लान के अम्लों में लगातार कोई न कोई छोटी-मोटी दुर्घटना होती रहती है। उदाहरण के लिए, बाह्य अन्तरिक्ष से आने वाली कुछ ऐसी किरणें हैं जो हमारे अन्दर प्रवेश करती रहती हैं। इन (ब्रह्मांड किरणों) के प्रभाव से अम्ल पदार्थ के कुछ अंश अपनी जगह बदलकर इधर-उधर खिसक सकते हैं । इन दुर्घटनाओं में से अधिकांश रूपरेखा की प्रतिलिपि को इतना खराब कर देती हैं कि इसका उपयोग नहीं हो सकता, लेकिन कभी-कभी किसी दुर्घटना से ऐसा परिवर्तन भी हो जाता है जो वास्तव में उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रकार हम जो कुछ हैं वह और कुछ नहीं, बस **इस प्रकार के करोडों-करोड परिवर्तन का एक समूह मात्र है, 500 लाख खरब कोशिकाओं की बस्ती के रूप में।**

प्राकृतिक वरण :- इसी को उत्परिवर्तनों का 'प्राकृतिक वरण' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्राणियों की मूल रूप रेखा में धीरे-धीरे बराबर परिवर्तन हो रहा है, ताकि वे उस संसार के योग्य हो सकें जिसमें उन्हें रहना है। उदाहरण के लिए, पेनिसिलीन जैसी कुछ दवाओं में रोगाणुओं को नष्ट करने की बडी चमत्कारपूर्ण शक्ति होती थी। इन रोगाणुओं में 'स्टैफिलोकोकस' जैसे भयानक रोगाणु भी थे जो बडे संक्रामक होते थे। डाक्टर लोग लगभग प्रत्येक व्यक्ति को लगभग हर बात पर पेनिसिलीन दे दिया करते थे। इसलिए 'स्टैफिलोकोकस' जीवाणुओं को पेनिसिलीन से भरी दुनिया में रहना पडता था । और अब कई प्रकार के स्टैफिलोकोकस रोगाणुओं में एक ऐसा उत्परिवर्तन हो गया है जिस के कारण पेनिसिलीन का उन पर कोई असर नहीं हो पाता। ऐसा लगता है कि अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य के साथ भी ऐसा ही होता रहा है।

डार्विन ने कहा कि मनुष्य का विकास इसलिए हो सका क्योंकि उस के शक्तिशाली मस्तिष्क ने जीवित बने रहने में उस की मदद की।

जब सौ साल पहले विकासवाद पर डार्विन की पुस्तकें प्रकाशित हुई तो बहुत से लोगों ने यह कहा कि डार्विन ईश्वर की योजना में विश्वास नहीं करते, बल्कि एक ऐसे **संसार में विश्वास करते हैं जिसका संचालन सौभाग्य पूर्ण दुर्घटनाओं और स्वार्थ**

पूर्ण संघषों के द्वारा हो रहा है। लोगों ने कहा कि डार्विन मनुष्य को एक चालाक बन्दर से अधिक और कुछ नहीं मानते हैं लेकिन इन लोगों को इतना चिन्तित होने की जरुरत नहीं थी। विकासवाद का सिद्धान्त कहता है कि कुछ चीजे घटित हुई हैं। वह यह नहीं कहता, और नहीं कह सकता है कि ये चीजें क्यों हुई। अगर ईश्वर ने संसार बनाया है और वही इसे चला रहा है तो विकासवाद ही ईश्वर की योजना है। और यह योजना एक बडी शानदार और बडी खूबसूरत योजना है।यदि विकासवाद के नियम को मान लिया जाए तो दुर्घटनाएँ भी जीवन की योजना का एक अंग है और सब से निम्नकोटि के प्राणी भी इस बडे जीवन -परिवार के अंग हैं। विकासवाद यह नहीं कहता कि मनुष्य सिर्फ एक ज्यादा चालाक बन्दर है। इस सिद्धान्त का कहना है कि दो खरब साल तक जीवन के विभिन्न रूपों की परीक्षा और उसमें सुधार होता रहा। जीवन रुपों की परीक्षा और उनमें सुधार का यह क्रम उस बडी तैयारी के लिए बराबर चलता रहा जो पृथ्वी पर, जीवन के रंगमंच पर उस मानव के आागमन के लिए हो रही थी जिसे हम आज जानते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी पर मानव की उत्पत्ति :- पृथ्वी पर मानव की उत्पत्ति के प्रमाण वे असंख्य जीवाश्म या कंकाल और पाषाण उपकरण हैं जो आज हमें मिट्टी के नीचे की परतों में बिखरे हुए मिल जाते हैं। **फिर भी इनके आधार पर निश्चित रूप से यह बता पाना असंभव है कि मनुष्य की उत्पत्ति सर्व प्रथम कब हुई।** पुरामानव वैज्ञानिकों ने अपनी शोधों के आधार पर बताया है कि मानव प्रथम स्तनियों (First Primates) का ही वंशज है। उनके अनुसार; आज से लगभग 65 मिलियन वर्ष पूर्व अफ्रीका के घने उष्णकटिबंधीय जंगलों में मानव की उत्पत्ति हुई, क्योंकि इसी क्षेत्र से प्रथम उच्च स्तनियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसके पश्चात् निरंतर उद्विकासीय प्रगति करते हुए अनेक विकसित प्रजातियाँ अस्तित्व में आईं। उच्च स्तनियों के बाद नरवानरों (Apes)का आगमन हुआ। नरवानरों के पश्चात् के मानव उद्विकास क्रम में पाँच अवस्थाएँ दृष्टिगत होती हैं- आस्ट्रेलोपिथेकस, होमो हैबिलिस, होमो इरेक्टस, नियंडरथल और होमो सैपियंस। लगभग 40 लाख वर्ष पूर्व अफ्रीका में आस्ट्रेलोपिथेकस का उद्भव हुआ । यह पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर था और फल-फूल खाकर अपना पेट पालता था। तत्पश्चात् होमो हैबिलिस या हैंडिमैन का आगमन हुआ, जो अपने हाथों का अधिक प्रयोग करने लगा था और कुछ पाषाण उपकरणों का भी उपयोग करना सीख गया। लगभग 10 लाख वर्ष पूर्व होमो इरेक्टस या सीधा वानर मानव उद्विकास क्रम में उत्पन्न हुआ,जो सीधे होकर अपने दो पैरों पर चलने-फिरने में सक्षम था। फलत: वह अफ्रीका से बाहर के क्षेत्रों में भी प्रव्रजन करने लगा। मानव उद्विकास की अगली कडी

नियंडरथल मानव की थी, जिसने लगभग1लाख से 35 हजार वर्ष पूर्व तक अपनी उपस्थिति बनाए रखी। इस अवस्था में मानव सांस्कृतिक रूप से काफी विकास कर चुका था और स्थायीआवास, शिकार की उत्तम प्रणाली, अग्नि का प्रयोग और शवाधान आदि का जानकार हो गया था। लगभग 35 हजार वर्ष पूर्व आधुनिक मानव अर्थात् होमोसैपियंस का आगमन हुआ जो शारीरिक बनावट में अब तक का सबसे विकसित जीव था और बौद्धिक क्षमता में भी काफी सबल था। इसी की अत्यंत विकसित अवस्था होमो सैपियंस है, जो सुसंस्कृत और सुसभ्य जीवन बिताने लगी। धातुओं का प्रयोग, कृषिकार्य व पशुपालन, नगरों का विकास, राजनैतिक व सामाजिक संगठन आदि का भी उसने विकास किया। ग्रिफिथ टेलर मानव का मूल स्थान या उद्गम क्षेत्र (CRAddle land) मध्य एशिया को मानते हैं, जहाँ से चारों दिशाओं में उसका क्रमश: प्रव्रजन होता गया । वास्तव में जैसे-जैसे मानव की प्रजाति का विकास होता गया, वह एशिया से बाहर निकलता गया। जब कोई नई प्रजाति अस्तित्व में आ गई तो उसने अपनी पूर्व की प्रजाति को बाहर की ओर धकेल दिया। इस प्रकार मध्य एशिया में पाई जाने वाली प्रजाति सबसे अधिक विकसित है ,और हम इससे जैसे-जैसे दूर हटते जाएँगे, वहाँ अधिक पुरानी या कम विकसित प्रजातियाँ दिखाई पडेंगी। टेलर द्वारा दिए गए उपर्युक्त प्रजातीय वर्गीकरण में प्रजातियाँ जिस क्रम में सजाई गई हैं (बढते हुए शीर्षदेशना के अनुसार) वही क्रम मध्य एशिया से क्रमश: दूर बढते जाने पर मिलने वाली प्रजातियों का है अर्थात् मध्य एशिया में मंगोलिक प्रजाति मिलती है, जबकि यहाँ से दूर हटने पर क्रमश: अल्पाइन ,नार्डक ,मेडिटरेरिन, आस्ट्रेलॉयड, नीग्रो और निग्रेटो मिलते जाते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त का एक अपवाद नीग्रो और निग्रेटो प्रजातियाँ हैं, जो मध्य एशिया से सबसे दूर स्थित अमेरिका तक पहुँचने में असफल रही हैं, जिसका कारण संभवत: उनके प्रवजन काल के समय अलास्का के थलसेतु का हिम से बंद होना था। (पृथ्वी की रोचक बातें 47)

मनोविज्ञानुसार जीवों की विभिन्न वृत्तियाँ

युग के अनुसार मानसिक प्रकार्य (Functions) चार प्रकार के होते हैं। ये चारों प्रकार्य उपर्युक्त वर्णित दो प्रकार की मूल -अभिवृत्तियों से सम्बन्धित होते हैं। यह चार प्रकार्य हैं -

1) संवेदन (Sensation):- यह वह प्रत्यक्ष परक प्रकार्य (Perceptul function) हैं जिसके द्वारा व्यक्ति का बाह्य वातारण और आन्तरिक परिवर्तनों की सूचना प्राप्त होती है।

2) चिन्तन (Thinking):- इस प्रकार्य द्वारा व्यक्ति संवेदनाओं द्वारा प्राप्त सूचनाओं को पहचानता है और व्याख्या करता है।

3) भावना (Feeling):- इस प्रकार्य के द्वारा व्यक्ति यह निर्णय करता है कि प्रत्यक्षीकृत अनुभव वांछनीय है या अवांछनीय है। संक्षेप में यह एक प्रकार का मूल्य निर्णय (Value Judgement) है।

4) अन्तर्ज्ञान (Intution):-इस प्रकार्य के द्वारा व्यक्ति एक परिस्थिति में अन्तर्निहित सम्भावनों का ज्ञान प्राप्त करता है।

युगं ने संवेदन को पुरुष -विशेषक लक्षण (Masculine Trait) तथा भावना और अन्तर्ज्ञान को स्त्री-विशेषक लक्षण (Feminine Trait)माना है। उसने यह भी माना है कि संवेदन और चिन्तन प्राय: साथ-साथ रहते हैं तथा भावना और अन्तर्ज्ञान प्राय: साथ-साथ रहते हैं। उसने उपर्युक्त प्रकार्यों और अभिवृत्तियों को अन्त: सम्बन्धित माना है तथा चार प्रकार्य और दो अभिवृत्तियों (बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता) के आधार पर व्यक्तित्व के आठ प्रकार बतलाये हैं।

1) बहिर्मुखी-चिन्तन प्रकार (Extroveted Thinking Type) इस प्रकार के व्यक्तित्व वाले व्यक्तित्व का व्यवसाय बाह्य वस्तुओं के प्रति चिन्तन द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार के व्यक्ति के व्यवहार में बहिर्मुखता की विशेषताओं के अतिरिक्त चिन्तन प्रकार्य की भी विशेषताएँ पायी जाती हैं।

2)बहिर्मुखी-भावना प्रकार -(Extroveted Feeling Type) इस प्रकार के व्यक्ति में बहिर्मुखता की विशेषताओं के साथ-साथ भावना प्रकार्य की भी विशेषताएँ पायी जाती हैं।

3) बहिर्मुखी -संवेदन प्रकार (Extrovertd Sensation Type)इस प्रकार का व्यक्ति यथार्थ वादी होता है। उसके व्यवहार में बहिर्मुखता की विशेषताओं के साथ-साथ संवेदना प्रकार्य की भी विषेषताएँ पाई जाती हैं।

4)बहिर्मुखी- अन्तर्ज्ञान प्रकार (Extrovered Intution Type) इस प्रकार के व्यक्ति के व्यवहार में बहिर्मुखता विशेषताओं के साथ-साथ अन्तर्ज्ञान प्रकार्य की भी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

5) अन्तर्मुखी-चिन्तन प्रकार (Introverted Thinking Type) ऐसा व्यक्ति कुछ सीमा तक सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने में सक्षम होता है। इस प्रकार के व्यक्ति के व्यवहार में अन्तर्मुखी तथा चिन्तन प्रकार्य की विशेषताएँ पाई जाती हैं।

6)अन्तर्मुखी-भावना प्रकार (Introverted Feeling Type) इस प्रकार का व्यक्ति दिवास्वप्न देखने वाला होता है तथा शांति प्रिय होता है। इसमें अन्तर्मुखता की विशेषताओं के साथ-साथ भावना प्रकार्य की भी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

7) *अन्तर्मुखी-संवेदन प्रकार* (Introverted Sensation Type) बहुधा इस प्रकार के व्यक्ति कलाकार होते हैं। उनमें सृजनात्मकता पाई जाती हैं। इस प्रकार के व्यक्तित्व में अन्तर्मुखता की विशेषता के साथ-साथ संवेदना प्रकार्य की भी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

8) *अन्तर्मुखी-अन्तर्ज्ञान प्रकार* (Introverted Intution Type) ऐसा व्यक्ति पैगम्बर, कलाकार या स्वप्नदृष्टा आदि कुछ भी बन सका है, इस प्रकार के व्यक्तित्व में अन्तर्मुखता की विशेषताओं के साथ-साथ अन्तर्ज्ञान प्रकार्य की भी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

***व्यक्ति विकास*(Development Of Personality)-** युग के अनुसार व्यक्तित्व विकास निरंतर आगे बढता रहता है। यह विकास क्रम विकसित अवस्था की ओर से अधिक विकसित अवस्था की ओर निरंतर बढता रहता है। फ्रायड के अनुसार युगं ने व्यक्तित्व विकास की व्याख्या विभिन्न अवस्था के रूप में प्रस्तुत नहीं की है। जन्म से लेकर लगभग पाँच वर्ष की अवस्था तक बालक की लिबिडो जीवन रक्षा के लिए आवश्यक कार्यों में लगी रहती है। पाँच वर्ष की आयु से कुछ पहले ही बालक में यौन संबंधी (Sexual Values) का विकास प्रारम्भ होने लगता है। इन मूल्यों का विकास किशोरावस्था तक अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है। प्रारम्भिक प्रौढावस्था से प्रौढावस्था तक व्यक्ति अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है। जैसे वह व्यवसाय खोजता है, विवाह करता है और बच्चे उत्पन्न करता है। वह समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान भी निश्चित करता है। प्रारम्भिक प्रौढावस्था तक विकसित जीवन मूल्य लगभग चालीस वर्ष की अवस्था तक लगभग स्थिर रहते हैं। इस आयु में व्यक्ति के जीवन मूल्यों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। इस आयु में प्रौढावस्था की रुचियों का महत्व कम हो जाता है। कुछ नई रुचियाँ इस अवस्था में विकसित होती हैं। यह रुचियाँ संस्कृति मूलक होती हैं। प्रौढावस्था से चले आ रहे आचरण में आमूल चूल परिवर्तन हो जाता है। बहुधा इस आयु में व्यक्ति अन्तर्मुखता की विशेषताओं को अपनाते हैं। इस आयु में प्रौढावास्था की अपेक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व में सूक्ष्मदर्शिता और समझ अधिक दृष्टिगोचर होती है । लगभग चालीस वर्ष की अवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो परिवर्तन होते हैं यदि यह परिवर्तन सहज रूप से होते हैं तो व्यक्ति का भावी जीवन समायोजित और संतुलित प्रकार का होता है। दूसरी और यदि ये परिवर्तन सहज रूप से नहीं होते हैं तो व्यक्ति का जीवन असंतुलन और कुसमायोजन से पूर्ण होता है।

***आत्म* (Self) :-** आत्म की प्राप्ति व्यक्ति अनेक प्रयत्नों के बाद ही कर पाता है। यह

व्यक्ति में स्वत: नहीं होती है। यह एक प्रकार का विकासात्मक परिवर्तन है। युंग यह मानते हैं कि व्यक्तित्व के सभी पक्षों का विभेदीकरण होने पर ही आत्म का उद्गमन होता है। आत्म व्यक्तित्व को एक्ता, स्थैर्य और संतुलन प्रदान करता है तथा यह व्यक्तित्व के सभी पक्षों का समन्वय करता है। स्वयं के वास्तवीकरण (Self Actualization) के द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व अपने उच्चतम स्तर तक पहुँचता है। युंग ने आत्म के वास्तवीकरण की कई विधियों का वर्णन किया है।

***व्यामोह* (Delusion):-** व्यामोह का अर्थ झूठे विश्वास है। इस लक्षण में रोगी यह विश्वास करता है कि उसके विचार सत्य हैं। दूसरे व्यक्ति इनकी असत्यता के लिए चाहे कितने ही तर्क दें, रोगी इस के बाद भी अपने विचारों को सत्य ही मानता है। कोलमैन (1976) ने व्यामोह के सम्बंध में लिखा है कि " Delusions are false beliefs which the individual defends vigorously despite logicae absurdity or proof to the contrary and despite their serious interference with his social adjustment " बहुधा यह देखा गया है कि व्यामोह लक्षणों के साथ स्मृति, विकार, संवेगात्मक दोष और विभ्रम जैसे लक्षण भी उपस्थित हो सकते हैं। व्यामोह के कुछ प्रमुख प्रकार निम्न हैं -

1) महानता व्यामोह (Delusions Of Grandaur) इस लक्षण में रोगी अपने को किसी न किसी प्रकार से महान् समझता है। उदाहरण के लिए वह अपने आप को बहुत धनी, बहुत बुद्धिमान, बडा राजनीतिज्ञ या बडा समाज सुधारक आदि कुछ भी समझ सकता है। जब लक्षण अति तीव्र रूप में होता है, तब व्यक्ति अपने आपको कोई कवि या परमात्मा का अवतार भी समझ सकता है।

2) उत्पीडन व्यामोह (Delusions of perseeution) इसमें रोगी यह विश्वास करता है कि दूसरे लोग उसके लिए षडयंत्र कर रहे हैं अथवा दूसरे लोग उसका विरोध कर रहे हैं। इसी लक्षण के र्तगत रोगी यह भी विश्वास कर सकता है कि दूसरे लोग उससे ईर्ष्या कर रहे हैं या उसे नीचा दिखाना चाहते हैं।

3) अपराध भावना व्यामोह (Delusions of Guilt) इस लक्षण में रोगी यह विश्वास करता है कि वह पापी है। पाप के कारण उसे नरक प्राप्त हो रहा है अथवा उसे जो कष्ट प्राप्त हो रहे हैं; उनका कारण उसके द्वारा किए गये पाप हैं।

4) स्व-संदर्भ व्यामोह (Delusions of Rererence) इस लक्षण में व्यक्ति यह समझता है कि दूसरे लोग उसके सम्बंध में बातचीत कर रहे हैं। यदि दूसरे लोग किसी

कारणवश बातचीत बंद कर दें तो रोगी का दृढ विश्वास हो जाता है कि उसी के सम्बंध में बातचीत हो रही थी।

5) अतिचिंता व्यामोह (Hypochondrical Delusions) इस लक्षण में रोगी को यह मिथ्या विश्वास हो जाता है कि प्रतिदिन उसका स्वास्थ्य गिर रहा है या उसका रोग अच्छा नहीं होगा। वह यह भी विश्वास कर सकता है कि कोई महामारी या दुर्गन्ध फैल रही है, जबकि वास्तव में कुछ भी नहीं है। अपने सम्बंध में यह भी विश्वास कर सकता है कि उसकी आँते सडी हुई हैं या मस्तिष्क में कीडें पडे हुए हैं, आदि ।

6) प्रभाव व्यामोह (Delusion of Influnce):- इस लक्षण के अंतर्गत रोगी यह विश्वास कर सकता है कि उसको कोई दैवीशक्ति, जादू या विद्युत् तरंगों आदि से नियंत्रित किया जा रहा है। वह यह भी विश्वास करता है कि वह इन्हीं शक्तियों द्वारा दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित कर सकता है या कर रहा है।

7) अन्य व्यामोह (Other delusion):- उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य अनेक व्यमोह से संबंधित लक्षण या व्यामोह के प्रकार हैं-1) शारीरिक व्यामोह (Somatic delusions), 2) व्यर्थता के व्यामोह (delusion of worthlessness or Nahilistic delusion)- इसमें व्यक्ति यह विश्वास करता है कि संसार मिथ्या है। रोगी यह विश्वास कर सकता है कि वास्तव में उसकी मृत्यु हो चुकी है, अब केवल उसकी आत्मा की छाया ही रह गई है। (आधुनिक असामसन्य मनोविज्ञान पृ.121)

अध्याय-5

परम सार्वभौम स्वतंत्रता के कारण

यद्यदाचिरीतं पूर्वतत्तदज्ञान चेष्टितम्।
उत्तरोत्तर विज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ।।251

आत्मानुशासन

पूर्व में जो आचरण किया है, प्रकट किया है- वह सब योगी के लिए आगे-आगे विवेक ज्ञान की वृद्धि होने से अज्ञानता पूर्ण किया गया प्रतीत होता है।

अभिप्राय यह है कि जब तक विवेक बुद्धि का उदय नहीं होता है तब तक ही व्यक्ति हीन आचरण करता है। किन्तु आगे ज्यों-ज्यों उसका विवेक बढ़ता है त्यों त्यों उसे वह अपना पूर्व आचरण अज्ञानतावश किया गया स्पष्ट प्रतीत होने लगता है इसीलिए तब वह अपने आत्मगुणों के विकास का ही अधिकाधिक प्रयत्न करता है।

अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तत्तेषामेर्ध्व विशुद्ध्यति ।। 255

हृदय में स्थित जो महान् मोह अनादि काय से समान वृद्धि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है उसको जिन महापुरुषों ने समीचीनी समाधि के द्वारा वान्त कर दिया है-नष्ट कर दिया है- उनका आने का भाव विशुद्ध होता है। किसी व्यक्ति के उदर में यदि बहुत काल से संचित होकर मल की वृद्धि हो जाती है तो उसका शरीर अस्वस्थ हो जाता है ऐसी अवस्था में यदि वह बुद्धिमान है तो योग्य औषधि के द्वारा वमन-विरेचन आदि करके उस संचित मल को नष्ट कर देता है। इससे वह स्वस्थ हो जाता है और उसका आगे का समय भी स्वस्थता के साथ आनन्द पूर्वक बीतता है। ठीक इसी प्रकार से सब संसारी जीवों के अनादि काल से महामोह की वृद्धि हो रही है। इससे वे निरन्तर दुःखी रहते हैं। उनमें जो विवेकी हैं वे बाह्य वस्तुओं से राग और द्वेष को छोडकर तप का आचरण करते हुए इस मोह को कम करते हैं। इस प्रकार अन्त में समीचीन ध्यान (धर्म व शुक्ल) के द्वारा उस महामोह को सर्वथा नष्ट करके वे भविष्य में अविनश्वर अनुपम सुख का अनुभव करते हैं।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं।
तदैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छितये।
सर्वारम्भपरिग्रह परित्यागी स वन्द्यः सताम्।। 262

प्राणी ने पूर्व भव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया है वह दैव कहा जाता है। उसकी उदीरणा से प्राप्त हुए दुःख अथवा सुख का अनुभव करता हुआ जो

बुद्धिमान शुभ को ही करता है- पाप कार्यों को छोडकर केवल पुण्य कार्यों को ही करता है- वह भी अभिष्ट है- प्रशंसा के योग्य है। किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों (पुण्य-पाप) को ही नष्ट करने के लिए समस्त आरम्भ व परिग्रह रूपी पिशाच को छोडकर शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषों के लिये वन्दनीय है।

सुखं दु:ख वा स्यादिह विहित कर्मोदयवशात्।
कुत: प्रीति स्ताप: कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्॥
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं।
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव॥ 263

संसार में पूर्वकृत कर्म के उदय से जो भी सुख अथवा दु:ख होता है उससे प्रीति क्यों और खेद भी क्यों, इस प्रकार के विचार से यदि जीव उदासीन होता है- राग और द्वेष से रहित होता है- तो उसका पुराना कर्म तो निर्जीण होता है और नवीन कर्म निश्चय से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्था में यह संवर और निर्जरा से सहित जीव अतिशय निर्मल मणि के समान प्रकाश मान होता है- स्व और पर को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान से सुशोभित होता है।

पूर्व में जिस शुभ अथवा अशुभ कर्म का बन्ध किया है उसका उदय आने पर सुख अथवा दु:ख प्राणी को प्राप्त होता ही है। किन्तु जो अज्ञानी जीव है वह चूंकि पुण्य के फल स्वरूप सुख में तो अनुराग करता है और पाप के फलभूत दु:ख में द्वेष करता है, इसीलिये उसके पुन: नवीन कर्मों का बन्ध होता है। परन्तु जो जीव विवेकी है वह यह विचार करता है कि पूर्वकृत पुण्य के उदय से यह जो सुख प्राप्त हुआ है वह अस्थायी है- सदा रहने वाला नहीं है। इसलिये उसमें अनुराग करना उचित नहीं है। इसी प्रकार दु:ख पाप कर्म के उदय से होता है यदि पूर्व में पाप कर्म का संचय किया है तो उसके फल को भोगना ही पडेगा। फिर भला उसमें खेद क्यो? इस प्रकार के विचार से विवेकी जीव सुख और दु:ख में चूंकि हर्ष और विषाद से रहित होता है,अत: एव उसके पुन: नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता है। साथ ही उसके पूर्व संचित कर्म की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार से वह संवर एवं निर्जरा से युक्त होकर समस्त कर्मों से रहित होता हुआ मुक्त हो जाता है।

सकलविमल बोधो देह गेहे विनिर्यन्।
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मायित्वा ।
पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वल: सन्
भवति हि यतिवृतं सर्वथार्थाश्रयभूमि:॥264

सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान)शरीर रूप ग्रह में प्रग ट होकर जिस प्रकार

लकडी में प्रगट हुई अग्नि निर्दयता पूर्वक उस लकडी को भस्म करके उसके अभाव में फिर भी निर्धूम जलती रहती है उसी प्रकार वह भी शरीर को पूर्णतया नष्ट करके उसके अभाव में भी निर्मलतया प्रकाशमान रहती है। ठीक है -मुनियों का चरित्र सब प्रकार से आश्चर्य जनक है। जिस प्रकार लकड़ी में लगी हुई अग्नि जब तक वह लकडी शेष रहती है, तब तक वह जलती ही है किन्तु उसके पश्चात् भी- उक्त लकड़ी के नि:शेष हो जाने पर भी वह निर्मलता से जलती ही रहती है, उसी प्रकार शरीर में प्रगट हुआ केवलज्ञान जब तक-वह शरीर रहता है तब भी-आर्हन्त्य अवस्था में भी-प्रकाशित रहता है तथा उस शरीर के नष्ट हो जाने पर सिद्धावस्था में भी वह स्पष्टतया अनन्त काल तक प्रकाशित रहता है। यह क्षीणकषाय एवं अयोगी जिन के उस यथाख्यात चारित्र का प्रभाव है जो छद्मस्थ जीवों को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्त:कर्ता भोक्ता सुखी बुध:।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचल: प्रभु:॥266

आत्मा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जन्म से और मरण से भी रहित होकर अनादिनिधन है। वह शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा अमूर्त होकर रूप, रस, गन्ध, एवं स्पर्श से रहित है। वह व्यवहार की अपेक्षा शुभ व अशुभ कर्मों का कर्ता तथा निश्चय से अपने चेतन भावों का ही कर्ता है। इसी प्रकार वह व्यवहार नय से पूर्वकृत कर्म के फलभूत सुख व दु:ख का भोक्ता तथा निश्चय से वह अनन्त सुख का भोक्ता है। वह स्वभाव से सुखी और ज्ञानमय होकर व्यवहार से प्राप्त हुए हीनाधिक शरीर के प्रमाण तथा निश्चय से वह असंख्यातप्रदेशी लोक के प्रमाण है वह जब कर्म मल से रहित होता है तब स्वभावत: उर्ध्व गमन करके तीनों लोकों का प्रभु होता हुआ सिद्ध शिला पर स्थिर हो जाता है।

श्रियं त्यजन् जड: शोकं विस्मयं सात्विक: स ताम् ।
करोति तत्त्वं विच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥104

मूर्ख पुरुष लक्ष्मी को छोडता हुआ शोक करता है, तथा पुरुषार्थी मनुष्य उस लक्ष्मी को छोडता हुआ विशेष अभिमान करता है, परन्तु तत्त्व का जानकार उसके परित्याग में न तो शोक करता है और न विशिष्ट अभिमान ही करता है। जो मूर्ख जन पुरूषार्थ से रहित होते हैं उनकी सम्पत्ति यदि दुर्भाग्य से नष्ट हो जाती है तो वे इससे बहुत दु:खी होते हैं। वे पश्चात्ताप करते हैं कि बडे परिश्रम से यह धन कमाया था वह कैसे नष्ट हो गया, हाय अब उसके बिना कैसे जीवन बितेगा आदि। इसके विपरीत जो पुरुषार्थी मनुष्य होते हैं वे जैसे धन को कमाते हैं वैसे ही उसका दानादि में सदुपयोग भी करते हैं। इस प्रकार के त्याग में उन्हें एक प्रकार का स्वाभिमान ही होता है। वे विचार किया करते हैं कि जब मैंने इसे

कमाया है तो उसे सत्कार्य में खर्च भी करना चाहिए। इससे वह कुछ कम होने वाला नहीं हैं। मैं अपने पुरुषार्थ से फिर भी उसे कमा सकता हूँ आदि। यदि कदाचित् वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है तो भी अपने पुरुषार्थ के बल पर उन्हें इसमें किसी प्रकार का खेद नहीं होता है। परन्तु इन दोनों के विपरीत जो तत्त्वज्ञानी हैं वे विचार करते हैं कि ये सब धन-सम्पत्ति आदि पर पदार्थ हैं, ये न मेरे हैं और न मैं इनका स्वामी हूँ। कर्म के उदय से उनका संयोग और वियोग हुआ ही करता है। ऐसा विचार करते हुए उन्हें सम्पत्ति के परित्याग में न तो शोक होता है और न अभिमान भी।

विमृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत्क्लेशाशुचिभ यनिकाराद्यबहुलम्।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यादि भवति मुक्तिश्रीय जडधी:
स कस्त्युक्तुं नालं खलजनसमायोग सदृशम्॥ 105

गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त यह जो समस्त शरीर सम्बंधित आचरण है वह व्यर्थ में प्रचुर क्लेश, अपवित्रता, मल और तिरस्कार आदि से परिपूर्ण है; ऐसा जानकर विद्वानों को उसका परित्याग करना चाहिये। उसके त्याग से यदि मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर वह कौन-सा मूर्ख है जो दुष्ट जन की संगति के समान उसे छोडने के लिए समर्थ न हो?अर्थात् विवेकी प्राणी उसे छोडते ही हैं।

कुबोधरागादिविचेश्टितै: फलं त्वायपि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभि: ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्॥106

हे भव्य ! तूने बार-बार मिथ्याज्ञान एवं राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों-सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्यागसमाधि संतते: पथी प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदुरं परमं किमप्यसौ॥107

हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रिय-दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित हैं। दीन दुःखी प्राणियों को देखकर उनके साथ जो हृदय में सहानुभूति का भाव उदित होता है वह दया कहलाती है। यह धर्म की जड है, क्योंकि उसके बिना धर्म स्थिर रह नहीं सकता। कहा भी है-

धर्मो नाम कृपा मूलं सा तु जीवानुकंपनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम्॥ क्ष.चू. 5-35

अर्थात् धर्म की आधारभूत दया है और उसका लक्षण है प्राणियों के साथ सहानुभूति। इसलिए जो अरक्षित प्राणियों की रक्षा करता है वही धार्मिक माना जाता है॥ दूसरे शब्द से इस दया को अहिंसा कहा जा सकता है और उस अहिंसा में चूंकि सत्यादि का भी अर्न्तभाव होता है अतएव वह दया एवं पंचव्रतात्मक ठहरती है। दम का अर्थ है राग-द्वेष के दमन पूर्वक इन्द्रियों का दमन करना-उन्हें अपने नियंत्रण में रखना अथवा स्वेच्छाचार में प्रवृत्त न होने देना। इसे दूसरे शब्द से संयम भी कहा जा सकता है जो इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के भेद से दो प्रकार का है। त्याग से अभिप्राय बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग एवं दान का है। समाधि से तात्पर्य धर्म और शुक्ल रूप समीचीन ध्यान से है। इस प्रकार जो विवेकी जीव मन, वचन और काय की सरलता पूर्वक उपर्युक्त दया आदि चारों की परम्परा का अनुसरण करता है वह निश्चय से अविनश्वर पद को प्राप्त करता है।

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्याग: परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरूते॥108

विवेक ज्ञान के द्वारा मोह के नष्ट हो जाने पर किया गया परिग्रहों का त्याग निश्चय से जीव को जरा और मरण से रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध कर देती है।

मुहुं प्रसार्य संज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनि: ॥177

आत्म तत्त्व का जानकार मुनि बार-बार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर जैसा कि पदार्थों का स्वरूप है उसी रूप से उनको देखता हुआ राग और द्वेष को दूर करके ध्यान करे। अभिप्राय यह है कि आत्महितैषी जीव को सबसे पहिले सम्यग्ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा होने पर आत्म स्वरूप की जानकारी हो जाने से उसकी उस ओर रुची होगी। इसके अतिरिक्त बाह्य पर पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि के न रहने से राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति भी नष्ट हो जावेगी जिससे की वह एकाग्र चित्त होकर ध्यान में लीन हो सकेगा। कारण यह है कि राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति के होते हुए उस ध्यान की सम्भावना नहीं है।

वेष्टनोद्वष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिण: ॥178

मथानी का अनुकरण करने वाले जीव के जब तक रस्सी के बन्धने और खुलने

के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तबतक उस रस्सी के खींचने और ढीली करने के समान राग और द्वेष से उसका संसाररूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

यहाँ जीव को मन्थनदण्ड (मथानी) के समान बतलाया है। उससे सम्बद्ध कर्म उस मन्थनदण्ड के ऊपर लिपटी हुई रस्सी के समान हैं, उसकी राग और द्वेषमय प्रवृति उक्त रस्सी को एक ओर से खीचने और दूसरी ओर से कुछ ढीली करने के सामान है, तथा उससे होने वाला बन्ध और सविपाक निर्जरा उक्त रस्सी के बंधने और उकलने के समान है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मथानी में लिपटी हुई रस्सी को एक ओर खींचने और दूसरी ओर से ढीली करने पर वह रस्सी बंधती व उकलती ही रहती है तथा इस प्रकार से वह मन्थनदण्ड बराबर घूमता ही रहता है उसे विश्रान्ति नहीं मिलती। हां, यदि उस रस्सी को एक ओर से सर्वथा छोडकर दूसरी ओर से पूरा ही खींच लिया जाय तो फिर उसका इस प्रकार से बंधना और उकलना चालू नहीं रह सकेगा। तब मन्थनदण्ड स्वयमेव स्थिर-परिभ्रमण से रहित- हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार से जब तक जीव की राग-द्वेष रूप प्रवृति चालू रहती है तब तक वह कर्मों का बन्ध करके और उनका फल भोगकर निर्जरा भी करता ही रहता है। कारण यह कि राग-द्वेष से जिन नवीन कर्मों का बंध होता है उनके उदय में आने पर जीव तत्कृत सुख-दुःख रूप फल को भोगता हुआ फिर भी राग-द्वेष रूप परिणमन करता है। इस प्रकार से यह क्रम जब तक चालू रहता है तब तक प्राणी चतुर्गति-रूप इस संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। परन्तु यदि वह राग-द्वेष से बांधे गये उन कर्मों को तपश्चरणादि के द्वारा अविपाक निर्जरा स्वरूप से नष्ट कर देता है तो फिर राग-द्वेष रूप परिणति से रहित हो जाने के कारण उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है। और तब संवर एवं निर्जरा के आश्रय से उसका संसार परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक प्राणी राग-द्वेष रूप परिणमन करता है तब उसका चित्त स्थिर नहीं रह सकता है, और जब तक चित्त स्थिर नहीं होता है तब तक ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव ध्यान की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष से रहित होना अनिवार्य है।

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम्॥ 179

छोडी जाने वाली रस्सी की फांसी के द्वारा मथानी के समान जीव के नवीन बन्ध और परिभ्रमण चालू रहता है। अतएव उसको इस प्रकार से छोडना चाहिए कि जिससे फिर से बन्धन और परिभ्रमण न हो सके। जिस प्रकार मथानी में फांसी के समान लिपटी हुयी रस्सी यदि एक ओर से खींचने के साथ दूसरी ओर से ढीली की जाती है तब तो मथानी का

बंधना व घूमना बराबर चलता ही रहता है। किन्तु यदि उस रस्सी को दोनों ओर ढीला कर दिया जाता है तो फिर मथानी के घूमने की क्रिया सर्वथा बंद हो जाती है। ठीक इसी प्रकार से जीव की फाँसी स्वरूप सम्बद्ध कर्म को यदि सविपाक निर्जरा के द्वारा राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के साथ छोड़ते हैं-निजीर्ण करते हैं- तब तो जीव के नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण पूर्ववत् बराबर चालू रहता है। परन्तु यदि उक्त कर्मरूप फांसी को अविपाक निर्जरा पूर्वक राग-द्वेष से रहित होकर छोडा जाता है तो फिर उसके नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण दोनों ही रूक जाते हैं। अतएव सविपाक निर्जरा हेय और अविपाक निर्जरा उपादेय है, यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना-चाहिए।

रागद्वेष कृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्य वृत्तिभ्याम्।
तत्वज्ञान कृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः॥ 180

राग और द्वेष के द्वारा की गयी प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव के बन्ध होता है तथा तत्वज्ञान पूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है।

जीव जब तक बाह्य पर पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करता है तब तक उसके जिस प्रकार इष्ट पदार्थ के संयोग में हर्ष और उसके वियोग में विषाद होता है इसी प्रकार अनिष्ठ पदार्थों के संयोग में द्वेष और उसके वियोग में हर्ष भी होता है। इस प्रकार से जब तक उसकी इष्ट वस्तु के ग्रहणादि में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु के विषय में निवृत्ति होती है तब तक उसके कर्मों का बन्ध भी अवश्य होता है। इसके विपरीत जब वह तत्व ज्ञान पूर्वक अनिष्ट हिंसा आदि के परिहार और इष्ट (तप-संयम आदि) के ग्रहण में प्रवृत्त होता है तब उसके नवीन कर्मों के बन्ध का अभाव (संवर)और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि **'रागी बन्धाति कर्माणि वीतरागो विमुच्येते।'** अर्थात् रागी जीव तो कर्म बांधता है और वीतरागी उससे मुक्त होता है- निर्जरा करता है। इसी प्रकार पुरुषार्थसिद्धयुपाय (212-214) में भी राग को बन्ध का कारण और रत्नत्रय को बन्धाभाव का कारण बलाया गया है।

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥181

गुण के निमित्त से की गई द्वेष बुद्धि तथा दोष के निमित्त से की गई अनुराग बुद्धि, इनसे पाप का उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुण के निमित्त से होने वाली अनुराग बुद्धि और दोष के निमित्त से होने वाली द्वेष बुद्धि से पुण्य का उपार्जन होता है तथा उन दोनों से रहित -अनुराग-बुद्धि और द्वेष बुद्धि के बिना उन दोनों (पाप-पुण्य) का मोक्ष अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा होती है। जीव की प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है- अशुभ, शुभ और शुद्ध।

इनमें अशुभ प्रवृत्ति व्रत-संयमादि से द्वेष रखकर दुर्व्यसनादि में अनुराग रखने से होती है और वह पापबन्धन की कारण होती है। इसके विपरीत शुभ प्रवृत्ति उन दुर्व्यसनादि को अनिष्ट समझकर व्रत-संयमादि में अनुराग रखने से होती है और वह पुण्य बन्ध का ही कारण है इनके अतिरिक्त राग और द्वेष इन दोनों से रहित होकर जो आत्मध्यानरूप जीव की प्रवृति होती है वह है उसकी शुद्ध प्रवृति और वह उपर्युक्त पाप और पुण्य दोनों के ही नाश का कारण होती है। यह अन्तिम प्रवृति (शुद्धोपयोग) ही जीव को उपादेय है। परन्तु जब तक वह शुद्धोपयोग रूप प्रवृति सम्भव नहीं है तब तक जीव के लिए उस अशुभ प्रवृति को छोड़कर शुभ प्रवृति को अपनाना भी योग्य है परन्तु अशुभ प्रवृति तो सर्वथा और सर्वदा हेय ही है। उदाहरण के रूप में जैसे ब्रह्मचर्य सर्वथा और सर्वदा ही उपादेय है परन्तु जो उसका सर्वथा पालन नहीं कर सकता है उसके लिए वह भी अच्छा है कि किसी योग्य कन्या को सहधर्मिणी के रूप में स्वीकार करके अन्य स्त्रियों की ओर से विरक्त होता हुआ केवल उसी के साथ अनासक्ति पूर्वक विषय सुख का अनुभव करे। इसके विपरीत स्वस्त्री और परस्त्री आदि का भेद न करके स्वेच्छा चारिता से आसक्ति के साथ विषयभोग करना, यह सर्वथा ही निन्द्य समझा जाता है-उसकी प्रशंसा कभी भी किसी के द्वारा नहीं की जाती है। बस यही भाव यहाँ अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग के विषय में समझना चाहिये।

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।। 182

जिस प्रकार बीज से जड और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोह रूप बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिये जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है उसे ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा उस मोह रूप बीज को जला देना चाहिए । जिस प्रकार वृक्ष की जड और अंकुर का कारण बीज है उसी प्रकार राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण मोह (अविवेक) है। अतएव जो वृक्ष के अंकुर और जड को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है वह जिस प्रकार उक्त वृक्ष के बीज को ही जला देता है उसी प्रकार जो आत्महितैषी उन राग और द्वेष को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है उसे उनके कारण भूत उस मोह को ही सम्यग्ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा जलाकर नष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार से वे राग-द्वेष फिर न उत्पन्न हो सकेंगे।

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीर: सगति: सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोहव्रण: शुद्ध्यति रोहति।।183

मोह एक प्रकार का घाव है, क्योंकि वह घाव के समान ही पीडा कारक है। जिस प्रकार पुराना (बहुत समय का), शनि आदि ग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ, गहरा नस से सहित और पीडा देने वाला घाव औषधयुक्त घी (मलहम) आदि से शुद्ध होकर-पीव

आदि से रहित होकर-भर जाता है। उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादि काल से जीव के साथ रहने वाला, परिग्रह के ग्रहण रूप दोष से उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्) नरकादि दुर्गति का कारण और आकुलता रूप रोग से सहित ऐसा वह घाव के समान कष्ट दायक मोह भी उक्त परिग्रह के परित्याग रूप मलहम से शुद्ध होकर (नष्ट होकर) उर्ध्वगमन (मुक्ति प्राप्ति) में सहायक होता है।

हाने:शोकस्ततो दु:खं लाभाद्रागस्तत: सुखम्।
तेन हानावशोक: सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधी:।।186

इष्ट वस्तु की हानि से शोक और फिर उससे दु:ख होता है तथा उसके लाभ से राग और फिर उससे सुख होता है। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य को इष्ट की हानि में शोक से रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए। दु:ख का कारण शोक और उस शोक का भी कारण इष्ट सामग्री का अभाव है। इसी प्रकार सुख का कारण राग और उस राग का भी कारण उक्त इष्ट सामग्री की प्राप्ति है। परन्तु यथार्थ में विचार करे तो कोई बाह्य पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट भी-यह भी अपनी रुची के अनुसार प्राणी की कल्पना मात्र है। कहा भी है-

अनादौ सति संसारे कास्य केन न बन्धुता।
सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना।। क्ष.चू. 1-61

अर्थात् संसार अनादि है। उसमें जो किसी समय बन्धु रहा है वही अन्य समय में शत्रु भी रह सकता है। इससे यही निश्चित होता है कि इस आनादि संसार में न तो वास्तव में कोई मित्र है और न कोई शत्रु भी। यह सब प्राणी की कल्पना मात्र है। इसीलिए विवेकी जन ममत्व बुद्धि से रहित होकर इष्ट की हानि में कभी शोक नहीं करते। इससे वे सदा ही सुखी रहते हैं।

विषयविरति: संगत्याग: कषायविनिग्रह:
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यम:।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिन: संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।।224

इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग-द्वेष की शांति, यम-नियम, इन्द्रिय दमन, सात तत्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृति पर नियन्त्रण, जिन भगवान् में भक्ति, और प्राणियों पर दयाभाव; से सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके कि संसार रूप समुद्र का किनारा निकट में आ चुका है।

यमनियमनितान्त: शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिरणमितसमाधि: सर्वसत्त्वानुकम्पी।

विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मासार: ।।225

जो यम-यावज्जीवन धारण किये गये व्रत तथा नियम में -परिमित काल के लिये धारण किये गये व्रत में-उद्यत है, जिसकी अन्तरात्मा (अन्त: करण) बाह्य इन्द्रिय विषयों से निवृत हो चुकी है, जो ध्यान में निश्चल रहता है, सब प्राणियों के विषय में दयालु है, आगमोक्त विधि से हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजन को ग्रहण करने वाला है, निद्रा से रहित है, तथा जो आध्यात्म के रहस्य को जान चुका है; ऐसा जीव समस्त क्लेशों के समूह को जड़मूल से नष्ट कर देता है।

समाधिगतसमस्ता: सर्वसावद्यदूरा:
स्वहितनिहितचित्ता: शान्तसर्वप्रचारा: ।
स्वपरसफलजल्पा: सर्व संकल्पमुक्ता:
कथ्यमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ता: ।।226

जो समस्त हेय उपादेय तत्व के जानकार हैं, सब प्रकार की पाप क्रियाओं से रहित हैं, आत्महित में मन को लगाकर समस्त इन्द्रिय व्यापार को शान्त करने वाले हैं स्व और पर के लिए हितकर वचन का व्यवहार करते हैं तथा सब संकल्पों-विकल्पों से रहित हो चुके हैं; ऐसे वे मुनि यहाँ कैसे मुक्ति के पात्र न होंगे? अवश्य होंगे।

भावयामी भवावर्ते भावना: प्रागभाविता: ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावना: ।।238

मैंने संसार रूप भँवर में पड़कर पहिले कभी जिन सम्यग्दर्शन आदि भावनाओं का चिन्तन नहीं किया है उनका अब चिन्तन करता हूँ और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओं का बार-बार चिन्तन कर चुका हूँ उनका अब में चिन्तन नहीं करता हूँ । इस प्रकार मैं अब पूर्व भावित भावनाओं को छोड़कर उन अपूर्व भावनाओं को भाता हूँ, क्योंकि, इस प्रकार की भावनायें संसार विनाश का कारण होती है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदु:खे च षट् त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेष त्रयमथाहितम् ।।239

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दु:ख, इस प्रकार यह छह हुए। इन छहों के तीन युगलों में से आदि के तीन-शुभ, पुण्य और सुख-आत्मा के लिए हितकारक होने से आचरण के योग्य है तथा शेष तीन अशुभ, पाप और दु:ख अहित कारक होने से छोड़ने के योग्य है। अभिप्राय यह है कि जिन पूजनादि रूप शुभ क्रियाओं के द्वारा पुण्य कर्म का बन्ध होता है और उस पुण्य कर्म के उदय में प्राप्त होने पर उससे सुख की प्राप्ति होती है। इस

के विपरीत हिंसा एंव असत्यसंभाषणादिरूप अशुभ क्रियाओं के द्वारा पाप का बन्ध होता है और उस पाप कर्म के उदय में प्राप्त होने पर उससे दु:ख की प्राप्ति होती है। इसलिए उक्त छह में से शुभ, पुण्य और सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ, पाप और दुख ये तीन हेय हैं।

तत्राप्याद्यंपरित्याज्यं शेषौ न स्त: स्वत: स्वयम् ।
शुभं च शुद्धे व्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ।। 240

पूर्व श्लोक में जिन तीन को-शुभ, पुण्य और सुख को- हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभ को छोडकर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष)को प्राप्त हो जाता है।

ऊपर जो इस श्लोक का अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के अभिप्रायानुसार लिखा गया है। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-श्लोक 239 में जो अशुभ, पाप और दुख ये तीन अहितकारक बतलायें गये हैं उनमें भी प्रथम अशुभ का ही त्याग करना चाहिए। कारण यह है कि ऐसा होने पर शेष दोनों पाप और दुख-स्वयमेव नहीं रह सकेगें, क्योंकि इनका मूल कारण अशुभ ही है। इस प्रकार जब मूल कारण भूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्य भूत पाप स्वयमेव नष्ट हो जावेगा, और जब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्य भूत दु:ख की भी कैसे सम्भावना की जा सकती है- नहीं की जा सकती है। इस प्रकार उक्त अहित कारक तीन के नष्ट हो जाने पर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते हैं वे भी वास्तव में हितकारक नहीं है उनको जो हितकारक व अनुष्ठेय ही बतलाया गया है यथार्थ में तो वे भी परतन्त्रता के ही कारण हैं। भेद इतना ही है कि जहाँ अशुभादिक जीव को नारक एवं तिर्यंच पयार्य प्राप्त कराकर केवल दुख का ही अनुभव कराते है वहाँ वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवों में उत्पन्न कराकर दुख मिश्रित सुख का अनुभव कराते हैं। इसीलिये यहाँ यह बतलाया है कि उन अशुभादिक तीन को छोड देने के पश्चात् शुद्धोपयोग में स्थित होकर उस शुभ को भी छोड देना चाहिए। इस प्रकार अन्त में उस शुभ के अविनाभावी पुण्य व संसारिक सुख के भी नष्ट हो जाने पर जीव उस निर्बोध मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। जो कि अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला है।

मिथ्यात्वोपचितात्स एवं समल: कालादिलब्धौं क्वचित् ।
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगै: क्रमान्मुच्यते ।। 241

आत्मा है और वह अनादि परम्परा से प्राप्त हुए बन्धनों में स्थित है। वे बन्धन मन, वचन, एवं शरीर की शुभाशुभ क्रियाओं रूप आस्रवों से प्राप्त हुए है; वे आस्रव क्रोधादि कषायों से किये जाते हैं; वे क्रोधादि प्रमादों से उत्पन्न होते हैं और वे प्रमाद मिथ्यात्व से पुष्ट

हुई अविरति के निमित्त से होते हैं। वही कर्म-मल से सहित आत्मा किसी विशिष्ट पर्याय में कालादिलब्धि के प्राप्त होने पर क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता अर्थात् प्रमादों का अभाव, कषायों का विनाश और योग निरोध के द्वारा उपर्युक्त बन्धनों से मुक्ति पा लेता है।

चार्वाक आत्मा का अस्त्वि स्वीकार नहीं करते हैं। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार कोयला, अग्नि, जल एवं वायु आदि के संयोग से जो प्रबल वाष्प उत्पन्न होती है वह भारी रेल गाडी आदि को भी चलाने में समर्थ होती है उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतों के संयोग से वह शक्ति उत्पन्न होती है जो शरीर की गमनागमनादि क्रियाओं एवं पदार्थों के जानने-देखने आदि में सहायक होती है। उसे ही चेतना शब्द से कहा जाता है। और वह जब तक उन भूतों का संयोग रहता है तभी तक (जन्म से मरण पर्यन्त) रहती है, न कि उससे पूर्व और पश्चात् भी। उनके इस मत के निराकरणार्थ यहाँ श्लोक में सबसे पहिले 'अस्त्यात्मा' कहकर यह प्रमाणित किया है कि आत्मा नाम से प्रसिद्ध कोई वस्तु अवश्य है। यदि आत्मा न होता तो बहुतों को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है वह नहीं होना चहिए। इसके अतिरिक्त भूत-पिशाच आदि को भी अपने और दूसरों के पूर्वभवों को बतलाते हुए देखा जाता है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु अवश्य है जो विवक्षित जन्म के पूर्व में भी और मरण के पश्चात् भी रहती है। इसी प्रकार सांख्य आत्मा को स्वीकार करके भी उसे सर्वदा शुद्ध-कर्म से अलिप्त मानते हैं। उसके निराकरणार्थ यहाँ उस आत्मा को अनादि बन्धनगत निर्दिष्ट किया है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध स्वाभावकी अपेक्षा यद्यपि प्रत्येक आत्मा कर्म से अलिप्त होकर अपने ही शुद्ध चैतन्यरूप द्रव्य में अवस्थित है। स्वभाव से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के उपर कोई प्रभाव नहीं पडता है। जैसे-सुवर्ण में यदि तांबे का मिश्रण भी हो तो भी सुवर्ण परमाणु सुवर्ण स्वरूप से और तांबे के परमाणु तत्स्वरूप से ही अपनी पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। यही कारण है जो सुनार के द्वारा उन दोनों को पृथक् कर दिया जाता है। किन्तु यह द्रव्य के उस शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा ही सम्भव है, न कि वर्तमान अशुद्ध पर्याय की अपेक्षा भी। पर्याय की अपेक्षा तो संसारी आत्मा अनादि सन्तति स्वरूप से आने वाले नवीन नवीन कर्मों के बन्ध से सम्बद्ध ही रहता है। और जब यह पर्याय की अपेक्षा कर्मबन्धन में बद्ध होकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव को छोडता हुआ राग-द्वेषादि रूप विभाव में परिणत होता है तब उसको अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर रखने के लिए प्रयत्न करना- तपश्चण आदि करना उचित है। यदि वह द्रव्य के समान पर्यायसे भी शुद्ध हो तो फिर तपश्चरणादि व्यर्थ ठहरते हैं। अतएव यही समझना चाहिए कि वह आत्मा जिस प्रकार स्वभाव से शुद्ध है उसी प्रकार पर्याय की अपेक्षा वह अशुद्ध भी है। अब जब वह पर्याय से अशुद्ध या कर्मबन्ध से सहित है तब यह प्रश्न उढता है कि कब से वह कर्म बन्धन में बद्ध है तथा किस प्रकार वह उससे छूट सकता है। इसके उत्तर में यहाँ यह

बतलाया है कि वह अनादि से उस कर्मबन्धन में बद्ध है। उसके इस कर्म बन्धन के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। इनमें पूर्व-पूर्व कारण के रहने पर उत्तर-उत्तर कारण अवश्य रहते हैं। जैसे यदि मिथ्यात्व है तो आगे के अविरति आदि चार कारण अवश्य रहेंगे, इसी प्रकार यदि अविरति है तो उसके आगे के प्रमाद आदि तीन कारण अवश्य रहेंगे। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। यही बात यहाँ प्रकारान्तर से प्रकृत श्लोक में निर्दिष्ट की गई है। यह बन्ध की परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि से है। जिस प्रकार बीज से अंकुर व उससे पुन: बीज उत्पन्न होता है; इस प्रकार से जैसे इनकी परम्परा अनादि है उसी प्रकार उपर्युक्त मिथ्यात्वादि से कर्म बन्ध और फिर उससे पुन: मिथ्यात्वादि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह बन्ध परम्परा भी अनादि है। परन्तु जिस प्रकार बीज या अंकुर में से किसी एक के नष्ट हो जाने पर वह अनादि भी बीजांकुर की परम्परा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार उन मिथ्यात्वादि के विपरीत क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता, (अप्रमाद), अकलुषता (अकषाय) और अयोग अवस्था के प्राप्त हो जाने पर वह अनादि बन्ध परम्परा भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार से वह आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है।

ममेद महमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता:।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तप: फले ॥242

'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इस प्रकार का अनुराग जब तक-ईति के समान खेत (शरीर)के विषय में उत्पन्न होकर खेत के स्वामी के समान-आचरण करता है तब तक तप के फलभूत मोक्ष के विषय में भला क्या आशा की जाती है ? नहीं की जा सकती है।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ (टिड्डी) चूहा, तोता, स्वचक्र और परचक्र **(अतिवृष्टिरनावृष्टि: शलभा मूषका शुका:। स्वचक्रं परचक्रं च सप्रैता ईतया: स्मृता: ॥)**

ये सात इति मानी जाती हैं। जिस प्रकार इन इतियों में से कोई भी ईति यदि खेत के मध्य में उत्पन्न होती है तो वह उस खेत को (फसल को) नष्ट कर देती है। इससे वह कृषक कृषी के फल (अनाज) को नहीं प्राप्त कर पाता है। इसी प्रकार तपस्वी को यदि शरीर के विषय में अनुराग है और इसलिए यदि वह यह समझता है कि यह शरीर मेरा है और में इस का स्वामी हूँ तो उसका वह अनुराग इति के समान उपद्रव कारी होकर तप के फल को-मोक्ष को-नष्ट कर देता है।

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रानतौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥243

मुझे को (आत्मा को) अन्य शरीर आदि रूप तथा शरीरादि को मैं (आत्मा)

समझकर यह प्राणी उक्त भ्रम के कारण अब तक संसार रूप समुद्र में घूमा है। वास्तव में मैं अन्य नहीं हूँ। शरीरादि नहीं हूँ, मैं ही हूँ और अन्य (शरीरादि) अन्य ही है, अन्य मैं नहीं हूँ; इस प्रकार जब अभ्रान्तज्ञान (विवेक) उत्पन्न होता है तब ही प्राणी उक्त संसार रूप समुद्र के परिभ्रमण से रहित होता है।

अभिप्राय यह है कि जीव जब तक शरीर को ही आत्मा मानता है शरीर से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को उस से पृथक् नहीं मानता है तब तक वह इस भ्रम के कारण पर पदार्थों में राग-द्वेष कर के कर्मोदय से संसार में परिभ्रमण करता हुआ दु:ख सहता है। और जब उसका उपर्युक्त भ्रम हट जाता है-वह आत्मा को आत्मा एवं शरीर आदि पर पदार्थों को पर मानने लगता है तब वह राग-द्वेष से रहित होकर उक्त संसार परिभ्रमण से छूट जाता है।

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना
बाह्यार्थ करते: पुरा परिणत प्रज्ञात्मन: सांप्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनामभू द्वैराग्यकाष्ठास्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम्।। 244

संसार के भीतर बाह्य पदार्थों में अतिशय अनुराग रखने वाले जीव के पहिले जिस-जिस वस्तु के द्वारा दृढ बन्ध उत्पन्न हुआ था उसी के इस समय यर्थात् ज्ञान से परिणत होकर वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त होने पर वह वस्तु उक्त बन्ध के विनाश का कारण हो रही है। विद्वानों की वह अलौकिक कुशलता अनुपम ही है जो दुर्बोध है-बडे कष्ट से जानी जाती है। बन्ध के कारण राग द्वेष हैं। जीव के जब तक आत्म-पर विवेक प्रकट नहीं होता है तब तक उसके राग द्वेष की विषय भूत हुई पर वस्तुओं के निमित्त से बन्ध ही हुआ करता है परन्तु जब उसके वह आत्म- पर विवेक आविर्भूत हो जाता है। तब वह पूर्व में जिन वस्तुओं से राग द्वेष करके दृढ कर्म बन्ध करता था वे ही अब उसकी चूंकि उपेक्षा की विषय भूत हो जाती हैं अतएव उन्हीं के निमित्त से अब उक्त बन्ध का विनाश-संवर और निर्जरा होने लगती है। यह ज्ञान और वैराग्य का ही महात्म्य है।

जैसे देशान्तर में भ्रमण करने वाले पुरुष को सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीव के भी जहाँ-जहाँ यह जन्म की लेता है वहीं-वहीं बन्धु-बान्धव होते हैं। इस तरह इसने सब जीवों के साथ सब सम्बंध प्राप्त किये हैं। जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्म में पत्नी होती है और पत्नी होकर पुन: माता बन जाती है। इस प्रकार संसार में सब सम्बंध परिवर्तनशील हैं। दूसरे भवों में सम्बन्ध बदलने की बात ही क्या है। किन्तु धनदेव की माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनों उसी भव में धनदेव की पत्नी हुई। कहा भी है-

यदि एक शरीर धारण करने पर जीव अनेक अपवादों और दु:खों को पाता है और उससे मनोवेदना और उग्र पाप को बांधता हैं तब विषय सेवन के द्वारा पाप कर्म का उपार्जन करने वाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करने पर कैसे दु:ख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दु:ख पाता है। मद से मत्त हाथी के द्वारा वेग पूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथ से छोडी गयी तीक्ष्ण तलवार क्या दु:ख नहीं देते उससे भी अधिक दु:ख विषय देते हैं। इसलिए तत्वज्ञानी जन विषयों को त्याग देते हैं। इस प्रकार यह लोक धर्म दु:खदायक है नीच गोत्र का बन्ध करने से राजा मरकर दास होता है और उच्च गौत्र का बन्ध करने से दास राजा होता है। इस प्रकार संसार में सब स्थान परिवर्तनशील है। विदेह देश का राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोग में अधिक होते हुए भी अपने कर्मों से प्रेरित होकर विष्टाघर में कीट हुआ। कहा भी है- जो देव और मनुष्यों में प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियों से दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमा की तरह मनोहर था, वे भी अन्य गति में कुल, रूप, धन और प्रताप से भ्रष्ट होकर दीन होते हैं। भगवती आराधना (गा.1792-1796)

शुभरूप, शुभ, गन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धि का धारक देव भी मनुष्य होकर गन्दे गर्भस्थान में वास करता है। जैसे आकाश में सहसा ही शीघ्रता से इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ प्रकट होते हैं। उसी प्रकार देवों का जन्म होता है। उनका शरीर अपवित्र वस्तुओं से रहित होता है, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाले रोगों से रहित होता है। खेद और नींद से रहित होता है। उत्कृष्ट यौवन से युक्त होता है, सब रूप से परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्ति से युक्त होता है। उत्तमरूप, रस, गन्ध से युक्त होता है। वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टा से लीला सहित होता है। वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् गीत वाद्यों की पंक्ति तथा भेरी के शब्दो के साथ देव-देवांगना बडे हर्ष के साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं। हास सहित स्निग्ध दृष्टि से युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवांगनाएँ खिले हुए कमल के समान तथा उत्तम लक्षणों से युक्त दक्षिण हाथों से उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं।

पर्वतों के अग्रभाग पर बैठे हुए सिंह के समान सिंहासन के मस्तक पर बैठे हुए उन देवों का देव प्रसन्नता पूर्वक सुवर्ण कलशों से अभिषेक करते हैं। हे देवेन्द्र रूपी सूर्य ! अपने गुण रूपी किरणों से देवों के मुख रूपी कमलों को विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस प्रकार वे देव अपने वचनों से उनकी स्तुति करते हैं। उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानों ग्रीष्मकाल के सूर्य को ही पकड कर सिरों पर रख लिया हो ऐसे प्रतीत होते हैं। उन मुकुटों से तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणों से भूषित होकर वे देव सूर्य-चन्द्र से सुशोभित आकाश से, बिजली से सम्बद्ध सुन्दर मेघों

से और रत्नों से खचित स्वर्णमयी पर्वतों से भी अधिक सुशोभित होते हैं। दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयु वाले तथा दिव्य चमकदार शरीर वाले वे देव निर्मल आकाश में स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीर वाले चन्द्रमा की तरह दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हैं। वे लाघव से सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरव से पर्वत के समान होते हैं। सूक्ष्म होने से पृथ्वी में प्रवेश करते हैं और महान् होने से बडों-बडों को रोकते हैं। अर्थात् अणिमा, महिमा, लधिमा और गरिमा ऋद्धि के धारी होते हैं। वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी में तथा प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं के समान हो जाते हैं ऐसी उनमें शक्ति होती है। वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागर में, सहसा प्रवेश करके श्रम के बिना बेरोक-टोक वायु की तरह इच्छित स्थान को चले जाते हैं। वे महान् बल से पृथ्वी को ऊपर उठा सकते हैं। अपने हाथों से मन्दराचल को गिरा सकते हैं। वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहें तो सुमेरु की चोटी के अग्रभाग को छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य ऋद्धि से सम्पन्न होते हैं।

वे बिना प्रयत्न के देवों और मनुष्यों का स्वामित्व कर सकते हैं। मृगों को भी अपने वश में कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं। अर्थात् ईशत्व और वशित्व ऋद्धि से सम्पन्न होते हैं। अपनी सुगन्ध से और मिष्ठ वचनों से दिशाओं को पूरित करके सन्तान आदि के सुन्दर फूलों से रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नहीं है। सुख पूर्वक माला और गंध से विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रति में निपुण अपनी देवांगनाओं के साथ रमण करते हैं। इस प्रकार सुख पूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य सन्ताप को सहते हैं। क्योंकि स्वर्गों में महर्द्धिक देव-देवांगना समान आयु वाले नहीं होते । आगे-पीछे मरते हैं। मध्य लोक से यहाँ के प्राणियों की कषाय तीव्रतर होती है। अत: कर्मवश देव और देवांगनाओं की समान आयु नहीं होती। देव की आयु सागर प्रमाण होती है और देवांगना चिर काल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पल्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोक में वियोगजन्य सन्ताप होता है। भविष्य में होने वाले मृत्यु जन्य दु:ख का विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्र के समीप में बांधे गये मृग। स्वर्गलोक से च्युत होने पर गर्भ में होने वाली दुरावस्था का भी विचार करके वे महान् शोक और भय से युक्त होते हैं जैसे कोई जेलखाने से डरता है। पवित्र देवों को देवलोक में जितना सुख होता है उससे अधिक भय स्त्री के अपवित्र मूत्र मार्ग से जन्म लेने का स्मरण करके जन्म के पूर्व से ही होता है। यहाँ स्वर्ग में तो हजार वर्ष बीतने भी पर भूख नहीं सताती थी किन्तु मनुष्य पर्याय में जन्म लेते पर सर्पिणी की तरह भूख सताती है, यह भय अहमिन्द्रदेव को भी नहीं छोडता। स्वर्ग में तो पन्द्रह दिन में एक बार श्वास लेने का श्रम उठाना होता है किन्तु मनुष्य गति में तो सतत श्वास लेना होता है। हाँ,

जन्म रूपी समुद्र का वास भयकारक है। यहाँ देवगति में तो रोग, बुढापा आदि नहीं है। किन्तु मनुष्यों में तो सब ये हैं। यहाँ से च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे। ऐसा देख वे देव दु:खी होते हैं। जैसे कोई परवश होकर उपद्रव से युक्त अन्य देश में जाने पर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देव गति से मनुष्यगति में जाने का बहुत शोक करते हैं। स्वर्ग के विमानों में देवों का सुख प्राप्त करके जीवों को पुन: इसी मनुष्य लोक में जन्म लेना होता है ऐसा विचार करने भी वाले बुद्धिमानो को देवों के प्रति बहुमान कैसे हो सकता है ? वे देव अवधिज्ञान के द्वारा दूरवर्ती तत्वों को भी जानते ही हैं। इससे पहले ही भय का अनुभव करते हैं। जो भय अचानक उपस्थित होता है उसका भय पहले से नहीं होता। किन्तु जिस मनुष्य को पहले से यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है। अर्थात् मनुष्य गति में तो मृत्यु का बोध पहले से नहीं होता। किन्तु देवगति में तो मृत्यु से छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है। अत: मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है। अतः विचार करने पर इस संसार रूपी समुद्र में कुछ भी सुख नहीं है। बहुत सुख में आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दु:ख के बिना सुख नहीं भोग सकता अर्थात् संसार के सुख में दु:ख का मिश्रण रहता ही है। जैसे कुलीन मनुष्य को यदि भोजन में जरा भी सा बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रुचता। उसी प्रकार ज्ञानी को बहुत से सुख में थोडा सा भी दु:ख मिला हो तो वह सुख नहीं रुचता। जैसे पीने के पानी में मूत्र की एक बूँद भी गिरने पर वह पानी दूषित हो जाता है उसी प्रकार दुख का जरा सा भी अंश सब सुख को दूषित कर देता है। जैसे अनेक गुणों से युक्त स्त्री एक बार भी व्यभिचार दोष से दूषित हो जाये तो दयालु मनुष्य भी उसे त्याग देता है। उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दुख से मिश्रित सुख को त्याग देता है। अत: कहा है-

मनुष्यों में गर्भ का स्मरण करके तथा गर्भपात को देखकर और मनुष्यों के अपवित्र शरीर को देखकर देव दु:खी होते हैं और मरण होने पर गर्भ में प्रवेश करके दु:ख भोगते हैं। इस लोक अथवा परलोक में बन्धु भी मनुष्य के शत्रु हो जाते हैं। इस लोक में अथवा परलोक में माता भी अपने पुत्र के मांस को खाती है इससे अधिक कष्ट की बात और क्या है ? बहुत दु:ख देने वाला शत्रु भी पुन: प्रिय बन्धु हो जाता है । इस प्रकार जगत् में बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील हैं । सुदृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमला के निमित्त से अपने सेवक बक के द्वारा मारा गया और मर कर अपनी पत्नी विमला के गर्भ से उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने पर पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। श्रोत्रिय ब्राह्माण होकर यह जीव अपनी जाति का अभिमान करके गुणी जनों की निन्दा और अपमान के द्वारा नीच गोत्र का बन्ध करता है और मरकर परलोक में कुत्ता, सुकर या चडाण्ल होता

है । यह जीव लाभान्तराय का उदय होने से अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है। लाभान्तराय का क्षयोपक्षम होने से अनेक बार इच्छित धन पाता है। इस प्रकार अनेक बार धनी से दरिद्र और दरिद्र से धनी होता है। अयश कीर्ति का उदय होने से चडाण्ल, काना, अभागा, मूर्ख, कंजूस आदि निन्दा का पात्र होता है। यश:कीर्ति का उदय होने से कुलीन, रूपवान, धनी, पण्डित इत्यादि स्तुति का पात्र होता है।असातावेदनीय का उदय होने से दु:ख उठाता है और सातावेदनीय का उदय होने से देव और मनुष्य भव का सुख भोगता है। इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुरुष और नपुंसक होता है।

पुण्यहीन मनुष्य लोक में दोष नहीं करने पर भी दोष का भागी है। और पुण्यवान अनाचार करके भी लोगों के सन्मुख दुराचारी सिद्ध नहीं होता। जैसे चाँद की चाँदनी के समान होने वाले कृष्णपक्ष सें द्वेष करते हैं और शुक्लपक्ष से प्रेम करते हैं। वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगों को प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है। इस प्रकार लोकदशा का चिन्तन करने से वैराग्य उत्पन्न होता है। वे पुण्यवान यतिजन धन्य हैं जो इस ऊपर कही संसार की दशा से मुक्त हो गये हैं। बिजली की तरह चंचल, फेन की तरह दुर्बल, रोगों से ग्रस्त और मृत्यु से पीडित इस लोक को देखकर ज्ञानी इसमें कैसे अनुराग कर सकता है ?

संसार में उत्तरोत्तर दुर्लभ

संसार में भटकते हुए कर्म लिप्त जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्म में बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है । जैसे लवणसमुद्र के पूर्व भाग में जुआ और पश्चिम भाग में उसकी लकडी डाल देने पर दोनों का संयोग दुर्लभ है। मनुष्य पर्याय की दुर्लभता का कारण मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, प्रमादरूप अशुभ परिणामों की बहुतायत है उसी प्रकार अनन्त संसार में मनुष्य भव पाना दुर्लभ है। मनुष्य योनि दुर्लभ हैं। तथा मनुष्य रहित लोक अति महान् है । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है । क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रों तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल। शेष लोकाकाश भी महान् है। तथा जीवों की योनियाँ बहुत है। इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है।

लोक के मध्य में पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है। अढाई द्वीप के बाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं। नीचे नारकी रहते हैं। ऊपर देव रहते हैं तथा जीवों की योनियाँ भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामों की बहुलता है। शुभ परिणाम होने से ही मनुष्य गति में अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है। मनुष्य पर्याय भी पाई किंतु देश, कुल, जाति ठीक नहीं मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ। अत: धर्मसाधन के योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है।

जीव के मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि,

श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं हैं। मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से मनुष्य पर्याय पाने पर भी जिन भगवान् के द्वारा कहे गये धर्म में दक्ष मनुष्यों से भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है। क्योंकि धर्म के ज्ञाता मनुष्यों से रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, आदि देश अनेक हैं धर्मज्ञजनों से बसा हुआ देश मिलने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है। क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम हैं। और इसका कारण यह है कि जीवों के निरन्तर नीच गोत्र का बन्ध हुआ करता है। मिथ्यात्व के उदय से प्राय: प्राणी गुणों और गुणीजनों की निंदा करते हैं। उनके सम्बन्ध में बका करते हैं। गुणहीन भी अपने कुल का नव अभिमान रखते हैं। उससे वे नीच गोत्र का बन्ध करते हैं। गुणों में और गुणीजनों में अनुराग तथा कुल के अभिमान का तिरस्कार कम ही देखा जाता है। इसलिये जीवों को अच्छा कुल कम ही मिलता है। चारित्रमोह के उदय से जीव छह काय के जीवों को बाधा देने में निरन्तर लगे रहते हैं। वे उनके रूप की शोभा को विनष्ट करते हैं। उससे उपार्जित अशुभ नाम कर्म से जीव अधिकतर विरूप होते हैं। जीवों पर दया कम ही लोग करते हैं। अत: प्रशस्त रूपनामकर्म के द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी बडे कष्ट से प्राप्त होता है। प्राणी सर्वदा दूसरे जीवों को संताप देने का उत्साह रखते हैं। इसलिए अधिकतर रोगी होते हैं। दूसरों का कष्ट दूर करने वाली वैय्यावृत्य कम ही करते हैं। इसलिए नीरोगता भी दुर्लभ है। प्राणी प्राय: दूसरों की आयु का घात करते हैं, उन्हें मार देते हैं। इससे वे अल्प आयु वाले होते हैं। कदाचित् ही अहिंसाव्रत का पालन करने से चिरजीवी होते हैं, सदा चिरजीवी नहीं होते । सच्चे ज्ञानीजनों को दूषण लगाने से, उनसे डाह करने से, उनके ज्ञानाराधना में विध्न डालने से, उनकी असाधना करने से तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का घात करने से प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मों का बन्ध करने से बुद्धिहीन होते हैं। लाखों जन्मों में से कुछ ही जन्मों में शुभ परिणामवश मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से विवेक शील बुद्धि प्राप्त होती है। बुद्धि प्राप्त होने पर भी हित-अहित के विचार में समर्थ धर्म का सुनना दुर्लभ है क्योंकि राग-द्वेष से रहित, सच्चे ज्ञान के प्रकाशन से दुर्भेद्य मोहान्धाका का उन्मूलन करने वाले और समस्त जीवों पर दया करने वाले मुनिगण दुर्लभ हैं। तथा तीव्र मिथ्यादर्शन के कारण गुणीजनों से द्वेष करने वाले या थोडा-सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपने को बडा विद्वान मानने वाले या अपने जाने हुए तत्त्व के परवश मनुष्यों के कारण या यतिगण के आलस्य से अथवा अपना और दूसरों का उद्धार करने में दक्ष न होने से यतिजन भी नहीं आते हैं । इससे भी धर्मश्रवण की दुर्लभता है। कदाचित् पाप का उपशम होने से यतिजन के पधारने पर भी विनय पूर्वक प्रश्न करने पर और प्रशस्त वचन बोलने वाले गुरु के सन्मुख होने पर धर्म सुनने को मिलता है । इसलिये धर्मश्रमण की दुर्लभता हैं। अथवा

मुनिगण के वास स्थान पर जाकर भी सोता है । स्वयं कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खों के वचन सुनता है, विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता है। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुनने पर भी श्रुतज्ञानावरण का उदय होने से उसको समझना अतिदुर्लभ है। तथा समझने पर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं सुना था। तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञान का क्षयोपशम, मन का लगाना, वक्ता का वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होने से धर्मज्ञान दुर्लभ है। धर्म का ज्ञान होने पर भी 'जिन भगवान् के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देने वाला, जीव के सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र तप दान पूजा भावरूप धर्म है'ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योंकि जीवों के दर्शनमोह का उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नहीं होता कदाचित् ही होती है। मनुष्य भव आदि के प्राप्त होने पर भी'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षा की और अभिमुख बुद्धि का होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवों के संयम को घातने वाला कर्म प्रबल होता है। तथा यह लोक मिथ्यामतों से भरा है। अत: बहुत लोग जिस धर्म का आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मन में आता है, करते हैं। राग-द्वेष के बलवान होने से ज्ञान और श्रद्धान से युक्त भी मनुष्य सन्मार्ग पर नहीं चलता। इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षा के अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होने पर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरू के शिखर पर चढकर भी उससे गिरता है। जैसे अन्धकार में समुद्र के मध्य में गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि संसार में भ्रमण करने वाले जीव को प्राप्त होना दुर्लभ है। जो जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्म में प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं। तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धि को प्राप्त करके भावपूर्वक धर्म को अपनाते हैं वे तो महाधन्य है। (भ.आ.1860-1867)

अनन्त काल निगोद में वास

जीवो अणंत-कालं वसइ णिगोएसु आइ-परिहीणो ।
ततो णिस्सरिदूणं पुढवी-कायादिओ होदि ।।284 स्वामी का.अ. पृ.सं.204

यह जीव अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक तो निगोद में रहता है। वहाँ से निकलकर पृथ्वीकाय आदि में जन्म लेता है। अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में जो अनन्त-जीवों को स्थान देता है उसे निगोद कहते हैं। निगोदिया जीवों को साधारण जीव भी कहते हैं, क्योंकि एक निगोदियाशरीर में वसने वाले अनन्त जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास वगैरह साधारण होता है। अर्थात् उन सब जीवों का एक शरीर होता है, एक साथ सब आहार ग्रहण करते हैं, एक साथ सब श्वास लेते हैं। और एक साथ ही मरते और जन्म लेते हैं। निगोद के दो भेद हैं- नित्यनिगोद और चतुर्गतिनिगोद। जो जीव अनादिकाल से निगोद

में पडे हुए है वे नित्यनिगोदिया कहे जाते हैं। और जो त्रस पर्याय प्राप्त करके निगोद में जाते हैं, उन्हें चतुर्गति निगोदिया कहते हैं नित्य निगोद में तो जीव अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहता है। गोम्मटसार में कहा है-' ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रस पर्याय प्राप्ति नहीं की । उनके भावकर्म बहुत निबिड होते हैं, इसलिए वे निगोद को नहीं छोडते' । नित्य निगोद से निकलने के विषय में दो मत पाये जाते हैं। एक मत के अनुसार तो नित्य निगोदिया जीव सदा निगोद में ही रहता है और वहाँ से नहीं निकलता। दूसरे मत के अनुसार जब तक उसके भाव कर्म निबिड हैं तब तक नहीं निकलता । भावकर्म के कुछ शिथिल होते ही निकल आता है। स्वामीकार्त्तिकेय का मत भी यही जान पडता है। अत: वे कहते हैं कि प्रथम तो जीव का अनन्तकाल निगोद में बीतता है। वहाँ से निकलकर वह पृथिवीकाय वगैरह में जन्म लेता है। अत: अज्ञानी का अज्ञानी ही बना रहता है।

त्रस पर्याय की दुर्लभता

तत्थ वि असंख-कालं बायर-सुहुमेसु कुणइ परियत्तं ।
चिंतामणि व्व दुलहं तसत्तणं लहदि कट्ठेण।।285

वहाँ भी असंख्य काल तक बादर और सूक्ष्म काय में परिभ्रमण करता है। फिर चिन्तामणी रत्न की तरह दुर्लभ त्रस पर्याय को बडी कठिनता से प्राप्त करता है। निगोद से पृथिवीकाय वगैरह में जन्म लेने पर भी त्रस पर्याय आसानी से नहीं मिलती।असंख्यात काल तक बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में ही भटकता है। फिर कहीं बडी कठिनाई से त्रस पर्याय मिलती है।

त्रस में पंचेन्द्रिय दुर्लभ

वियलिंदिएसु जायदि तत्थ वि अच्छेदि पुव्व-कोडिओ।
तत्तो णिस्सरिदूणं कहमवि पंचिंदिओ होदि ।।286

एकेन्द्रिय पर्याय से निकलकर विकलेन्द्रियों में जन्म लेता है। वहाँ भी अनेक पूर्वकोटि काल तक रहता है। वहाँ से निकलकर जिस किसी तरह पंचेन्द्रिय होता है। एकेन्द्रिय से दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय होकर पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है। यदि विकलेन्द्रिय से पुन: एकेन्द्रिय पर्याय में चला गया तो फिर बहुत काल तक वहाँ से निकलना कठिन है। अत: त्रस होकर भी पञ्चेन्द्रिय होना दुर्लभ है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय दुर्लभ

सो वि मणेण विहीणो ण य अप्पाणं परं पि जाणेदि।
अह मण-सहिदो होदि हु तह वि तिरिक्खो हवे रूद्दो।।287

विकलत्रय से निकलकर पञ्चेन्द्रिय भी होता है तो मन रहित असैनी होता है। अत: आपको और परको नहीं जानता। और जो कदाचित् मनसहित सैनी भी होता है तो रौद्र परिणामी

तिर्यञ्च होता है। यदि पञ्चेन्द्रिय पर्याय भी प्राप्त कर लेता है तो असंज्ञी होने के कारण बातचीत, उपदेश वगैहर नहीं समझ सकता। अत: न तो स्वयं अपने को जानता है और न अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, आगम, धर्म आदि को ही जानता है। कदाचित् जिस किसी तरह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी होता है तो बिलाव, चूहा, भेडिया, गृद्ध, सर्प, नेवला, व्याघ्र, सिंह, मगर, आदि क्रूर तिर्यञ्च हो जाता है। अत: सदा पाप रूप परिणाम रहते हैं।

संज्ञी से नारकी

सो तिव्व-असुह-लेसो णारये णिवडेइ दुक्खदे भीमे।
तत्थ वि दुक्खं भुक्खं भुंजदि सरीरं माणसं पउरं॥288

सो तीव्र अशुभ लेश्या से मरकर वह क्रूर तिर्यञ्च दु:खदायी भयानक नरक में चला जाता है। वहाँ प्रचुर शारीरिक तथा मानसिक दु:ख भोगता है। कषाय के उदय से रंगी हुई मन, वचन, और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। तथा क्रोध, मान, और लोभ को कषाय करते हैं। प्रत्येक कषाय चार प्रकार की होती है। उसमें से पत्थर की लकीर के समान क्रोध, स्तम्भ की तरह कभी न नमनेवाला मान, वांस की जड की तरह माया और लाख के रंग की तरह कभी न मिटने वाला लोभ अति अशुभ होता है। अत: ऐसी कषाय के उदय में कृष्ण, नील और कपोत नाम की तीन अशुभ लेश्याएं ही होती हैं। इन अशुभ लेश्याओं से मरकर वह क्रूर तिर्यञ्च रत्नप्रभा आदि नरकों में जन्म लेता है। यहाँ भूख, प्यास, शीत, उष्ण के कष्ट के साथ ही साथ, छेदना, भेदना, चीरना, फाडने आदि का कष्ट भोगता है; क्योंकि नारकी जीव परस्पर में एक दूसरे को अनेक प्रकार से कष्ट देते हैं। कोल्हू में पेलना, भाड में भूजना, पकाना, शूलों पर फेंक देना तलवार के धार के समान नुकीले पत्ते वाले वृक्षों के नीचे डाल देना, सूई की नोक के समान नुकीली घास वाली जमीन पर डालकर खींचना, वैतरणी नदी में डालना तथा अपनी विक्रिया से निर्मित अस्त्रशस्त्रों से परस्पर में मारना आदि के द्वारा बडा कष्ट पाते हैं। इसके सिवा तीसरे नरक तक असुर कुमार जाति के देव भी कष्ट पहुँचाते हैं। इस तरह नरक में जाकर वह जीव बडा कष्ट भोगता है।

नरक से पुन: तिर्यंच

तत्तो णिस्सरिदूणं पुणरवि तिरिएसु जायदे पावो।
तत्थ वि दुक्खमणंतं विसहदि जीवो अणेय विहं॥289

नरक से निकलकर फिर भी तिर्यञ्च गति में जन्म लेता है और पाप पूर्वक वहाँ भी अनेक प्रकार का अत्यन्त दु:ख सहता है। रत्नप्रभा आदि भूमि से निकलकर यह जीव फिर भी तिर्यञ्च गति में जन्म लेता है। अर्थात् तिर्यञ्च गति से ही नरक में गया था और नरक से निकलकर भी तिर्यञ्च ही होता है। तिर्यञ्च गति में भी भूख, प्यास, शीत, उष्ण, भारवहन, छेदन, भेदन, ताडन, मारन आदि का महा दु:ख सहना पडता है।

मनुष्य की दुर्लभता

रयणं चउप्पहे पिव मणुयत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि॥290

जैसे चौराहे पर गिरे हुए रत्न का हाथ आना दुर्लभ है वैसे ही मनुष्यभव भी अत्यन्त दुर्लभ है। तिर्यञ्च पर्याय से निकलकर और अत्यन्त दुर्लभमनुष्य भव को पाकर भी यह मिथ्यादृष्टि म्लेच्छ होकर पाप का उपार्जन करता है। मनुष्य भव पाकर भी यदि मिथ्यादृष्टि हुआ और म्लेच्छ खण्डों में जन्म लिया तो पाप ही करता है।

आर्यत्वादि की दुर्लभता

अह लहदि अज्जवत्तं तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं।
उत्तम-कुले वि पत्ते धण-हीणो जायदे जीवो॥291

यदि कदाचित् आर्यखण्ड में जन्म लेता है तो उत्तम कुल पाना दुर्लभ है। कदाचित् उत्तम कुल भी मिला तो धन हीन दरिद्र होता है। जो गुणों से अथवा गुणवानों से सेवित होते हैं अर्थात् जो स्वयं गुणी होते हैं तथा गुणवानों की संगति में रहते हैं उन्हें आर्य कहते हैं। आर्य तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष जिस भूमि में जन्म लेते हैं वह भूमि आर्यखण्ड कही जाती है। यदि मनुष्य भव पाकर वह जीव आर्य खण्ड का मनुष्य हुआ महाव्रत की प्राप्ति के योग्य अथवा मोक्ष साधन के योग्य उत्तम क्षत्रिय आदि का कुल नहीं पाया तो भी मनुष्य भव पाना व्यर्थ हुआ। तथा, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का प्रशस्त कुल पाकर भी यदि धन, धान्य से रहित दरिद्री हुआ तो भी जीवन कष्ट में ही बीतता है।

अह धण-सहिदो होदि हु इंदिय-परिपुण्णदा तदो दुलहा।
अह इंदिय-संपुण्णो तह वि सरोओ हवे देहो॥292

धन सम्पन्न भी हुआ तो इन्द्रियों की पूर्णता का पाना दुर्लभ है। कदाचित् इन्द्रियाँ भी पूर्ण हुई और शरीर रोगी हुआ तो भी सब व्यर्थ है। कदाचित् धनाढ्य भी हुआ तो हाथ पैर से ठीक होना, अर्थात् अपंग, अन्धा वगैरह न होना कठिन है। कदाचित् शरीर अविकल हुआ और आँख, नाक, कान वगैहर भी ठीक हुए तो नीरोग शरीर मिलना दुर्लभ है क्योंकि मनुष्य शरीर ज्वर, भगंदर, कुष्ट, जलोदर, प्लीहा, सन्निपात आदि व्याधियों का घर है।

शीलादि की दुर्लभता

अह णीरोओ होदि हु तह वि ण पावेदि जीवियं सुइरं।
अह चिर-कालं जीवदि तो सीलं णेव पावेदि॥293

कदाचित् नीरोग भी हुआ तो लम्बी आयु नहीं पाता, अर्थात् जल्दी ही मर जाता है। अथवा कदाचित् लम्बी आयु भी पाई तो उत्तम स्वभाव रूप शील को नहीं पाता है।

साधु संगति, सम्यक्त्व की दुर्लभता

अह होदि सील-जुत्तो तो वि ण पावेइ साहु-संसग्गं।
अहं तं पि क वि पावदि सम्मत्तं तह वि अइदुलहं।।294

कदाचित् उत्तम स्वरूप शील को पाता भी है तो रत्नत्रय के साधक साधुजनों की संगति का लाभ नहीं मिलता। यदि किसी प्रकार साधु संगति का लाभ भी हो जाता है तो तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यकक्त्व का पाना अति दुर्लभ है।

चारित्र, सामर्थता की दुर्लभता

सम्मत्ते वि य लद्धे चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो।
अह कह वि तं पि गिण्हदि तो पालेदुं ण सक्केदि।।295

दैववश कदाचित् सम्यक्तव को प्राप्त भी करले तो चारित्र को ग्रहण नहीं करता और कदाचित् दैवयोग से चारित्र ग्रहण भी करले तो उसे पालने में असमर्थ होता है।

तीव्र कषाय से रत्नत्रय नष्ट से दुर्गति

रयणत्तये वि लद्धे तिव्व-कसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठ-रयणत्तओ होउं।।296

कदाचित् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को प्राप्त करके भी यदि यह जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तीव्र कषाय को करता है तो रत्नत्रय को नष्ट करके दुर्गतियों में गमन करता है अर्थात् मरकर या तो नरक में चला जाता है, या तिर्यञ्च योनि में जन्म लेता है, या दीन, दुखी, दरिद्री मनुष्य होता है, अथवा देव भी होता है तो भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष्क जाति का देव होता है।

मनुष्यत्व की दुर्लभता

रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं।
एवं सुणिच्छइत्ता मिच्छ-कसाए य वज्जेह ।।297

अत: जैसे समुद्र में गिरा हुआ रत्न पाना दुर्लभ है, वैसे ही संसार समुद्र में भटकते हुए मनुष्य जन्म का पाना दुर्लभ है, ऐसा निश्चय करके तुम मिथ्यात्व और कषायों को छोड दो।

देव में चरित्र की दुर्लभता

अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं।
तो तव-चरणं ण लहदि देस-जमं सील-लेसं पि।।298

यदि कदाचित् यह जीव मर कर देव भी होता है और वहाँ किसी तरह सम्यक्तव को भी प्राप्त कर लेता है तो तप और चारित्र को नहीं पाल सकता। और तो क्या, देशसंयम और शील का लेश भी नहीं होता। कदाचित् मनुष्य पर्याय में इस जीव ने रागसहित संयम

का अथवा देशसंयम का पालन किया, अथवा अकाम निर्जरा और खोटा तप किया और मरकर पुण्ययोग से देव हुआ तथा देव होकर क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्लब्धि, और करणलब्धि के मिल जाने से सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर लिया किन्तु बारह प्रकार का तप और पाँच प्रकार का चरित्र तो वहाँ किसी भी तरह प्राप्त नहीं हो सकता। और तो क्या, श्रावक के व्रत तथा शील का लेश भी पाल सकना वहाँ शक्य नहीं है। क्योंकि देवगति में संयम संभव नहीं है।

मनुष्य गति में विशेष

मणुव-गईए वि तओ मणव-गईए महव्वदं सयलं।
मणुव-गदीए झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं।। 299

मनुष्य गति में ही तप होता है। मनुष्य गति में ही समस्त महाव्रत होते हैं। मनुष्य गति में ही ध्यान होता है ओर मनुष्यगति में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और कायक्लेश ये छ: बाह्य तप ओर प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये छ: अभ्यन्तर तप मनुष्य गति में ही होते हैं। हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन समस्त पापों का पूर्ण त्याग रूप महाव्रत मनुष्य ही धारण कर सकते हैं। मनुष्यगति में ही उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं। तथा समस्त कर्मबन्धन से मुक्ति भी मनुष्य गति में ही मिलती है।

विषयासक्त मनुष्य मूढ

इह दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमंति विसएसु।
ते लहिय दिव्व-रयणं भूइ-णिमित्तं पजालंति।।300

पूर्वोक्त प्रकार से दुर्लभ मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके जो पाञ्चों इन्द्रियों के विषय में रमते हैं वे मूढ दिव्य रत्न को पाकर उसे भस्म के लिये जलाकर राख कर डालते हैं।

दुर्लभ रत्नत्रय आदणीय

इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि।।301

इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र को संसार की सब दुर्लभ वस्तुओं में भी दुर्लभ से जानकर इन तीनों का अत्यन्त आदर करो।

अध्याय-6

ब्रह्माण्डीय-परिज्ञानार्थे गणितीय आयाम

अलौकिक मान के चार भेद हैं- द्रव्यमान, क्षेत्रमान, कालमान, और भावमान। उनमें- से द्रव्यमान के दो भेद हैं-संख्यामान और उपमामान। संख्यामान के तीन भेद हैं - संख्यात, असंख्यात, अनन्त। उनमें से संख्यात के तीन भेद हैं- जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट। असंख्यात, परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात के भेद से तीन प्रकार का होने पर भी प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद होने से नौ प्रकार का है। इसी तरह अनन्त भी परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त में-से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होने से नौ प्रकार का है। इन इक्कीस भेदों में सें जघन्य संख्यात दो की संख्या है। क्योंकि एक से गुणा करने पर या एक का भाग देने पर न वृद्धि होती है और न हानि होती है। अत: भेद का ग्राहक होने से दो की संख्या को ही जघन्य संख्यात माना है। रही तीन आदि संख्या, सो वे मध्यम संख्यात के भेद होने से दो को ही जघन्य संख्यात कहा है। एक कम जघन्य परीतासंख्यात उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण है। (गो. जी. पृ.207)

जघन्यपरीतासंख्यात का प्रमाण

अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नाम के चार कुण्डों की कल्पना करें। प्रत्येक कुण्ड प्रमाण योजन से एक लाख योजन का व्यास और एक हजार योजन की गहराई को लिये हुए जम्बूद्वीप के प्रमाण हो। इस अनवस्था कुण्ड को सरसों से मुख तक भरने के बाद उसके ऊपर आकाश में जितनी ऊँचाई तक वह भरा जा सकता हो, भरने पर समस्त सरसों का प्रमाण एक हजार नौ सौ सत्तानवें कोटि कोटि कोटि कोटि कोटि कोटि, ग्यारह लाख उनतीस हजार, तीन सौ चौरासी कोटि कोटि कोटि कोटि कोटि, इक्यावन लाख इकतीस हजार छह सौ छत्तीस कोटि, कोटि कोटि कोटि छत्तीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ त्रेसठ कोटि कोटि कोटि, तेरसठ लाख तेरसठ हजार छह सौ छत्तीस कोटि कोटि, छत्तीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ तेरसठ कोटि, तेरसठ लाख तरेसठ हजार छ सौ छत्तीस तथा चारबटे ग्यारह 1997, 1129384, 5131636, 3636363, 6363636, 3636363, 6363636 4/11 होता है। इस प्रकार शिखा तक अनवस्था कुण्ड के एक बार भरने पर शलाकाकुण्ड में एक सरसों डाल दे। उस अनवस्था कुण्ड की सरसों को मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा अथवा देव ग्रहण करके जम्बूद्वीप से लेकर प्रत्येक द्वीप और समुद्र में एक-एक सरसों क्षेपण करें। ऐसा करने पर जिस द्वीप या समुद्र में सरसों समाप्त हों, उतने द्वीप समुद्रों के सूचीव्यास प्रमाण चौडा तथा एक हजार योजन गहरा दूसरा

अनवस्था कुण्ड करके उसे भी पूर्ववत् शिखा पर्यन्त सरसों से भरकर शलाका कुण्ड में दूसरी बार एक सरसों क्षेपण करें। उस कुण्ड के सरसों को उससे आगे के द्वीप समुद्रों में एक-एक सरसों क्षेपण करने पर जिस द्वीप या समुद्र में सरसों समाप्त हों, वहाँ तक के समस्त पूर्व द्वीप समुदों के व्यास प्रमाण चौडा और एक हजार योजन गहरा तीसरा अनवस्था कुण्ड करके उसे शिखा तक सरसों से भरकर पूर्वोक्त शलाका कुण्ड में तीसरी बार एक सरसों क्षेपण करें। पुन: उसी प्रकार करें। इस क्रम से पूर्वोक्त एक नौ आदि अंकों की संख्यामात्र अनवस्था कुण्डों के होने पर शलाका कुण्ड शिखा पर्यन्त भरता है। शलाका कुण्ड के भरने पर प्रतिशलाका कुण्ड में एक सरसों क्षेपण करें। पुन: शलाका कुण्ड को खाली करके उसी तरह अनवस्था कुण्ड के द्वारा उसे भरना चाहिए। उक्त भरने पर प्रतिशलाका कुण्ड में पुन: एक सरसों क्षेपण करें। इस प्रकार क्रम से एक नौ आदि अंकों के वर्ग प्रमाण अनवस्था कुण्डों के होने पर प्रतिशलाका कुण्ड भी भर जाता है। प्रतिशलाका कुण्ड के भरने पर महाशलाका कुण्ड में अन्य सरसों क्षेपण करें । इस तरह एक, नौ आदि अंकों के घन प्रमाण अनवस्था कुण्डों के होने पर महाशलाका कुण्ड भी भर जाता है। महाशलाका कुण्ड के भरने पर पहले के प्रतिशलाका, शलाका और अनवस्था कुण्ड भी भर जाते हैं। उस समय अन्तिम अनवस्था कुण्ड में जितनी सरसों समाती है, उनके प्रमाण में एक कम करने पर उत्कृष्ट संख्यात होता है। उसकी संदृष्टि 15 है। और अन्तिम अनवस्था कुण्ड की सम्पूर्ण सरसों का जितना प्रमाण है, उतना ही जघन्य परीतासंख्यात प्रमाण है । उसकी संदृष्टि 16 है। जघन्य परीतासंख्यात के ऊपर एक-एक बढते हुए क्रम से एक कम उत्कृष्ट परीतासंख्यात पर्यन्त मध्यम परीतासंख्यात के विकल्प (भेद) होते हैं। अब जघन्य परीतासंख्यात का विरलन करके अर्थात् जघन्य परीतासंख्यात प्रमाण एक-एक स्थापित करके प्रत्येक एक के अंक के ऊपर जघन्य परीतासंख्यात को देकर सब परीतासंख्यातों को परस्पर में गुणा करने पर जघन्य युक्तासंख्यात का प्रमाण आता है। उसमें-से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात और आवली समान हैं अर्थात् एक आवली में जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण समय होते हैं। या इतने समय की आवली है। जघन्य युक्तासंख्यात के ऊपर एक-एक बढते हुए एक कम उत्कृष्ट युक्तासंख्यात पर्यन्त मध्यम युक्तासंख्यात के भेद होते हैं। जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने पर जघन्य असंख्यातसंख्यात होता है। उसमें एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यात के ऊपर एक-एक बढते हुए एक कम उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात पर्यन्त मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेद होते हैं। एक कम जघन्य परीतानन्त प्रमाण उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है।

जघन्य परीतानन्त

जघन्यासंख्यात, संख्यात राशि को शलाका विरलन और देय राशि के रूप में तीन जगह स्थापित करें। विरलन राशि का विरलन करके अर्थात् जघन्य असंख्यातासंख्यात को अलग-अलग एक-एक के रूप में फैलाकर लिखों उनके ऊपर देय राशि को स्थापित करो । अर्थात् जघन्य असंख्यातसंख्यात का जितना प्रमाण है उतनी जगह जघन्य असंख्यातासंख्यात को रखकर परस्पर में एक-दूसरे से गुणा करो और एक बार गुणा करने पर जघन्य असंख्यातासंख्यात प्रमाण शलाका राशि में-से एक कम करो। ऐसा करने से जो राशि उत्पन्न हो, उतनी ही विरलन और देय राशि स्थापित करो। विरलन राशि का विरलन करके देय राशि को एक-एक के ऊपर स्थापित करके परस्पर में गुणा करो। और शलाका राशि में एक और घटा दें। ऐसा करने से जो राशि उत्पन्न हो पुन: उस राशि प्रमाण विरलन और देयराशि देकर परस्पर में गुणा करो और शलाका राशि में से पुनः एक कम करो। ऐसा करने से जो राशि उत्पन्न हो, पुन: उस प्रमाण विरलित और देयराशि स्थापित करके विरलन राशि को एक-एक के रूप में विरलित करके प्रत्येक पर देय राशि देकर परस्पर में गुणा करो और श्लाका राशि में से पुन: एक कम करके। ऐसा करते-करते जब प्रथम बार स्थापित जघन्य असंख्यातासंख्यात प्रमाण शलाका राशि सब समाप्त हो जावें, तब जो राशि उत्पन्न हों, उतने ही परिमाण को लिये शलाका विरलन और देय राशि स्थापित करो। विरलन राशि का विरलन करके देयराशि को प्रत्येक पर देकर परस्पर में गुणा करो और शलाका राशि में से एक कम करो। ऐसा करने से जो राशि उत्पन्न हुई, उतनी ही विरलन और देयराशि स्थापित करके विरलन राशि का विलरन करो देयराशि को उस पर देकर परस्पर में गुणा करो और शलाका राशि में-से एक कम करो ऐसा करते-करते जब दूसरी बार की शलाका राशि भी समाप्त हो जावे तब जो राशि उत्पन्न हुई हो, उतने ही परिणामकी विरलन देय और शलका राशि स्थापित करो। विरलन राशि का विरलन करके और प्रत्येक पर देय राशि को स्थापित करके परस्पर में गुणा करो और शलाका में-से एक कम कर दो। ऐसा करने से जो राशि उत्पन्न हुई, उतनी ही विरलन और देयराशि रखकर विरलन राशि को विरलन करो और देय राशि को प्रत्येक पर देकर परस्पर में गुणा करो तथा शलाका राशि में से एक कम करो ऐसा। करते-करते जब तीसरी बार की शलाका राशि समाप्त हो जावे तब जो राशि उत्पन्न हो उस में जगत् श्रेणि के घन अर्थात् लोक राशि प्रमाण धर्मद्रव्य के प्रदेश, उतने ही अधर्मद्रव्य के प्रदेश, उतने ही एक जीव के प्रदेश, उतने ही लोकाकाश के प्रदेश, असंख्यात लोक प्रमाण अप्रतिष्ठित प्रत्येक राशि, इस राशि से असंख्यात गुणा होने पर भी असंख्यात लोक प्रमाण प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों की राशि, ये

छह राशियाँ मिलाना। सबको जोडने पर जो परिमाण उत्पन्न हो, उतने ही परिमाण वाली शलाका विरलन और देयराशि स्थापित करो। पहले की ही तरह विरलन राशि का विरलन और देयराशि को उस पर स्थापित कर परस्पर में गुणा करना और शलाका राशि में-से एक कम करना-आदि की विधि से जब शलाका राशि तीसरी बार भी समाप्त हो जाये तब जो राशि उत्पन्न हो, उसमें ये चार राशियाँ मिलाना-उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के संख्यात पल्य प्रमाण समयराशि, असंख्यात लोक मात्र स्थितिबन्ध के कारणभूत परिणामों के स्थान, इनसे असंख्यात लोक गुणे होने पर भी असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग बन्ध के कारणभूत परिणामों के स्थान तथा इनसे असंख्यात लोक गुणी होने पर भी असंख्यात लोक योगों की उत्कृष्ट अविभागी प्रतिच्छेद राशि। इनके मिलाने पर जो राशि उत्पन्न हो, उस राशि प्रमाण विरलन देय शलाका राशि स्थापित करके पूर्व रीति से तीन बार शलाका राशि स्थापित करने पर जो राशि उत्पन्न हो, वह जघन्य परीतानन्त है। इसके ऊपर एक-एक बढते-बढते एक कम उत्कृष्ट परीतानन्त पर्यन्त मध्यम परीतानन्त के भेद जानना। एक कम जघन्य युक्तानन्त प्रमाण उत्कृष्ट परीतानन्त है।

जघन्य युक्तानन्त का प्रमाण

जघन्य परीतानन्त को एक-एक के रूप में विरलन करके प्रत्येक एक पर जघन्य परीतानन्त को स्थापित करके परस्पर में गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो, वह जघन्य युक्तानन्त है। इतनी ही अभव्य जीवों की राशि है।इसके ऊपर एक-एक बढते एक कम उत्कृष्ट युक्तानन्त प्रमाण मध्यम युक्तानन्त के भेद हैं। तथा एक कम जघन्य अनन्तान्त प्रमाण उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है।

जघन्य अनन्तानन्त

जघन्य युक्तानन्त को जघन्य युक्तानन्त से गुणा करने पर जघन्य अनन्तानन्त होता है। इसके ऊपर एक-एक बढते-बढते एक कम केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद प्रमाण मध्यम अनन्तानन्त के भेद होते हैं। जघन्य अनन्तानन्त प्रमाण विरलन देय शलाका राशि के क्रम से पहले की तरह तीन बार शलाका राशि स्थापित करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसमें से छह राशियाँ मिलाना-सिद्ध राशि, पृथिवी आदि चार, प्रत्येक वनस्पति और त्रसराशि से रहित संसारी जीव राशि मात्र निगोदराशि, प्रत्येक वनस्पति सहित निगोदराशि प्रमाण वनस्पतिराशि, जीवराशि से अनन्तगुणी पुद्गलराशि। इससे भी अनन्तान्तगुणी व्यवहार काल के समयों की राशि। इससे भी अनन्तानन्तगुणी अलोकाकाश के प्रदेशों की राशि। ये छह राशियाँ मिलाना। इन सब को मिलाने से जो परिमाण हुआ, उतना ही विरलन देय शलाका राशि के क्रम से पूर्ववत् तीन बार शलाका राशि समाप्त होने पर जो राशि उत्पन्न हो,

उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेदों का जो अनन्तान्त प्रमाण है, वह मिलाना। वह मिलाने से जो राशि हो, उस राशि प्रमाण विरलन देस शलाका के क्रम से तीन बार शलाका स्थापित करके गुणा करते हुए जो राशि उत्पन्न हो, उसे केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों के समूह में-से घटाकर और पुन:उसी में मिलाने पर केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद प्रमाण उत्कृष्ट अनन्तानन्त का प्रमाण होता है। यदि ये सब संख्यात आदि एक को आदि लेकर हो, तो सर्वधारा ही कही जायेगी। इससे शेष 1समधारा, 2विषमधारा, 3कृतिधारा, 4अकृतिधारा, 5घनधारा, 6अघनधारा, 7कृतिमातृकधारा, 8अकृतिमातृकधारा, 9घनमातृक धारा, 10अघनमातृक धारा, 11वर्ग धारा 12द्विरूपघन धारा और 13द्विरूपघनाघन धारा ये तेरह धाराएँ उसी में उत्पन्न जानो। इन धराओं में से द्विरूपवर्गधारा वगैरह ही यहाँ उपयोगी हैं। अत: उन्हीं तीन का यहाँ कथन किया जाता है।

दो के वर्ग से लेकर पूर्व-पूर्व संख्या का वर्ग करते हुए जो धारा चलती है, वह द्विरूपवर्ग-धारा है। इसका प्रथम स्थान दो का वर्ग चार, चार का वर्ग सोलह दूसरा स्थान है, सोलह का वर्ग दो सौ छप्पन तीसरा स्थान है, उसका वर्ग पैसठ हजार पाँच सौ छत्तीस जिसे संक्षेप में पण्णट्ठी कहते हैं, चौथा स्थान है। उसका वर्ग 4294967296 जिसे संक्षेप में बादाल कहते हैं, पाँचवा स्थान है। बादाल का वर्ग एकट्ठी 18446744073709551616 छठा स्थान है। इस तरह पूर्व-पूर्व का वर्ग करते हुए संख्यात स्थान होने पर जघन्य परीतासंख्यात की वर्ग शलाका राशि होती है। उससे आगे संखयात वर्ग स्थान जाने पर उसकी अर्द्धच्छेद शलाका राशि उत्पन्न होती है। उससे आगे संख्यात वर्ग स्थान जाने पर जघन्य परीतासंख्यात का वर्गमूल उत्पन्न होता है। उसका एक बार वर्ग करने पर जघन्य परीतासंख्यात आता है।

दो के वर्ग से लगाकर जितनी बार वर्ग करने पर विवक्षित राशि उत्पन्न होती है, उसकी उतनी ही वर्ग शलाका होती है। जैसे चार बार वर्ग करने पर पण्णट्ठी राशि उत्पन्न होती है, तो उसकी चार वर्गशलाका है। और विवक्षित राशि का जितनी बार आधा-आधा हो सकता है उतने उस राशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। जैसे सोलह का एक बार आधा करने पर आठ, दूसरी बार आधा करने पर चार, तीसरी बार आधा करने पर दो और चौथी बार आधा करने पर एक आता है। अत: सोलह की अर्द्धच्छेद राशि चार है। और जिसका एक बार वर्ग करने पर विवक्षित राशि आती है, उसे उस राशि का प्रथम वर्गमूल कहते हैं।

जघन्य परीतासंख्यात से संख्यात वर्ग स्थान जाने पर आवली उत्पन्न होती है। आवली का वर्ग करने पर प्रतरावली उत्पन्न होती है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान करने जाने

पर पल्य की वर्ग शलाका राशि आती है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाने पर पल्य की अर्द्धच्छेद शलाका राशि उत्पन्न होती है। उससे असंख्यात वर्गस्थान जाने पर पल्य का प्रथम वर्गमूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर पल्य उत्पन्न होता है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाने पर सूच्यंगुल उत्पन्न होता है। उसका एक बार वर्ग करने पर प्रतरांगुल उत्पन्न होता है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाकर जगत् श्रेणिका घनमूल उत्पन्न होता है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाकर जघन्य परीतानन्त की वर्गशलाका राशि उत्पन्न होती है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाकर उसकी अर्द्धच्छेद शलाका राशि उत्पन्न होती है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाकर जघन्य परीतानन्त का प्रथम वर्ग मूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर जघन्य परीतानन्त आता है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाकर जघन्य युक्तानन्त उत्पन्न होता है। उतना ही अभव्य राशि का प्रमाण है। उसका एक बार वर्ग करने पर जघन्य अनन्तानन्त उत्पन्न होता है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर जीव राशि की वर्ग शलाका राशि उत्पन्न होती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर उसकी अर्द्धछेद शलका राशि उत्पन्न होती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर उसका प्रथम वर्गमूल होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर सर्व जीव राशि उत्पन्न होती है। उससे अनन्तानन्त स्थान जाकर सर्व पुद्गलराशि उत्पन्न होती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर सर्व काल राशि होती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर श्रेणिरूप आकाश के प्रदेशों का परिमाण होता है। उसका एक बार वर्ग करने पर पतराकाश के प्रदेशों का परिणाम होता है। उससे अनन्तान्त वर्ग स्थान जाकर धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के अगुरुलघु गुणों के अविभागी प्रतिच्छेद की राशि होती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर एक जीव द्रव्य अगुरुलघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों की राशि आती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्त के जघन्य ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद समूह की राशि उत्पन्न होती है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर जघन्य क्षायिक लब्धि के अविभाग प्रतिच्छेद के समूह की राशि आती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर केवलज्ञान की वर्ग श्लाका राशि आती है। उससे अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाकर केवलज्ञान की अर्द्धच्छेदराशि आती है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर केवलज्ञान का अष्टम वर्गमूल आता है। उसके एक बार वर्ग करने पर सप्तम वर्गमूल आता है। उसके एक बार वर्गमूल करने पर छठा वर्गमूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर पाँचवाँ वर्गमूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर चतुर्थ वर्ग मूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर तृतीय वर्गमूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर द्वितीय वर्गमूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर प्रथम वर्गमूल आता है। उसका एक बार वर्ग करने पर गुण पर्याय से संयुक्त तीनों लोकों

और तीन कालों के जीवादि पदार्थों के समूह के प्रकाशक केवल ज्ञान रूपी सूर्य के प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वथा विनाश से प्रकट हुए समस्त अविभाग प्रतिच्छेदों के समूहात्मक भावप्रमाण उत्पन्न होता है। यही उत्कृष्ट क्षायिक लब्धि है। इस द्विरूपवर्गधारा के वर्गरूप सब स्थान केवलज्ञान की वर्ग शलाका प्रमाण होते हैं। अर्थात् जितना केवलज्ञान की वर्गशलाका हैं, उतने ही द्विरूपवर्गधारा के सब वर्गस्थान हैं।

इस द्विरूप वर्गधारा में तथा द्विरूपघनधारा और द्विरूपघनाघनधारा में सूच्यंगुल आदि की वर्गशलाका और अर्द्धच्छेदराशि उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि ये विरल और देय के क्रम से उत्पन्न होती है।

जो राशि विरलन और देय के क्रम से उत्पन्न होती है, वह राशि जिस धारा में कही है, उस राशि की वर्ग शलाका या अर्द्धच्छेद उसी धारा में नहीं होते। जैसे विरलन राशि सोलह का विरलन करके प्रत्येक पर सोलह-सोलह देय राशि को रखकर परस्पर में गुणा करने पर एकट्ठी राशि उत्पन्न होती है, यह राशि द्विरूप वर्ग धारा में है। किन्तु इसके अर्द्धच्छेद चौंसठ और वर्गशलाका छह ये दोनों द्विरूप वर्ग धारा में नहीं है। ऐसा ही सूच्यंगुल वगैरह के विषय में जानना।

सूच्यंगुल आदि द्विरूपवर्गधारा में अपनी-अपनी देयराशि से ऊपर विरलन राशि के जितने अर्द्धच्छेद हैं, उतने वर्ग स्थान जाने पर उत्पन्न होते हैं। उसमें-से सूच्यंगुल की विरलन राशि पल्य का अर्द्धच्छेद प्रमाण है। और देय राशि पल्य प्रमाण है। तथा जगत् श्रेणि की विरलन राशि पल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग मात्र है और देय राशि घनांगुल प्रमाण है। अपनी-अपनी विरलन राशि का विरलन करके एक-एक के ऊपर देय राशि को देकर परस्पर में गुणा करने से वह राशि उत्पन्न होती है। राशि के आधा करने के बार मात्र उसकी अर्द्धच्छेद राशि होती है। और उसके अर्द्धच्छेदों को जितनी बार आधा-आधा किया जा सकता है, उतनी वर्गशलाका राशि होती है। द्विरूपवर्गधारा आदि तीन धाराओं में विवक्षित वर्ग से ऊपर के वर्ग में अर्द्धच्छेद दूने-दूने होते हैं। तथा उसके निकटवर्ती जो ऊपर का स्थान होता है, उसका जितने नम्बर हों, उतने ही नम्बर का स्थान द्विरूपघनधारा और द्विरूपघनाघनधारा में हो तो तिगुने-तिगुने अर्द्धच्छेद होते हैं।

जैसे द्विरूपवर्गधारा में दूसरा वर्ग स्थान सोलह हैं। उसके अर्द्धच्छेद चार हैं। तीसरा वर्ग स्थान दो सौ छप्पन है। उसके अर्द्धच्छेद आठ हैं। इसी तरह दूने-दूने होते हैं। तथा जैसे द्विरूपवर्गधारा का द्वितीय वर्गस्थान सोलह और उसके अर्द्धच्छेद चार हैं। उससे ऊपर द्विरूपघनधारा का तीसरा स्थान चार हजार छियानबें हैं। उसके अर्द्धच्छेद बारह हैं। इस प्रकार सर्वत्र जानना। तथा वर्गशलाका का नीचे के वर्ग से ऊपर के वर्ग की स्वस्थान में

एक अधिक होती हैं और परस्थान में समान होती हैं जैसे द्विरूपवर्गधारा के दूसरे वर्ग सोलह की दो और तीसरे वर्ग दो सौ छप्पन की तीन वर्गशलाका हैं। तथा द्विरूपघनधारा के तीसरे स्थान चार हजार छियानवे की भी वर्गशला का तीन ही हैं। द्विरूपवर्गधारा राशि की जितनी वर्गशलाका हो, उतनी जगह दो-दो के अंक रखकर परस्पर में गुणा करने से अर्द्धच्छेदों का प्रमाण आता है। तथा अर्द्धच्छेद प्रमाण दो-दो के रखकर परस्पर में गुणा करने से राशि उत्पन्न होती है। जैसे सोलह की वर्गशलाका दो हैं। अतः दो जगह दो रखकर गुणा करने से चार आता है। इस प्रकार सोलह के चार अर्द्धच्छेद होते हैं। तथा चार अर्द्धच्छेद प्रमाण दो-दो रखकर परस्पर में गुणा करने से सोलह राशि आती है। जितनी बार वर्ग करने से राशि उत्पन्न हो, उन्हें वर्गशलाका कहते हैं। अथवा द्विरूपवर्गधारा में अर्द्धच्छेदों की राशि को आधा-आधा करने के बारों को वर्गशलाका कहते हैं। और राशि को जितनी बार आधा-आधा किया जा सकता हो, उन्हें अर्द्धच्छेद कहते हैं।

अब द्विरूपघनधारा को कहते हैं। दो का घन आठ होता है। वह इस धारा का पहला स्थान है। इसका वर्ग चौंसठ दूसरा स्थान है, यह चार का घन है। चौंसठ का वर्ग चार हजार छियानबे तीसरा स्थान हैं, यह सोलह का घन है। चौंसठ का वर्ग चार हजार छियानबे तीसरा स्थान है। यह सोलह का घन है। सोलह का घन दो सौ छप्पन उसका घन चौथा स्थान है। पण्णट्ठी का घन पाँचवाँ स्थान है। बादाल का घन छठास्थान है। इस प्रकार पहले-पहले स्थान करने पर एक-एक स्थान होता है। ऐसे संख्यात वर्ग स्थान जाने पर परीतासंख्यात का घन होता है। उससे संख्यात स्थान जाने पर आवली का घन होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर प्रतरावलीका घन होता है। उससे असंख्यात वर्गस्थान जाकर पल्य की वर्ग शलाका का घन होता है। उससे असंख्यात वर्गस्थान जाकर पल्य की अर्द्धच्छेद राशि का घन होता है। उससे असंख्यात वर्गस्थान जाकर पल्य के प्रथम वर्गमूल का घन होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर पल्य का घन होता है। उससे असंख्यात वर्गस्थान जाकर घनांगुल होता है। उससे असंख्यात वर्ग स्थान जाकर जगत्श्रेणि होती है। उसमें एक बार वर्ग करने पर जगत्प्रतर होता है। उससे अनन्तानन्त स्थान जाकर जीवराशि की वर्गशलाका राशि का घन होता है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर जीव राशि की अर्द्धच्छेद शलाका राशि का घन होता है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर जीवराशि के प्रथम वर्गमूल का घन होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर जीवराशि का घन होता है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर श्रेणिरूप आकाश की वर्गशलाका का घन होता है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर उसी के अर्द्धच्छेदों का घन होता है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर उसी के प्रथम वर्गमूल का घन होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर

श्रेणिरूप आकाश का घन होता है। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर केवलज्ञान के द्वितीय वर्गमूल का घन होता है। यही द्विरूपघनधारा का अन्तस्थान है। प्रथम वर्गमूल और द्वितीय वर्गमूल को परस्पर में गुणा करने से जो परिणाम होता है, वही द्वितीय वर्ग मूल का घन है। यदि केवलज्ञान के प्रथम वर्गमूल का घन किया जाये तो केवल ज्ञान का अतिक्रमण हो जाये। किन्तु केवलज्ञान से अधिक संख्या का अभाव है। द्विरूपवर्गधारा में जिस स्थान पर जो राशि होती है, उस स्थान पर द्विरूपघन धारा में उस-उस राशि का घन होता है। इस धारा के स्थानों के विकल्प केवलज्ञान के दो कम वर्गशलाका प्रमाण है।

अब द्विरूपघनाघनधारा को कहते हैं- दो के घन के घन को आदि देकर पहले-पहले स्थान का वर्ग करते हुए जो संख्या उत्पन्न हों, वे जिस धारा में पायी जायें, उसे द्विरूपघनाघनधारा कहते हैं। सो दो का घन, आठ का घन, पाँच सौ बारह इसका आदि स्थान है। इससे आगे पूर्व-पूर्व स्थान का वर्ग करते हुए क्रम से असंख्यात वर्गस्थान जाकर लोकाकाश के प्रदेशों का परिमाण आता है । उससे असंख्यात वर्गस्थान जाकर तैजस्कायिक जीव राशि की गुणाकार शलाका राशि आती है।

शंका- गुणाकार शलाका किसे कहते हैं?

समाधान - विरलन राशि प्रमाण उसकी सर्व देय-राशियों के गुणन करने के बारों को गुणाकार शलाका कहते हैं।

उससे आगे असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जाकर अग्निकायिक जीव राशि की वर्गशलाका का राशि अर्द्धच्छेद राशि और अग्निकायिक जीव राशि उत्पन्न होती हैं। इन राशियों की असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जा-जाकर उत्पन्न होने को उत्पति कहते हैं। जैसे लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण पृथक्-पृथक् विरलन, देय और शलाका-रूप तीन राशि करो। विरलन राशि का विरलन करके एक-एक के ऊपर देय राशि को स्थापित करके परस्पर में गुणा करो। और शलाका राशि में-से एक कम करो। यहाँ जो राशि हुई उसकी गुणाकार शलाका एक हुई। और वर्ग शलाका पल्य के असंख्यातवें भाग हुई क्योंकि विरलन राशि के अर्द्धच्छेद देय राशि के अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेदों में जोडने से विवक्षित राशि की वर्ग शलाका का प्रमाण होता है। तथा अर्द्धच्छेद राशि असंख्यात लोक प्रमाण हुई। क्योंकि देयराशि के अर्द्धच्छेदों से विरलन राशि को गुणा करने पर विवक्षित राशि के अर्द्धच्छेदों का प्रमाण होता है। और उत्पन्न हुई राशि असंख्यात लोक प्रमाण है। ऐसा करते जो राशि हो, उसे प्रमाण विरलन और देयराशि करके तथा विरलन राशि का विरलन करके और उस पर देयराशि को रखकर परस्पर गुणा करने पर शलाका राशि में-से एक कम करना। यहाँ तक गुणाकार शलाका दो

हुई। और वर्ग शलाकाराशि, अर्द्धच्छेदराशि और इनको गुणन करने से जो राशि उत्पन्न हुई, तीनों ही असंख्यात लोक प्रमाण हुई। जब तक वह लोक प्रमाण शलाका राशि एक-एक कम करते हुए समाप्त हो, तब तक ऐसे करते जाना। ऐसा करने से जो राशि उत्पन्न हुई, उसकी गुणाकार शलाका तो लोकप्रमाण हुई और सब तीनों राशि असंख्यात लोक, असंख्यात लोक मात्र हुई, इस राशि प्रमाण विरलन देयशलाका स्थापित करके विरलन राशि का एक-एक के रूप में विरलन करके और एक-एक के ऊपर देयराशि को देकर परस्पर गुणा करो। और दूसरी बार स्थापित की हुई, शलाका राशि में- से एक कम करो। यहाँ जो राशि उत्पन्न हुई, उसकी गुणाकार शलाका एक अधिक लोक प्रमाण है और शेष तीनों राशि असंख्यात लोक मात्र, असंख्यात लोक मात्र है। इस उत्पन्न हुई राशि प्रमाण विरलन और देय राशि स्थापित करके विरलन राशि का विरलन करके और देयराशि को प्रत्येक पर देकर परस्पर में गुणा करने पर दूसरी शलाकाराशि में-से एक कम करना। तब गुणाकार शलाका दो अधिक लोक प्रमाण हुई। और शेष तीनों राशि असंख्यातलोक-असंख्यातलोक हुई। इसी प्रकार दो कम उत्कृष्ट संख्यात लोक मात्र गुणाकार शलाका प्राप्त करके इनमें पूर्वोक्त दो अधिक लोकमात्र गुणाकार शलाका जोडने पर गुणाकार शलाका भी असंख्यात लोक प्रमाण हुई । तब यहाँ से लेकर गुणाकार शलाका, वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद राशि और उत्पन्न हुई राशि ये चारों विशेष रूप से हीन अधिक हैं, तथापि सामान्य से असंख्यात लोकप्रमाणरूप असंख्यात हैं। इस तरह से दूसरी बार स्थापित शलाकाराशि को भी एक-एक कम करके पूर्ण करे। ऐसा करने से उत्पन्न हुई राशि प्रमाण विरलन देय और शलाका राशि स्थापित करके पूर्वोक्त प्रकार से इस तीसरी बार स्थापित शलाका राशि को भी समाप्त करके जो राशि उत्पन्न हो, उसी प्रमाण विरलन देय और शलाका राशि स्थापित करके, इस चौथी बार स्थापित की गयी शलाकाराशि में-से पहले कही तीन गुणकार शलाकाराशि के प्रमाण को कम करके जो शेष रहे, उतनी शलाकाराशि में-से पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक कम करते जब वह समाप्त हो तब जो राशि उत्पन्न हो, वही अग्निकायिक जीवों की राशि है। यह देखकर ही आचार्यों ने कहा है कि साढे तीन बार की शलाका राशि रूप से लोक को परस्पर में गुणा करने पर तैजस्कायिक जीवराशि होती है। इस प्रकार अग्निकायिक जीवराशि की गुणकार शलाका से आगे असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जाकर उसकी वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद राशि और प्रथम वर्गमूल होता है। उसका एक बार वर्ग करने पर तैजस्कायिक जीवों का प्रमाण होता है । उससे असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जाकर तैजस्कायिक की स्थिति की वर्गशलाका अर्द्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है।

शंका- तैजस्कायिक स्थिति किसे कहते हैं ?

समाधान -अन्यकाय से आकर तैजस्काय में जीव उत्पन्न हो और तैजस्काय को न छोडकर उत्कृष्ट काल तक तैजस्काय में ही जन्म लेता रहे। वही काल तैजस्कायिक स्थिति से असंख्यात वर्गस्थान जाकर उसकी अर्द्धच्छेदराशि होती है। उससे असंख्यात वर्गस्थान जाकर प्रथम वर्गमूल होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर तैजस्कायिक स्थिति का प्रमाण होता है। उससे असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जाकर अवधिज्ञान सम्बन्धी उत्कृष्ट क्षेत्र की वर्गशलाकाराशि, अर्द्धच्छेदराशि और प्रथम वर्गमूल होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर अवधिज्ञान से सम्बन्ध उत्कृष्ट क्षेत्र होता है। उससे असंख्यात असंख्यात वर्ग स्थान जा-जाकर स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थानों की वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है। उसका एक बार वर्ग करने पर स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थानों का प्रमाण होता है।

शंका -स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान किसे कहते हैं ?

समाधान-ज्ञानावरण आदि कर्मों का ज्ञान को आवरण करना आदि स्वभाव रूप से रहने के काल का नाम तो स्थिति है और स्थितबन्ध के कारणभूत परिणामों के स्थानों को स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं। उससे आगे असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जा-जाकर अनुभागबन्ध्याध्यवसायस्थानों की वर्गशलाका अर्द्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं।

शंका- अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान किसे कहते हैं ?

समाधान- ज्ञानावरण आदि कर्मों के वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुण-हानि-रूप से स्थिति अविभागी प्रतिच्छेदों के समूह रूप अनुभाग के बन्ध के कारणभूत परिणामों के स्थानों का नाम स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान है। उससे असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जाकर निगोद शरीरों की उत्कृष्ट संख्या की वर्ग शलाका अर्द्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर निगोद शरीरों की उत्कृष्ट संख्या होती है।

शंका - वह संख्या कितनी है ?

समाधान- स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवी और देह ये पाँचो पृथक्-पृथक् असंख्यात लोक प्रमाण होने पर भी क्रम से असंख्यात लोक गुणित हैं। अत: पाँच जगह असंख्यात लोक को रखकर परस्पर में गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो, उतनी ही निगोद शरीरों की उत्कृष्ट संख्या है।

उससे आगे असंख्यातलोकमात्र असंख्यातलोकमात्र वर्गस्थान जाकर निगोदकाय स्थिति की वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल होता है। उसका एक बार वर्ग करने पर निगोदकायस्थिति होती है।

शंका- निगोदकायस्थिति किसे कहते है ?

समाधान-निगोद शरीररूप परिणाम पुद्गल स्कन्ध उत्कृष्ट रूप से जितने काल तक निगोद शरीर अपने को नही छोडते, उतने काल के समयों का प्रमाण निगोदकायस्थिति है। यहाँ निगोद जीव निगोद पर्याय में जितने उत्कृष्ट काल तक हैं उसे निगोद काय स्थिति नहीं लेगें क्योंकि उसका काल ढाई पुद्गल परावर्तन है। जो अनन्त है उससे असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जाकर उत्कृष्ट योगस्थानों के अविभागी प्रतिच्छेदों की वर्गशलाका राशि, अर्द्धच्छेद राशि और प्रथम वर्गमूल उत्पन्न होता है। उसमें एक बार वर्ग करने पर जो चतु:स्थान वृद्धि को लिए हुए श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान हैं। उनमें जो उत्कृष्ट योगस्थान है, उनके अविभागी प्रतिच्छेदों का प्रमाण होता है। वे योगस्थानों के अविभागी प्रतिच्छेद जीव के समस्त प्रदेशों में कर्म और नोकर्म पयार्य रूप परिणमन के योग्य वर्गणाओं में प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध के कारण होते हैं। उससे अनन्तानन्त वर्गस्थान जाकर केवलज्ञान के चतुर्थ वर्गमूल के घन आता है। वह केवलज्ञान के प्रथम वर्गमूल और चतुर्थ वर्गमूल को गुणा करने पर जो लब्ध आता है, उतना मात्र है। यही द्विरूप घनाघनधारा का अन्तस्थान है। द्विरूपवर्गधारा में जिस स्थान में जो राशि होती है, इस धारा में उस स्थान में उस राशि को नौ जगह स्थापित करके परस्पर में गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो, उतनी राशि होती है। इस धारा के सब स्थान केवलज्ञान की वर्गशलाका के प्रमाण से चार कम होते हैं। इस तरह यहाँ चार ही धाराओं का कथन किया है। शेष समधारा आदि दस धराएँ यहाँ उपयोगी न होने से नहीं कहीं हैं। जिन्हें उनके जानने की इच्छा हो, उन्हें त्रिलोकसार अथवा बृहत् धारा परिकर्म से जानना चाहिए।

जो राशि एक-दो आदि गणना के द्वारा न कही जा सकने के योग्य होने से केवल उपमा के द्वारा ही कही जाती है, उसे उपमान कहते हैं। उपमान के पल्य, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगतच्छ्रेणि, लोकप्रतर और लोक इस प्रकार आठ भेद हैं। परिभाषा के कथन पूर्वक इनका स्वरूप अब कहते हैं। जो सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी छेदने-भेदन और मोडने में असमर्थ होता है, जल-आग आदि से नाश को प्राप्त नहीं होता, एक रस, एक गन्ध, एक रूप और दो स्पर्श, गुणों से युक्त होता है शब्द का कारण है किन्तु स्वयं शब्दरूप नहीं है आदि-मध्य और अन्त से रहित है बहुप्रदेशहीन होने से अप्रदेशी है इन्द्रियों के द्वारा जानने के अयोग्य है, जिसका विभाग नहीं हो सकता उस द्रव्य को परमाणु कहते हैं। वह परमाणु अन्तरंग-बहिरंग कारणों से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श गुणों के द्वारा स्कन्ध की तरह पूरण और गलन अर्थात् वृद्धि-हानि को प्राप्त होता रहता है, इसलिए उसे पुद्गल कहते हैं। उन अनन्तानन्त परमाणुओं के स्कन्ध का नाम अवसन्नावसन्न है। उससे सन्नासन,

तृटरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, उत्तम भोग भूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग, मध्यमभोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग, जघन्य भोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग, मध्यमभोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग, जघन्य भोगभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग, कर्मभूमि के मनुष्य के बाल का अग्रभाग, लीख, सरसों, जो और अगुँल ये बाहर भी एक दूसरे से आठ-आठ गुने जानना। अँगुल के तीन भेद हैं- उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। पूर्वोक्त क्रम से उत्पन्न हुआ उत्सेघांगुल है। इससे नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के शरीर, भवनवासी आदि चार निकायों के देवों के नगर और निवासस्थान आदि के माप का कथन किया जाता है। उस उत्सेधांगुल से पाँच सौ गुना प्रमाणांगुल होता है। यह प्रमाणांगुल भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती का आत्मांगुल होता है। इससे द्वीप, समुद्र पर्वत, वेदी, नदी, कुण्ड जगती, क्षेत्र आदि के प्रमाण का कथन किया जाता है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का अपने-अपने वर्तमान काल में जो अंगुल होता है, वह आत्मांगुल है। उससे झारी, कलश, दर्पण, धनुष्य, ढोल, जुआ, शय्या, गाडी, हल, मूसल, शक्ति, भाला, सिंहासन, बाण, पासे, नाली, चमर, दुन्दुभि, आसन, छत्र, मनुष्यों के निवास, नगर, उद्यान आदि के प्रमाण का कथन किया जाता है। छह अंगुल का एक पाद होता है। उससे वितस्ति, हाथ , चार हाथ (24अंगुल) और दण्ड ये चारों दूने-दूने होते हैं। दो हजार दण्ड का एक कोस, और चार कोस का एक योजन होता है।

प्रमाणांगुल से निष्पन्न योजनप्रमाण चौडा और गहरा गोलगड्ढा करो। उसे उत्तम-भोगभूमि के मेढे के युगल के जन्म से एक दिन से लेकर सात दिन के रोमों के अग्रभागों को, जिनकी लम्बाई-चौडाई अग्रभाग के समान हो, पृथ्वी के स्तर तक अत्यन्त ठसाठस भर दो। उसके रोमों की संख्या साधते हैं- व्यास एक योजन, उसका वर्ग भी एक योजन, उसे दस से गुणा करने पर दस योजन प्रमाण परिधि होती है। इसका वर्गमूल $^{19}/_{6}$ होता है। इसमें व्यास के चतुर्थ भाग गुणा करने पर क्षेत्रफल 19/6 X 1/4= 19/24 होता है। इसको गहराई में एक योजन से गुणा करने पर घनफल भी 19/24 होता है।

अब यहाँ एक योजन के आठ हजार धनुष, एक धनुष के छियानवे अंगुल, एक प्रमाणांगुल के पाँच सौ व्यवहारांगुल, एक व्यवहारांगुल के आठ यव, एक यव के आठ जू, एक जू के आठ लीख, एक लीख के कर्मभूमिज मनुष्य के आठ बालाग्र, एक बालाग्र के जघन्य भोगभूमिज मनुष्य के आठ बालाग्र, इस एक बालाग्र के मध्य भोगभूमिज मनुष्य के आठ बालाग्र, उस एक बालाग्र के उत्कृष्ट भोगभूमिज मनुष्य के आठ बालाग्र होता है । घनराशि के गुणाकार घनात्मक ही होते हैं। अत: इन सब का गुणकार घनरूप करने के

लिए पहले उन्नीस का चौबीसवाँ भाग लिखकर उसके आगे आठ हजार आदि तीन-तीन बार रखकर परस्पर में गुणा करना चाहिए 19/24 X 800018000/8000/96/96/96/500/500/500/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/8/ सो गुणाकारों में राशि के अर्धखण्ड विधान और लघु करण के द्वारा गुणा करने पर जो लब्ध प्राप्त हुआ, वह अंक क्रम के अनुसार इस प्रकार है- बायीं ओर से पहले अठारह बिन्दी लिखकर पीछे दो, नौ, एक, दो, एक, पाँच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन बिन्दी, दो, आठ, बिन्दी, तीन, बिन्दी, तीन, छह, दो, पाँच, चार, तीन, एक, चार लिखना। ये व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या है। 413, 4526, 303,0820317, 7749512, 192000000000000000000 अर्थात् चार सौ तेहर कोडाकोडी कोडाकोडी कोडाकोडी, पैंतालीस लाख छब्बीस हजार तीन सौ तीन कोडाकोडी कोडाकोडी, कोडी आठ लाख बीस हजार तीन सौ सत्तरह कोडाकोडी कोडाकोडी,सत्रह सतहत्तर लाख उनचास हजार पाँच सौ बारह कोडाकोडी कोडाकोडी, उन्नीस लाख बीस हजार कोडाकोडी प्रमाण होते हैं। इन रोमाग्रों में-से एक-एक रोम सौ-सौ वर्ष के बाद निकालने पर जितना काल होता है, वह सब व्यवहार पल्य का काल है। पुन: इन एक-एक रोमाग्र का असंख्यात करोड वर्षों के जितने समय होते हैं, उतने-उतने खण्ड करने पर दूसरें उद्धारपल्य के रोमाग्रों की संख्या होती है। इतने ही इसके समय होते हैं। उसकी संख्या लाते हैं-विरलन राशि को देयराशि के अर्द्धच्छेदों से गुणा करने पर जो लब्ध आता है, वह उत्पन्न राशि के अर्द्धच्छेदों का प्रमाण होता है। अत: अद्धापल्य की अर्द्धच्छेद राशि में अद्धा पल्य की अर्द्धच्छेद राशि से गुणा करने पर सूच्यंगुल की अर्द्धच्छेद राशि होती है। इसको तिगुना करने पर घनांगुल की अर्द्धच्छेद राशि होती है। इससे उद्धारपल्य की अर्द्धच्छेद राशि के असंख्यातवें भाग को गुणा करने पर जगत् श्रेणी के अर्द्धच्छेद होते हैं। इसमें तीन कम करने पर राजू के अर्द्धच्छेद होते हैं। इनमें से मेरु की चोटी पर पडने वाले एक अर्द्धच्छेद के साथ एक लाख योजन तथा एक योजन के सात लाख अडसठ हजार अंगुल के संख्यात अर्द्धच्छेद से अधिक सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेदों को घटा ने पर जो शेष रहे, उतनी ही समस्त द्वीपसमुद्रों की संख्या है। घटाने की प्रक्रिया इस प्रकार है- यदि तिगुने सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेद प्रमाण गुणाकार घटाने के लिए अद्धापल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें प्रमाण गुण्य में एक घटाया जाता है, तो यहाँ संख्यात अधिक सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेद घटाने के लिए कितना घटाना चाहिए, ऐसा त्रैराशिक करने पर कुछ अधिक 1/3 त्रिभागगुण्य में-से घटाने चाहिए। इस प्रकार कुछ अधिक एक के तीसरे भाग से हीन पल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग को पल्य के अर्द्धच्छेदों के वर्ग से तीन गुणे प्रमाण से गुणा करने पर

समस्त द्वीप-समुद्रों की संख्या होती है। अत: इतने द्वीपसमुद्र ढाई उद्धार सागर प्रमाण होते हैं। अत: वे पचीस कोडाकोडी उद्धार पल्य प्रमाण हुए। सो यदि इतने पल्यों की पूर्वोक्त संख्या होती है, तो एक उद्धार पल्य की कितनी हुई, ऐसा त्रेराशिक करने पर पूर्वोक्त द्वीपसमुद्रों की संख्या को पचीस कोडाकोडी से भाग देने पर जो प्रमाण आवे, उतनी उद्धार पल्य के रोम खण्डों की संख्या जानना। इन उद्धार पल्य के रोमखण्डों में-से भी प्रत्येक खण्ड के असंख्यात वर्ष के जितने समय हैं, उतने खण्ड करो। जो प्रमाण हो, उतने ही उद्धारपल्य के रोमखण्ड हैं। इसके समयों का प्रमाण भी उतना है, क्योंकि प्रतिसमय एक-एक रोम निकाल ने पर जितने समय में वह रिक्त हो, उतना ही अद्धापल्य का काल है। वे असंख्यात वर्ष के समय कितने हैं सो बतलाते हैं- उद्धारपल्य के समस्त रोमखण्डों में-से प्रत्येक के असंख्यात वर्ष का समय प्रमाण खण्ड करने पर यदि एक अद्धापल्य प्रमाण खण्ड होते हैं, तो एक खण्ड को असंख्यात वर्ष के समयों से खडिण्त करने पर कितने खण्ड ऐसा त्रैराशिक करने से जितना लब्धराशि का प्रमाण होता है, उतना ही असंख्यात वर्ष के समय होते हैं। उद्धापल्य अपनी अर्द्धच्छेद राशि से ऊपर असंख्यात वर्गस्थान जाकर उत्पन्न होता है ऐसा जानना। इस प्रकार पल्यों को कहा। इनमें-से प्रथम पल्य से रोम संख्या, दूसरे से द्वीपसमुद्रों की संख्या और तीसरे से कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है। प्रत्येक पल्य को दस कोडाकोडी से गुणा करने पर अपने-अपने नाम का एक-एक सागर होता है उसकी उपपत्ति कहते हैं।

लवणसमुद्र की अन्तसूची पाँच लाख और आदि सूची एक लाख है। दोनों को मिलाने पर छह लाख होते हैं। उसको लवणसमुद्र के दो लाख व्यास के आधे एक लाख से गुणा करने पर छह लाख होते हैं। इसका वर्ग करके उसे दस से गुणा करने पर 6ल.ल. X 6 ल.ल.X 10 यह परिधिरूप क्षेत्र हुआ। इस परिधिरूप क्षेत्रफल को एक योजन व्यास वाले गोलाकार पल्य के गड्ढे के सूक्ष्म क्षेत्रफल से भाग देने पर 6ल.ल. X 6ल.ल. 10/1/4 X 1/4 X 10 दस से दस का अपवर्तन करके तथा 'भागहार का भागहार राशि का गुणाकार होता है' इस नियम के अनुसार नीचे के दोनों चार के द्वारा अपने- अपने ऊपर के छह को गुणा करने पर 24 ल. ल. X 24 ल. ल. होता है इसका वर्गमूल निकाल ने पर 24 ल. ल. होता है। इसकी गहराई एक हजार से गुणा करने पर समस्त लवणसमुद्र में पल्य प्रमाण गड्ढों का प्रमाण 24 लाख लाख X 1000 होता है। इसको अपने-अपने रोमखण्डों से गुणा करने पर उन-उन गड्ढों की रोम संख्या होती है। छह रोम जितना क्षेत्र रोकते हैं, उतना क्षेत्र का जल निकालने में पच्चीस समय लगते हैं। तो सब रोमों के क्षेत्र का जल निकालने में कितना समय बीतेगा। ऐसा त्रैराशिक करने पर प्रमाण राशि रोम छह, फलराशि

समय पच्चीस, इच्छाराशि गड्ढों के रोमों का प्रमाण सो फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाण राशि का भाग देने पर समयों का प्रमाण आता है। इतने समयों का यदि एक पल्य होता है, तो सब समयों के प्रमाण कितने पल्य होगें- ऐसा त्रैराशिक करने पर दस कोडाकोडी पल्यों का प्रमाण आता है। अत: दस कोडाकोडी पल्यों का एक सागरोपम अद्धापल्य की अर्द्धच्छेद राशि का विरलन करके एक-एक के ऊपर अद्धापल्य को देकर परस्पर मे गुणा करने पर सूच्यंगुल उत्पन्न होता है। सूच्यंगुल का वर्ग प्रतरांगुल है और घन घनांगुल हैं।

एक प्रमाणांगुल प्रमाण लम्बे तथा एक प्रदेश प्रमाण-चौडे ऊँचे क्षेत्र में जितने प्रदेश आवें, उनका प्रमाण सूच्यंगुल है। एक अंगुल चौडे, एक अंगुल लम्बे, तथा एक प्रदेश ऊँचे क्षेत्र में जितने प्रदेश आते हैं, उनका प्रमाण प्रतरांगुल है। और एक अंगुल चौडे, एक अंगुल लम्बे, एकअंगुल ऊँचे क्षेत्र के प्रदेशों का प्रमाण घनांगुल है।

अद्धापल्य की अर्द्धच्छेदराशि के असंख्यातवें भाग राशि का विरलन करके प्रत्येक पर घनांगुल को देकर परस्पर में गुणा करने पर जगत्श्रेणी उत्पन्न होती है। जगत्श्रेणी का वर्ग जगत्प्रतर है और उसका घन लोक है।

सात राजु लम्बी आकाशप्रदेश पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। जगत् श्रेणी का सातवाँ भाग राजू का प्रमाण है। जगत्श्रेणी को जगतश्रेणी से गुणा करने पर जगत्प्रतर होता है और जगत् श्रेणी का घन लोक है। सो सब लोक के प्रदेशों का प्रमाण जानना।

इस प्रकार आठ प्रकार के उपमा प्रमाण का कथन पूर्ण हुआ। अब इनके अर्द्धच्छेदों और वर्गशलाकाओं की संख्या कहते हैं। सो प्रथम अद्धापल्य के अर्द्धच्छेदों की संख्या द्विरूपवर्ग धारा में अद्धापल्य से नीचे असंख्यात वर्गस्थान उतरकर जो राशि होती है, उतनी है। तथा अद्धा पल्य की वर्गशलाकाओं की संख्या उससे भी नीचे असंख्यात वर्गस्थान उतरकर जो राशि है, उतनी है। सागरोपम के अर्द्धच्छेद सर्वधारा में होते हैं। सो सागरोपम के अर्द्धच्छेद पल्य के अर्द्धच्छेदों में गुणाकार दस कोडाकोडी के संख्यात अर्द्धच्छेद जोडने पर जो प्रमाण हो, उतने हैं। सागरोपमराशि अवर्गात्मक है इसलिए उसकी वर्गशलाका नहीं बनती। सूच्यंगुल द्विरूपवर्गधारा में उत्पन्न हुआ है, अत: विरलन और देय के क्रम से उत्पन्न होने से इसकी अर्द्धच्छेद और वर्गशलाका द्विरूपवर्गधार आदि तीन धाराओं के बिना शेष अपने योग्य धाराओं में पायी जाती हैं। विरलन राशि अद्ध पल्य के अर्द्धच्छेद में देयराशि अद्धापल्य के अर्द्धच्छेदों से गुणा करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने ही सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेद हैं। द्विरूपवर्गधारा में पल्य के ऊपर सूच्यंगुल की विरलन राशि पल्य के अर्द्धच्छेद,

उन अर्द्धच्छेदों के जितने अर्द्धच्छेद हैं उतने वर्ग स्थान जाने पर सूचयंगुल उत्पन्न होता है। इसलिए पल्य की वर्गशलाका के प्रमाण से सूच्यंगुल की वर्गशलाका दुगूनी होती हैं। अथवा सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेदों में विरलन राशि पल्य के अर्द्धच्छेद उतने जितने अर्द्धच्छेद हैं, उनमें देयराशि पल्य, उसके अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेदों को जोडने सूच्यंगुल की वर्गशलाका होती हैं। इस तरह पल्य की वर्गशलाका से दूनी सूच्यंगुल की वर्गशलाका है। प्रतरांगुल द्विरूप वर्गधारा में आता है अत: उसके वर्गशलाका और अर्द्धच्छेद यथायोग्य धाराओं में उत्पन्न होते हैं। वर्ग से ऊपर के वर्गस्थान के अर्द्धच्छेद दूने-दूने होते हैं,- इस नियम के अनुसार सूच्यंगुल से दूने प्रतरांगुल के अर्द्धच्छेद होते हैं। अथवा गुण्य और गुणकारके अर्द्धच्छेदों का जोडने पर उत्पन्न राशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। इसके अनुसार गुण्य सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेदों में गुणकार सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेद जोडने पर प्रतरांगुल के अर्द्धच्छेद होते हैं। तथा वर्गशलाका एक अधिक होती है, अत: सूच्यंगुल के अनन्तर प्रतरांगुल का स्थान है। इसलिए प्रतरांगुल की वर्गशलाका सूच्यंगुल की वर्गशलाका से एक अधिक होती है। घनांगुल द्विरूपघनधारा में उत्पन्न होती है, इसलिए अन्य धारा में उत्पन्न होने से ' अन्य धारा में ऊपर के स्थान के तिगुने-तिगुने अर्द्धच्छेद होते हैं'- इस नियम के अनुसार सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेदों से तिगुने घनांगुल के अर्द्धच्छेद होते हैं। अथवा सूच्यंगुल को तीन जगह रखकर परस्पर में गुणा करने से घनांगुल उत्पन्न होता है। अत: गुण्य और गुणकार रूप तीन सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेदों को जोडने से घनांगुल के अर्द्धच्छेद होते हैं। तथा 'वर्गशलाका अन्य धारा में समान होती हैं' इस नियम के अनुसार द्विरूप वर्गधारा में जिस स्थान में सूच्यंगुल उत्पन्न होती है, द्विरूपघनधारा में उसी स्थान में घनांगुल उत्पन्न होता है, इसलिए जितनी वर्गशलाका सूच्यंगुल की है उतनी ही घनांगुल की है। जगत्श्रेणी द्विरूपघनधारा में उत्पन्न है, अत: इसके अर्द्धच्छेद और वर्गशलाका अन्य धारा में उत्पन्न होते हैं। 'विरलन रूप राशि को देयराशि के अर्द्धच्छेदों से गुणा करने पर लब्धराशि के अर्द्धच्छेद होते हैं।' इस सूत्र नियम के अनुसार विरलन राशि पल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग को देयराशि घनांगुल के अर्द्धच्छेदों से गुणा करने पर जो प्रमाण होता है, उतने जगत्श्रेणी के अर्द्धच्छेद होते हैं। दुगुने जघन्य परितासंख्यात का भाग अद्धा पल्य की वर्गशलाका में देने पर जो प्रमाण आवें उनमें घनांगुल की वर्गशलाकाओं को जोडने पर जो प्रमाण हो, उतनी ही जगत्श्रेणी की वर्गशलाका है। अथवा जगत्श्रेणी की देयराशि घनांगुल के ऊपर विरलन राशि पल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग उसके जितने अर्द्धच्छेद हैं, उतने वर्गस्थान जाकर जगत्श्रेणी उत्पन्न होती है। इससे भी जगत्श्रेणी की वर्गशलाका का पूर्वोक्त प्रमाण जानना। सो जगत्श्रेणी की विरलन राशि कितनी है, यह बतलाते हैं- अद्धापल्य की

अर्द्धच्छेद राशि के वर्गमूल दूने जघन्य परीतासंख्यात के अर्द्धच्छेद प्रमाण करो। सो द्विरूपवर्गधारा में पल्य के अर्द्धच्छेद रूप स्थान से नीचे उतने स्थान जाकर अन्त में जो वर्गमूलरूप स्थान हो उसके अर्द्धच्छेद, दूने जघन्य परीतासंख्यात का भाग पल्य की वर्गशलाका में देने पर जो प्रमाण होता है उतने हैं। 'अर्द्धच्छेदों का जितना प्रमाण हो उतने दो-दो रखकर परस्पर में गुणा करने पर राशि उत्पन्न होती है।' इस नियम के अनुसार यहाँ पल्य की वर्गशलाका का प्रमाण भाज्य है सो। उतने दो-दो रखकर परस्पर में गुणा करने पर पल्य की अर्द्धच्छेद राशि होती है और दूना जघन्य परीतासंख्यात प्रमाण भागहार है । सो उतने दो-दो रखकर परस्पर में गुणा करने पर यथा सम्भव असंख्यात होता है। इस तरह उस अन्तिम वर्गमूल का प्रमाण पल्य के अर्द्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग जानना। वही यहाँ जगत्श्रेणी की विरलनराशि है। लोकप्रतर द्विरूपघनधारा में उत्पन्न होते हैं। उसके अर्द्धच्छेद और वर्गशलाका अन्य धाराओं में उत्पन्न होते हैं। लोक प्रतर के अर्द्धच्छेद जगत्श्रेणी के अर्द्धच्छेदों से दूने होते हैं। तथा 'वर्गशलाका एक अधिक होती है,'- इस नियम के अनुसार जगत्श्रेणी की वर्गशलाका से एक अधिक जगत्प्रतर की वर्गशलाका होती है। तथा घनलोक द्विरूपघनाघन-धारा में उत्पन्न होता है, इसलिए उसके अर्द्धच्छेद और वर्गशलाका अन्यधाराओं में उत्पन्न होते हैं। 'पर स्थान में तिगुने-तिगुने अर्द्धच्छेद होते हैं'- इस नियम के अनुसार द्विरूपघनधारा में प्राप्त जगत्श्रेणी के अर्द्धच्छेदों से लोक के अर्द्धच्छेद तिगुने होते हैं। अथवा जगत्श्रेणी को तीन जगह रखकर परस्पर में गुणा करने से लोक होता है। अत: गुण्य और गुणकार रूप तीन जगत्श्रेणी के अर्द्धच्छेदों को जोडने पर लोक के अर्द्धच्छेद होते हैं। उसकी वर्गशलाका तो 'परस्थान' नियम के अनुसार जगत्श्रेणी की वर्गशलाका जितनी ही होती है। इस विष्य में उपयोगी गाथा सूत्र कहते हैं, जिसका अर्थ इस प्रकार है- गुणाकार के अर्द्धच्छेदों में गुण्यराशि के अर्द्धच्छेद जोडने पर लब्धराशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। जैसे गुणाकार आठ के अर्द्धच्छेद तीन और गुण्य सोलह के अर्द्धच्छेद चार को जोडने पर लब्ध राशि एक सो अट्ठाईस के अर्द्धच्छेद सात होते हैं। इसी प्रकार गुणाकार दस कोडाकोडी के असंख्यात अर्द्धच्छेद गुण्यराशि पल्य के अर्द्धच्छेदों में जोडने पर लब्धराशि सागर के अर्द्धच्छेद होते हैं। किन्तु अधिक के छेद नहीं हैं, क्योंकि अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेद प्रमाण वर्गशलाका होती है। सो यहाँ पल्य के अर्द्धच्छेदों से संख्यात अर्द्धच्छेद सागर से अधिक कहे हैं सो इन अधिक अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेद तो होते हैं, परन्तु वर्गशलाका रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती । इसी से अधिक अर्द्धच्छेद नहीं करते, ऐसा कहा है। इसी से सागर की वर्गशलाका नहीं है।

भाज्यराशि के अर्द्धच्छेदों में-से भागहार के अर्द्धच्छेदों को घटाने पर लब्धराशि

की अर्द्धच्छेद शलाका सर्वत्र होती है। जैसे एक सौ अट्ठाईस के भाज्य के अर्द्धच्छेद सात में भागहार आठ के तीन अर्द्धच्छेद घटाने पर लब्धराशि सोलह के चार अर्द्धच्छेद होते हैं, ऐसे ही सर्वत्र जानना।

विरलन राशि को देयराशि के अर्द्धच्छेदों से गुणा करने पर सर्वत्र उत्पन्न राशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। जैसे विरलनराशि चार को देयराशि सोलह के अर्द्धच्छेद चार से गुणा करने पर उत्पन्न राशि पण्णट्ठि के सोलह अर्द्धच्छेद होते हें इसी प्रकार यहाँ भी पल्य अर्द्धच्छेद प्रमाण विरलन राशि को देयराशि पल्य के अर्द्धच्छेदों से गुणा काने पर उत्पन्न राशि सूच्यंगुल के अर्द्धच्छेद होते हैं ऐसे ही अन्यत्र जाननां

विरलनराशि के अर्द्धच्छेदों मे देयराशि के अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेदों को मिलाने पर उत्पन्न राशि की वर्गशलाका का प्रमाण होता है। जैसे विरलनराशि चार के अर्द्धच्छेद दो और देयराशि सोलह के अर्द्धच्छेद चार के अर्द्धच्छेद दो मिलाने पर उत्पन्न राशि पण्णट्ठि की वर्गशलाका चार होती है। इसी प्रकार विरलनराशि पल्य के अर्द्धच्छेदों में देयराशि पल्य के अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेद जोडने पर उत्पन्न राशि सूच्यंगुल के वर्गशलाका का प्रमाण होती है ; ऐसी ही अन्यत्र जानना।

दूने जन्य परीतासंख्यात, का भाग अद्धापल्य की वर्गशलाका को देने पर जो प्रमाण हो, उसमें घनांगुल की वर्गशलाका का प्रमाण जोडने पर जो प्रमाण हो, उतनी जगत्श्रेणी की वर्गशलाका होती है।

विरलनराशि से जितने अधिक रूप हों उनको परस्पर में गुणा करने पर लब्धराशि का गुणाकार होता है। जैसे चार अर्द्धच्छेद रूप विरलनराशि और तीन अर्द्धच्छेद रूप अधिक राशि इनमें से विरलन राशि के अर्द्धच्छेद प्रमाण दो के अंक रखकर परस्पर में गुणा करने पर 2 X 2 X 2 X 2 सोलह लब्ध राशि होती है। और अधिकराशि तीन अर्द्धच्छेद प्रमाण दो के अंक रखकर 2 X 2 X 2 परस्पर गुणा करने पर गुणकार आठ होता है। सो लब्धराशि के गुणाकार से गुणा करने पर एक सौ अट्ठाईस होते हैं। जिसके अर्द्धच्छेद सात हैं। इसी प्रकार पल्य के अर्द्धच्छेद प्रमाण विरलन राशि है सो इतने दो के अंक रखकर परस्पर में गुणा करने पर दस कोडाकोडी गुणाकार होता है सो पल्य को दस कोडाकोडी से गुणा करने पर सागर का प्रमाण होता है, ऐसे ही अन्यत्र जानना। विरलनराशि से जितने हीन रूप हो, उतना परस्पर गुणा करने पर एक सौ अट्ठाइस राशि उत्पन्न होती है। और हीनरूप प्रमाण दो के अंक रखकर 2 X 2 X 2 परस्पर गुणा करने पर आठ भागहार राशि होती है। सो उत्पन्न राशि में भागहार रूप राशि का भाग देने पर सोलह होते हैं, जिसके अर्द्धच्छेद चार हैं ; ऐसे ही अन्यत्र जानना। इस प्रकार प्रमाण का वर्णन किया।

इस प्रकार मान भेद के द्वार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिमाण किया जाता है- सो जहाँ द्रव्य का परिमाण हो, वहाँ उतने पदार्थ अलग-अलग जानना, जहाँ क्षेत्र का परिमाण हो, वहाँ उतने प्रदेश जानना, जहाँ काल का परिमाण हो वहाँ उतने समय जानना, जहाँ भाव का परिमाण हो, वहाँ उतने अविभागी प्रतिच्छेद जानना। जैसे हजार मनुष्य कहने पर हजार मनुष्य अलग-अलग जानना। इसी प्रकार द्रव्य परिमाण में अलग-अलग पदार्थ जाना। जैसे यह वस्त्र बीस हाथ है, यहाँ उस वस्त्र में बीस अंश अलग-अलग नहीं हैं, परन्तु एक हाथ जितना क्षेत्र रोकता है, उसकी कल्पना करके बीस हाथ कहते हैं। इसी प्रकार क्षेत्र परिमाण में जितना क्षेत्र परमाणु रोकता है, उसको प्रदेश कहते हैं उसकी कल्पना करके क्षेत्र का परिमाण कहा जाता है। तथा जैसे एक वर्ष के तीन सौ छियासठ दिन-रात कहे जाते हैं, किन्तु अखण्डित काल-प्रवाह में अंश नहीं है। परन्तु सूर्य के उदय-अस्त होने की अपेक्षा कल्पना करके कहे जाते हैं। इसी प्रकार काल प्रमाण में जितने काल में एक परमाणु मन्दगति से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है, उसको समय कहते हें, उसी की अपेक्षा कल्पना करके काल का प्रमाण कहा है। तथा जैसे ये सोना सोलह वानी का है सो उस सोने में सोलह अंक नहीं हैं, तथापि एक वान के सोना में जैसे वर्णादिक पाये जाते है, उनकी अपेक्षा कल्पना करके कहा है। इसी प्रकार भाव परिमाण में केवलज्ञानगम्य अतिसूक्ष्म जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्ति के अंश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। उसकी कल्पना करके भाव का परिमाण कहा है। इस प्रकार मुख्य परिमाण का कथन जानना। विशेष जैसा जहाँ विवक्षित हो, वहाँ वैसा जानना। जैसे क्षेत्र परिमाण में आवली का परिमाण कहा, वहाँ आवली के जितने समय हों, उतने प्रदेश जानना। इसी प्रकार काल प्रमाण में जहाँ लोक प्रमाण कहा, वहाँ लोक के जितने प्रदेश हों, उतने समय जानना। इस प्रकार इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र मान का प्रयोजन जान कर मान का वर्णन किया है।

ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों की संख्या

(अ) इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों की संख्या-

1) एकेन्द्रियजीव एवं उनकी संख्या-

पुढवि-काइया-जीवा-असंखेज्जा-संखेज्जजा, आउकाइया-जीवा-असंखेज्जा-संखेज्जा, तेउ-काइया जीवा-असंखेज्जा संखेज्जा, वाउ-काइया जीवा-असंखेज्जा-संखेज्जा, वणप्फदि-काइया-जीवा अणंनाणंता।

पृथ्वीकायिक जीव असंख्यातासंख्यात, जलकायिक जीव असंख्यातासंख्यात, तैजसकायिक जीव असंख्यातासंख्यात, अग्निकायिक जीव असंख्यातासंख्यात, वायुकायिक जीव असंख्यातासंख्यात, वनस्पतिकायिक जीव अनन्तान्त होते हैं।

2) दो इन्द्रिय जीव एवं उनकी संख्या

बे- इंदिया जीवा असंखेज्जा-संखेज्जा, कुखि-किमि-संखखुल्लय, वराडय, अक्ख-रिट्ठय-गण्डवाल-संबुक्क , सिप्पि, पुलवि काइया।

दो इन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात, कुक्षि, कृमि, लट, शंख क्षुल्लकबाला, वराटक या कौडी, अक्ष बाल जाति का विशेष जन्तु, छोटाशंख, सीप, पुलविक अर्थात् पानी के जोंक हैं।

3) तीन इन्द्रिय जीव एवं उनकी संख्या

ते इंदिया असंखेज्जा-संखेज्जा, कुन्थुदेहिय-विंच्छिय-गोभिंद-गोजुव-मक्कुण-पिपीलियाइया।

कुन्थु अर्थात् सूक्ष्म अवगाहना धारक कुन्थु जीव, देहिक, बिच्छु, गोभिद, गो जूँ अर्थात् भैंस आदि के स्तनादि पर लगी रहने वाला''जूँ'', खटमल, चींटी आदि असंख्यातासंख्यात तीन इन्द्रिय जीव हैं।

4) चतुरिन्द्रिय जीव एवं उनकी संख्या

चउरिंदिया जीवा असंखेज्जा-संखेज्जा, दंसमसय-मक्खि-पयंग-कीड, भमर-महुयर, गोमाच्छियाइया।

असंख्यातासंख्यात डांस, मच्छर, मक्खी, पतंगा, कीडा, भौंरा, मधुमक्खी, गोमक्षिका आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

5) पंचेन्द्रि जीव एंव उनकी संख्या

पंचिदिया जीवा असंखेज्जा-संखेज्जा, अडांइया, पोदाइया, जराइया, रसाइया, संसेदिमा, समुच्छिमा, उब्भेदिया, उववादिमा, अवि चउरासीदिजोणि-पमुह-सद-सहस्सेसु।

असंख्यातासंख्यात पंचेन्द्रिय जीव अण्डज, पोतज, जरायुज, रस से उत्पन्न होने वाले, संस्वेदिम, समूर्च्छन, उद्भदिय, उपपाद जन्म से उत्पन्न देव-नारकी, और भी चौरासी लाख योनियों में प्रमुख पञ्चेन्द्रिय जीव हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों की संख्या का विशेष वर्णन

स्थावर काय (साधारण वनस्पति के अतिरिक्त), शंख (द्वीन्द्रिय), पिपीलिका (त्रीन्द्रिय), भ्रमर (चतुरिन्द्रिय), और मनुष्यादि (पंचेन्द्रिय) ये सब पृथक्-पृथक् अपने-अपने उत्तर भेदों सहित द्विवार असंख्यात अर्थात् असंख्यातासंख्यात है। निगोदिया अर्थात् साधारण वनस्पति अनन्तानन्त हैं। (गो. जी. पृ. 244) गा. 175

स्थावर अर्थात् निगोदिया जीवों के अतिरिक्त समस्त एकेन्द्रिय जीव अपने भेद-प्रतिभेद सहित अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक

वनस्पतिकायिक जीव, असंख्यातासंख्यात हैं। निगोद जीवों का पृथक् कथन किया गया है इसलिए स्थावरों में निगोद ग्रहण नहीं किया गया है। द्वीन्द्रिय जीवों में उत्कृष्ट अवगाहना शंख की है अत: शंख कहने से समस्त द्वीन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है।सर्व-परिचित त्रीन्द्रिय जीव चींटी (पिपीलिका) है। अत: पिपीलिका कहने से समस्त त्रीन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। चतुरिन्द्रिय जीवों में भ्रमर की उत्कृष्ट अवगाहना है अत: भ्रमर कहने से समस्त चतुरिन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। पंचेन्द्रियों में मनुष्यों की प्रधानता हैं क्योंकि मनुष्यगति में ही जीव संयम के द्वारा कर्म बन्धन को काटकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अत: मनुष्यादि कहने से चारों गतियों के समस्त पंचेन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है (द्विक बार असंख्यात कहने से असंख्यातासंख्यात का ग्रहण होता है, क्योंकि 'असंख्यातासंख्यात' में असंख्यात शब्द का दो बार प्रयोग होता हैं।)

एकेन्द्रिय जीव, एकेन्द्रिय सूक्ष्म जीव, एकेन्द्रिय बादर जीव, एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त जीव, एकेन्द्रि बादर पर्याप्त जीव , एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त जीव, इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों की नो राशियाँ द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा अनन्तान्त हैं, क्योंकि निगोदिया जीव भी एकेन्द्रिय है। काल प्रमाण की अपेक्षा अनन्तानन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियों से अपहृत नहीं होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा अन्तानन्त लोक प्रमाण है।

एकेन्द्रिय जीवों में पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा भागाभाग

त्रस जीवराशि से हीन संसारी जीवराशि एकेन्द्रिय जीव हैं। उसका संख्यात बहुभाग अपर्याप्त है । और संख्यात एक भाग अपर्याप्त है। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के हैं, उनमें भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रियों की छह राशियों की संख्या का कम कायमार्गणा में कहा जायगा, ऐसा जानना।

सम्पूर्ण जीवराशि में अनिन्द्रिय जीवों (मुक्त जीवों की संख्या अनन्त) को कम कर देने पर संसारी जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। उसमें से द्विन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को अथवा त्रस जीवों को कम करने देने पर एकेन्द्रिय जीवराशि का प्रमाण इस एकेन्द्रिय जीवराशि जीव राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। एकेन्द्रिय-पर्याप्त जीव सबसे स्तोक हैं। बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव इनसे असंख्यात गुणे हैं। असंख्यात लोक गुणकार है। बादर-एकेन्द्रिय जीव बादर ऐकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के प्रमाण से विशेष अधिक है। जितना प्रमाण है। बादर-एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों का जितना प्रमाण है, उतने विशेष-अधिक हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त जीव बादर-अपर्याप्त जीव बादर-एकेन्द्रियों के प्रमाण से असंख्यात गुणे हैं। असंख्यात लोक गुणकार हैं। एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के प्रमाण से विशेषाधिक हैं, तन्मात्र विशेषाधिक हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के प्रमाण से संख्यात गुणों हैं। गुणकार संख्यात समय हैं। एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के प्रमाण से अधिक हैं। बादर एकेन्द्रिय-पर्याप्तकों का जितना प्रमाण हैं उतने विशेष अधिक हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय पर्याप्त के जीवों के प्रमाण से विशेष अधिक है। बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्तकों के प्रमाण से रहित सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्तकों का जितना प्रमाण है तन्मात्र विशेष अधिक है। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म- एकेन्द्रियों के प्रमाण से विशेष अधिक है। बादर-एकेन्द्रियों का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं।

अङ्क संदृष्टि :- मान लो एकेन्द्रिय जीवराशि 256 है तो सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-जीवराशि 240 है बादर-एकेन्द्रिय-जीवराशि 16, सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्त-जीवराशि 180, सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त जीवराशि 60, बादर -एकेन्द्रिय- अपर्याप्त-जीवराशि 12, बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्त-जीवराशि4, एकेन्द्रिय-अपर्याप्त जीव 72,एकेन्द्रिय-पर्याप्तक 184, माना जायेगा। यह अंक संदृष्टि केवल समझाने के लिए है परन्तु यथार्थ से यह संख्या नहीं हैं।

त्रस जीवों की संख्या का प्रमाण

असंख्यात से विभक्त प्रतरांगुल का जगत्प्रतर में भाग देने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या का प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु द्वीन्द्रियादि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा त्रीन्द्रिय- आदि उत्तर-उत्तर का प्रमाण क्रम से हीन होता गया है। इसका प्रतिभाग आवली का असंख्यातवाँ भाग है। बहुभाग के चार समान खण्ड करके एक-एक खण्ड उक्त क्रम से एक-एक राशि को देना चहिए। शेष एक भाग में से बहुभाग बहुत संख्या वाले को देना। ऐसे अन्त तक करना चाहिए। प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से जगत्प्रतर को खण्डित करनेपर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों का प्रमाण प्राप्त होता है। जो क्रम से हीन है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों जीवों के प्रमाणों में से उन-उनके पर्याप्तकों का प्रमाण कम कर देते पर शेष अपर्याप्तकों का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

प्रतरअंगुल के असंख्यातवे भाग से जगत्प्रतर को भाजित करने पर द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवों के प्रमाण से त्रीन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है और त्रीन्द्रिय जीवों के प्रमाण से चतुरिन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है। चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रमाण से पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है। इस प्रकार ये क्रम से हीन है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हैं -आवली के असंख्यातवें

भाग से प्रतर अंगुल को भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उस जगत्प्रतर को भाग देने पर त्रस राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। उसके त्रस राशि प्रमाण को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर एक भाग को पृथक् स्थापित करके, बहुभाग के चार समखण्ड करके, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन चारों को हीन अधिकता से रहित एक-एक समखण्ड देना चाहिए। पृथक् स्थापित एक भाग को पुन: आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित करके, बहुभाग को द्वीन्द्रिय जीवराशि को देना चाहिए, क्योंकि इन चारों में द्वीन्द्रिय जीव राशि का प्रमाण सबसे अधिक है। शेष एक भाग को पुन : आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित कर बहुभाग त्रीन्द्रिय जीव राशि को देना चाहिए, क्योंकि अवशिष्ट त्रीन्द्रिय आदि तीन राशियों में त्रीन्द्रिय राशि अधिक है। शेष एक भाग को पुन: आवली के असख्यातवे भाग से खण्डित कर चतुरिन्द्रिय जीवराशि को देना और शेष एक भाग पंचेन्द्रिय जीवराशि को देना चाहिए, क्योंकि पंचेन्द्रिय जीवराशि सबसे कम है। इन अपनी-अपनी देय राशियों के अपने-अपने समखण्डों में मिलने पर द्वीन्द्रिय आदि जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है।

ब्रह्माण्डीय जीवों के कुलों की संख्या

पृथ्वीकायिकों के कुल बाईस लाख कोटि होते हैं। आप्कायिकों के कुल सात लाख कोटि हैं। तेजस्कायिकों के कुल तीन लाख कोटि हैं। वायुकायिकों के कुल सात लाख कोटि हैं।

दो इन्द्रियों के कुल सात लाख कोटि हैं। त्रीन्द्रियों के कुल आठ लाख कोटि हैं। चतुरिन्द्रियों के कुल नौ लाख कोटि हैं। वनस्पतिकायिकों के कुल अट्ठाईस लाख कोटि हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में जलचरों के कुल साढेबाहर लाख कोटि हैं। पक्षियों के कुल बाहर लाख कोटि हैं। चौपायों के कुल दस लाख कोटि हैं। और जो छाती के बल रेंगकर चलने वाले सर्प आदि हैं, उनके कुल नौ लाख कोटि हैं।

देवों के कुल छब्बीस लाख कोटि हैं। नारकियों के कुल पच्चीस लाख कोटि हैं। मनुष्यों के कुल बारह लाख कोटि है। ये सब कुल यथा क्रम भव्य जीवों के द्वारा जानने योग्य हैं।

इस प्रकार कहे गये पृथ्वी कायिक से लेकर मनुष्य पर्यन्त सब प्राणियों के कुलों का जोड एक कोटा कोटि सत्तानवे लाख पचास हजार कोटि होता है।

जिन पुद्गल स्कन्धों से शरीर बनता है उनके भेद का नाम कुल है।(गो.जी.204-206) गा.113-117)

विज्ञानानुसार खगोलीय-गणित

1) सौर मण्डलीय - मात्रक

तारों भरे जिस आकाश की ओर हम देखते हैं वह हमसे बहुत-बहुत दूर है। बचपन में यह सोचकर लगता था कि कश्मीर भी तो कन्याकुमारी से दूर है। लेकिन अंतरिक्ष में नापी जानेवाली दूरियों के आगे यह दूरी कुछ भी नहीं। चूँकि अंतरिक्ष की दूरियाँ इतनी विशाल हैं, अतः खगोलशास्त्री (Astronomers) इन दूरियों को नापने के लिए विभिन्न मात्रकों (Units) का प्रयोग करते हैं। हमारे सौरमंडल (Solarsystem) जिसमें नौ ग्रह (व उनके उपग्रह)तथा सूर्य हैं उसमें दूरियों के मात्रक को खगोलीय मात्रक (Astronomical unit)AU) कहते हैं। पृथ्वी से सूर्य की दूरी एक खगोलीय मात्रक के बराबर है।यह दूरी कितने किलोमीटर के बराबर है ? $1Au=1.49x10^8$ किलोमीटर (जहाँ $10^8=100000000$) यानि लगभग 150मिलियन किलोमीटर। वह दूरी इतनी अधिक है कि सूर्य के प्रकाश (जिसका वेग $3x10^5$ किलोमीटर/सेकेंड है) को पृथ्वी तक पहुँचने में आठ मिनट से अधिक लगते है। सो कैसे ? यदि कोइ राजधानी एक्सप्रेस (जिसका वेग 150 किलोमीटर प्रतिघंटा होताहै) से सूर्य तक पहुँचना चाहे तो उसे 115 वर्ष लग जाएँगे। सो कैसे ?

दूरी = वेग x समय

इसलिए समय = दूरी/वेग = 1.496×10^8 किलोमीटर / 150 किलोमीटर/प्रतिघंटा

= लगभग 9, 97, 333 घंटे = 41, 556 दिन = 115 वर्ष

यही है सुर्य की पृथ्वी से दूरी।

2) खगोलीय-मात्रक

अंतरिक्ष में हमारे सबसे पास का तारा सूर्य है। रात्रि में जो तारे आकाश में दिखते हैं वे सूर्य से कहीं अधिक दूर है। इतनी लंबी दूरियों के लिए खगोलशास्त्री एक अन्य मात्रक का प्रयोग करते हैं, जिसे प्रकाशवर्ष (Light year) कहते हैं। एक वर्ष में प्रकाश का एक पुंज जितनी दूरी तय करता है उसे प्रकाशवर्ष कहते हैं। आइए, हम गणना करके देखें कि यह दूरी कितने किलोमीटर के बराबर होती है।

एक प्रकाशवर्ष = (प्रकाश का वेग) x (1 वर्ष)

$(3 \times 10^5$ किलोमीटर प्रतिसेकेंड) x (365x24x60x60) सेकेंड

$9.46x10^{12}$ किलोमीटर=94 खरब, 60 अरब, 73करोड 472580 k.m.

यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि (सूर्य के अलावा) आकाश में दिखने वाला

हमारे निकटवर्ती तारा पृथ्वी से लगभग 4.3 प्रकाशवर्ष दूर है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस तारे से आनेवाले प्रकाश को हम तक पहुँचने में 4.3 वर्ष लगते हैं। (इसकि तुलना में सूर्य को हम तक पहुँचने में मात्र आठ मिनट लगते हैं)। रात में जब हम तारों को देखते हैं तो क्या कभी यह सोचते हैं कि हम तारे को उसकी वर्तमान अवस्था में नहीं देख रहे ? तारा जैसा हमें दिख रहा है वह उस अवस्था में बहुत वर्षों पहले था। एक उदारहण से यह बात अधिक स्पष्ट होगी -मान लीजिये, हम पृथ्वी पर खडे हैं और हमारा एक मित्र ऐसे तारे पर खडा है जो हमसे पचास प्रकाशवर्ष दूर है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें हमारे मित्र को देखने के लिए पचास वर्ष लगेंगे। और जब मित्र को हमारी पहली झलक मिलेगी तो वह हमें बाल्यावस्था में ही पायेगा, जबकि वास्तविकता में हम बूढे हो चुके होंगे। यह उदारहण मात्र काल्पनिक ही है, क्योंकि मनुष्य के लिए पचास प्रकाशवर्ष दूर की यात्रा करना अभी संभव नहीं है।

आकाश के सबसे चमकीले तारे हमसे बहुत-बहुत दूर हैं। इनमें कुछ तारे तो पृथ्वी से हजारों प्रकाशवर्ष की दूरी पर हैं।

3) तारों की दूरी का माप

वास्तव में तारे जलते विशाल अंगारे हैं जो हमारे वायुमण्डल से करोड़ों मील ऊपर हैं। वास्तविक दूरी का पता लगाने के लिए अनेक विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। इनमें एक है लंबन कोंण (Para-llax angle) ज्ञात करना। यह कोंण अति लघु (सेकेंडो में) होता हैं। -

1"(सेकेंड) =1/3600 अंश।

इस 1सेकेंड का लंबन तारे की वह दूरी है जो एक पार्सेक (Pc) के तुल्य है।इस तारे की दूरी (पार्सेक में) =1/ लंबन। जो तारा जितना ही दूर होगा उसका लंबन कोंण उतना ही कम होगा।

निकटतम् तारा ऐल्फा सेंटौरी का लंबन कोंण 0.76'' है। अतः पृथ्वी से इसकी दूरी 1.3 पार्सेक होगी, जो 4.3 प्रकाशवर्ष (लगभग 25 ट्रिलियन मील)है। दूसरी विधि है तारों के प्रकाश - स्पेक्ट्रम का अध्ययन। तारों से सभी रंगों का प्रकाश उत्सर्जित होता है। सर्वप्रथम जिस पहले तारे के स्पेक्ट्रम का अध्ययन किया गया वह सूर्य था। गरम तारे तथा शीतल तारे के स्पेक्ट्रमों में भिन्नता रहती है। गरम तारों को 'o' प्रकार तथा शीतल तारों को 'm'प्रकार का बतलाया गया है। अंतरिक्ष में तारों का एक वेग होता है जो कई मील प्रतिसेकेंड है।

भोगौलीक एवं ब्रह्माण्डीय गति तथा काल -

यदि कोई व्यक्ति अंतरिक्ष यान पर सवार होकर बाह्य अंतरिक्ष की यात्रा प्रकाश के तुल्य वेग से करे और फिर पृथ्वी पर लौटे तो वह देखेगा कि पृथ्वी पर स्थित उसका समवयस्क साथी उसकी अपेक्षा अधिक वृद्ध हो चुका है। इसका कारण आईस्टाइन के 'सापेक्षवाद' से बताया जा सकता है अतंरिक्षयान मंद गति से चल रही पृथ्वी की तुलना में तेजी से गति करता हैं । इसलिए अंतरिक्ष यान में समय मंद गति से बीतेगा। काल के बीतने में यह विसंगति ' काल विस्तारण' (Time dilution) कहलाती है।

'श्री मद्भागवत्' में राजा ककुद्मी का वृत्तांत मिलता है। ' एक बार ककुद्मी अपनी पुत्री रेवती को लेकर ब्रह्मलोक गए। ब्रह्माजी गंधर्वों की संगीत सभा में व्यस्त थें । बाद में ब्रह्मा से मिले तो ब्रह्मा ने हँसकर कहा, 'राजन, आपने जिन राजाओं को अपनी पुत्री के लिए पति रूप में चुनने का विचार किया है वे तो काल प्रभाव से दिवंगत हो चुके। इस समय सत्ताईस चतुर्युग बीत चुके हैं। अब उनके नाती-परनाती भी नहीं हैं।' एक चतुर्युग 43,20,000 वर्ष का बताया गया है। इस हिसाब से पृथ्वी के बहुत वर्ष बीत चुके थे।

इसी तरह का प्रसंग ब्रह्म-विमोहन लीला का है। ब्रह्मा ने कृष्ण के साथियों तथा बछडों को एक वर्ष के लिए चूरा लिया था किन्तु जब ब्रह्मा लौटे तो कृष्ण वहाँ पर मित्रों तथा बछडों के साथ खेल रहे थे। ब्रह्मा के अनुसार वे एक क्षण (त्रुटि) बाद ही लौटे थे, यह देखने कि कृष्ण क्या कर रहे हैं। इस तरह पृथ्वी का एक वर्ष ब्रह्मा के एक क्षण का 1/ 33750 बताया जाता है।

इसी तरह वर्तमान काल में यदि कोई 'कृष्ण विवर' में पहुँच जाए तो उसका एक क्षण पृथ्वी के दर्शक को लाखों वर्ष का लगेगा और वह मर चुका होगा। (अन्तरिक्ष की रोचक बाते)

जैन सिद्धान्त की श्रेष्ठता

जैन धर्म में वर्णित अनेकान्त सिद्धान्त एवं स्वाद्वाद, महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन के सापेक्ष सिद्धान्त में भी अधिक व्यापक एवं पूर्ण है; भौतिक विज्ञान एवं अणु सिद्धान्त, आधुनिक विज्ञान से भी अधिक सूक्ष्म व्यापक एवं पूर्णता को लिए हुए हैं, वैज्ञानिक डार्विन के जीव विज्ञान से भी श्रेष्ठ भ्रान्ति रहित जीव विज्ञान, जीव समास, मार्गणास्थान है। मनौविज्ञान फ्रायड के मनोविश्लेषण से भी अधिक सूक्ष्म परिपूर्ण भ्रान्ति रहित लेश्या मनोविज्ञान, कषाय विश्लेषण, संज्ञा प्रकरण है। आधुनिक खगोल से भी व्यापक लोक आलोक का वर्णन है

अध्याय-7

विश्व के प्रत्येक जीवों के प्रति योग्य-भाव एवं व्यवहार से मुक्ति तथा विश्व-शान्ति संभव

विश्व, काल, जीव, पुद्गल (भौतिक वस्तु) अनन्त होने के कारण प्रत्येक जीव भी अनन्त काल से पंचपरिवर्तन रूपी संसार में चारों गति, 84 लाख योनियों में अनन्त बार जन्म मरण को प्राप्त किया है। अतएव प्रायः संसार के प्रत्येक जीव अनन्त भवों में परस्पर माता-पिता, भाई-बन्धु आदि रूप बने हैं। इस शृंखला में तीन लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश में भी जन्म-मरण को प्राप्त किया है। इन सब प्रक्रिया में विश्व की समस्त भौतिक-वस्तुओं को भोजन, पेय औषधि, वस्त्र, आवास, शरीर, श्वाश्वोच्छ्वास, भोगोपभोग के उपकरण आदि रूप में ग्रहण करके त्यागा भी है। इसलिए विश्व के अनन्त जीव, भौतिक वस्तु, आकाश प्रदेश(लोकाकाश के) एवं अनन्त भूतकाल के साथ प्रत्येक जीव का सम्बन्ध है । इस दृष्टि से केवल **''वसुधैव कुटुम्ब ''ही नहीं है परन्तु ''विश्व कुटुम्ब ''**भी है। अतएव परिवार, जाति, राष्ट्र, पंथ-मत, राजनीति, पृथ्वी आदि की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर केवल विश्व मानव के लिए अच्छे भाव एवं व्यवहार ही विधेय नहीं है परन्तु विश्व के जीव जगत् के लिए भी अच्छे भाव एवं व्यवहार विधेय है। यथा-

''सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित् दुःख माप्नुयात् ॥''

सम्पूर्ण जीव जगत् सुखी, निरोगी, भद्र, विनयी सदाचारी रहें । कोई भी कभी भी थोडे से भी दुःख को प्राप्त न करें।

शिवमस्तु सर्वजगतः
परहित निरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषा प्रयान्तु नाशं,
सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥

सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो, जीव समूह परहित में निरत रहें, सम्पूर्ण दोष विनाश को प्राप्त हो जावें, लोक में सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्रकार से सुखी रहें।

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोद ।
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ ।
सदा ममात्मा विदधातु देव ।।1 भावना द्वात्रिंशातिका

हे भगवान् ! मेरा प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री भाव रहे, गुणीजनों में प्रमोद भाव रहे, दुःखीजनों के लिए करुणा भाव रहे, दुर्जनों के प्रति मेरा माध्यस्थ भाव (साम्यभाव) रहे।

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषां , मति मैत्री निगद्यते ।।

कोई भी पाप कार्य को न करें, कोई भी दुःखी न रहे, जगत् दुःख, कष्ट वैरत्व से रहित हो जावे इसी प्रकार भी भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

कायेन, मनसा वाचा सर्वेष्वपि च देहिषु ।
अदुःख जननी वृत्ति मैत्री, मैत्रीविदां मता ।।

काय, मन, वचन से सम्पूर्ण जीवों के प्रति ऐसा व्यवहार करना जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे इसी प्रकार के व्यवहार को मैत्री व्यवहार कहते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने भी विश्व कल्याण के लिए जो भावना के सूत्र दिये हैं वे निम्न प्रकार हैं-

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः ।
काले-काले च सम्यक् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशं ।
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यं प्रदायि (15)(शांति भक्ति)

सम्पूर्ण प्रजा क्षेम, कुशल होवें, धार्मिक राजा (नेता) शक्ति सम्पन्न होवें, समय-समय पर इन्द्रदेव (बादल) सुवृष्टि करें, रोग नाश को प्राप्त होवें, दुर्भिक्ष, चोरी, डकैती, आतंकवाद, दुःख, कलह, अशान्ति एक क्षण के लिए भी इस जीव जगत् में न रहें। सब जीवों को सुख प्रदान करने वाले जिनेन्द्र भगवान का धर्मचक्र (क्षमा, अहिंसा, दया, सत्य, मैत्री, संगठन आदि) सतत प्रवर्तमान रहे। उपनिषद् में भी किसी जीव के प्रति घृणा न करके प्रेम करने के लिए कहा गया है:-

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न विजुगुप्सते ।।

जो अन्तर्निरीक्षण के द्वारा सब भूतों (प्राणियों) को अपनी आत्मा में ही देखता है, और अपनी आत्मा को सब भूतों में, वह फिर किसी से घृणा नहीं करता है।

अयं निजःपरो वेत्ति भावना लघुचेतसाम् ।

उदार पुरूषाणां तु वसुधैव स्व-कुटुम्बकम् ।।

क्षुद्र, संकुचित भावना युक्त व्यक्ति में अपना-पराया का निकृष्ट भेद-भाव रहता है, परन्तु उदारमना सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानता है, जिससे विश्व के प्रत्येक जीव को अपने परिवार का एक सदस्य मानकर सबके साथ प्रेम, मैत्री, उदारता, समता का व्यवहार करता है। इसको ही विश्व बन्धुत्व, सर्वात्मानुभूत कहते हैं। यह है धर्म का सार, अहिंसा का आधार, विश्व शान्ति का अमोघ उपाय। जैन आचार्य ने कहा भी है-

जीव जिणवर से मुणहि जिणवर जीव मुणहि ।
ते समभाव परट्ठिया लहु णिव्वाणं लहइ ।।

जो जीव को जिनवर एवं जिनवर को जीव मानता है, वह परम साम्य भाव में स्थित होकर अतिशीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त करता है। यह है सर्वोत्कृष्ट, साम्यवाद, गणतन्त्रवाद, समाजवाद, लोकतन्त्रवाद ।

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुध्दिमद्भिर्महात्माभिः ।।
महाभारत अनुशासन पर्व 275/19

जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली हैं, उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझे ।

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ।। सुत्त निपात 3-3-27

जैसे मैं हूँ वैसे ये हैं तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूँ- इस प्रकार आत्म सदृश्य मानकर न किसी का घात करें न करायें ।

सव्वे तसन्ति दण्डस्य, सव्वेसिं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।। (धम्मपद 10/1)

सब लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारें और न किसी को मारने की प्रेरणा करें ।

यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जापते ।
मित्तं सो सव्वभूतेसु वेरं तस्स न केनचीति ।(इतिबुत्तक, पृ 20)

जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों को जितवाता है, वह सर्व प्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् । मनुस्मृति

जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिये कभी मत करो ।

'आत्मवत्परत्र कुशल वृत्ति चिन्तनं शक्तिस्त्याग तपसी च धर्माधिगमोपाया :।' (नीतिवाक्यामृत)

अपने ही समान दूसरे प्राणियों का हित (कल्याण)-चिंतवन करना, शक्ति के अनुसार पात्रों को दान देना और तपश्चरण करना ये धर्म प्राप्ति के उपाय हैं।

'सर्व सत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ' (5)

समस्त प्राणियों में समता भाव रखना अर्थात् उनकी रक्षा करना सभी सत्कर्त्तव्यों में सर्वोत्तम कर्तव्य है ।

1) *सत्वेषु-मैत्री*

उपर्युक्त धार्मिक दृष्टि कोणों के साथ-साथ ही मानव पारिवारिक, सामाजिक, वैवाहिक, शैक्षणिक, जीवन यापन आदि की दृष्टि से भी परस्पर अनुपूरक-परिपूरक, अन्तः सम्बन्धित, सहयोगी, निर्भरशील, उपकृत, उपकारी है। माता-पितादि बडों से प्यार, सुरक्षा, संस्कार, छोटों से सम्मान, सेवा, गुरु से शिक्षा, शिष्यों से सेवा, सम्मान, सन्तान से सम्मान, सेवा, सुरक्षा आदि प्राप्त होता है। अडोसी-पडोसी से भी मित्रता, सहयोग निर्भयता आदि प्राप्त होते हैं। कृषक से अन्न, ग्वाला से दूध, कुम्भकार से मिट्टी के बर्तन, सुथार से लकडी के उपकरण आदि प्राप्त करते हैं तो वैज्ञानिकों से शोधपूर्ण ज्ञान, चिन्तकों से चिन्तन, लेखकों से साहित्य-लेख, क्रान्तिकारी से नई चेतना, साधु-सन्त व गुरु-धर्म प्रचारकों से आध्यात्मिक ज्ञान, मार्गदर्शन, शुभाशीर्वाद प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं वनस्पति से अन्न, फल, औषधि, फूल, कपास, लकडी छाया, प्राणवायु, पर्यावरण की सुरक्षा आदि प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य प्राणी जगत् भी परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से परस्पर सहयोगी/उपकारी के साथ-साथ मानव के भी उपकारी हैं। इसे वैज्ञानिक दृष्टि से पारिस्थितिकी, पर्यावरण सुरक्षा, पर्यावरण सन्तुलन कहा जाता है। विज्ञान के अनुसार एक जीव की प्रजाति नष्ट होने पर उससे सम्बन्धित अन्यान्य प्रकार की 32 प्रजातियाँ नष्ठ हो जाती हैं। इसलिए महावीर भगवान् ने उपर्युक्त समस्त विषयों को गर्भित करके विश्व को एक महान् सूत्रात्मक दिव्य संदेश दिया''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' अर्थात् परस्पर उपकार करना जीवों का धर्म है। **''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' ''सत्वेषु मैत्री''** सूत्र में विश्व मैत्री, विश्व बन्धुत्व, विश्व शान्ति, सहअस्तित्व, परम साम्यावाद, विश्व मानवधिकार-मानव कर्तव्य के साथ-साथ विश्व-जीव अधिकार एवं कर्तव्य आदि भी गर्भित हैं।

परन्तु आश्चर्य जनक दुःखद कटुतम सत्य यह है कि मानव केवल मानवेतर

जीव-जन्तु से क्रूर, अयोग्य, निन्दनीय, पापात्मक भाव एवं व्यवहार नहीं करता है अपितु स्वयं से या स्वयं के परिवार, जाति, पंथ, मत, भाषा, राष्ट्र, से भिन्न अन्य मानवों से भी उपर्युक्त अयोग्य भाव एवं व्यवहार करता है। ''**सत्वेषु मैत्री**'' की दृष्टि से विश्व के प्रत्येक जीव यदि मित्र हैं तो फिर जो मानव अपनी जाति, पंथ-मत-परम्परा, राजनीति आदि से भिन्न हैं वे क्या मित्र नहीं है? अत्यन्त आश्चर्य जनक अविश्वनीय परन्तु सत्य में से एक सत्य यह भी है कि धर्म जैसे पवित्र क्षेत्र में भी अन्य भिन्न धर्मावलम्बिओं के साथ-साथ अपने धर्म के भी अन्य मतावलम्बिओं से भी ''धर्म वात्सल्य'' से विपरीत ईर्ष्या-द्वेष, भेद-भाव, घृणा आदि भाव एवं व्यवहार करके स्वयं को सच्चा, श्रेष्ठ धार्मिक मानते हैं, जताते हैं, बताते हैं। यह दुष्प्रवृत्ति देश-विदेश में प्राचीन काल से लेकर अभी तक हर धर्मावलम्बिओं में न्यूनाधिक पाई जाती है।

2) *गुणेषु प्रमोद*

'' **गुणी सर्वत्र पूज्यते न च वय न च वित्तम्** '' अर्थात् गुणी ही सर्वत्र पूजनीय है, न कि सत्ता, सम्पत्ति, प्रसिद्धि, आयु, बल, सुन्दरता, कुल, जाति आदि। क्योंकि गुण के कारण ही जीव सर्वत्र सुखी बनता है। और दूसरों को भी गुणी बनने के लिए उदाहरण बनता है। '' **नमो गुरूभ्यो गुणगुरुभ्यो**'' के अनुसार गुणों से भारी (युक्त) मानव ही गुरु है और गुरु नमनीय, पूजनीय, श्रद्धापद, अनुकरणीय है। '' **वन्दे तद्गुण लब्धये**'' के अनुसार गुणों की उपलब्धि के लिए वन्दना की जाती है। जिस प्रकार की प्रज्ज्वलित दीपक की उपासना/संयोग से बुझा हुआ दीपक प्रज्ज्वलित होता और चुम्बक के घर्षण से लोहा चुम्बक बनता है। उसी प्रकार गुणीजन के प्रति जो प्रमोद, सम्मान, सद्-भाव आदि रखते हैं वे भी गुणी बनते हैं। पूजा, प्रार्थना, आरती, तीर्थयात्रा, जप, भजन आदि ''गुणेषु प्रमोदं '' की शाखा-प्रशाखायें हैं। इस पूजादि के लिए धर्मस्थल, तीर्थ, मन्दिर, मूर्ति, चर्च, मस्जिद, गुरुद्वार, प्रतिष्ठा, यज्ञ, विधि-विधान आदि का सृजन हैं। एतदर्थ मानव धन, समय, साधन, शरीर, श्रम का विनियोग करता है।

उपर्युक्त उज्ज्वल पक्ष के समानन्तर घनान्धकार भी पाया जाता है। अधिकांश व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए या छोटे या खोटे भावों से दुर्गुणी के पक्षधर, प्रशंसक, अनुयायी बनते हैं परन्तु गुणी से केवल दूरी बनाकर नहीं रहते या तटस्थ नहीं रहते हैं किन्तु उन से भी घृणा, विद्वेष आदि से लेकर उनकी निन्दा से लेकर हत्या तक कर देते हैं। जैसा कि भगवान् पार्श्वनाथ, भ. महावीर, ईसा मसीह, सुकरात मीरा बाई के साथ हुआ है और अभी भी ऐसा न्यूनाधिक रूप से होता रहता है। धर्म जैसे पवित्र क्षेत्र में भी जो स्व-मत-पंथ-अभिप्राय या स्वार्थानुकूल नहीं होते हैं ऐसे गुणी से भी उपर्युक्त भाव-दुर्व्यवहार होते रहते हैं। और भी कहा है -

अगुणी गुणी न वेत्ती गुणी गुणीषु च मत्सरा।
गुणी च गुणीषु रागी च दुर्लभा सुजन नराः ।।

अगुणी गुणी को समझ नहीं पाता है, गुणी गुणी से मत्सर भाव रखता है परन्तु जो गुणी होकर भी अन्य गुणीजन से स्नेह करता है ऐसा सज्जन दुर्लभ है। मत्सर भाव से गुणी भी दुषित हो जाता है।

3) *क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्*

जो शारीरिक, मानसिक, आर्थिक सामाजिक आदि किसी भी कारणों से दुःखी हैं, पीडित हैं, असहाय हैं उनके प्रति कृपा करके सुरक्षा, सहायता आदि करनी चाहिए। जैसा कि पार्श्वनाथ भगवान् ने बाल्यकाल में जलते हुए नाग-नागिनी को णमोकार मंत्र सुनाकर, जीवन्धर राजकुमार ने घायल कुत्ते को णमोकार मंत्र सुनाकर, महात्मा बुद्ध ने घायल हंस की सेवा-सुरक्षा करके, ईसा-मसीह ने रोगीयों के रोग दूर करके, नाईटेंगल, नेताजी सुभाष, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, मदर टेरेसा, बाबा आप्टे ने रोगी-असाहाय-गरीबों की सेवा सहायता करके, साधु-संत-सज्जन-समाज सुधारकों ने धर्मोपदेश-मार्गदर्शन से, कार्ल मार्क्स ने किसान-मजदूरों को अधिकार दिलाकर, अब्राहिम लिंकन ने दास प्रथा को दूर करके, राजा-राममोहनराय ने सती प्रथा-बाल विवाह दूर करके, देश-विदेश के स्वतंत्रता-समानता क्रान्तिकारी वीरों ने स्वतंत्रता, समानता के लिए प्रबल पुरूषार्थ करके, आधुनिक वैज्ञानिक-पर्यावरण रक्षक-पशु प्रेमी-पशु क्रू रता निवारक-पशु-पक्षी-रक्षक वनस्पति से लेकर पशु-पक्षी की सुरक्षा-समृद्धि के लिए कर रहे हैं। यह सब प्रायोगिक जीवन्त धर्म है, सकारात्मक-प्रायोगिक अहिंसा तथा पुण्य है। **''मुहं में प्रभुनाम बगल में छूरी'' ''जिन्दा बाप से लट्ठम् लट्ठा मरे हुए को पहूँचावे गंगा''** के समान जो सत्ता, सम्पत्ति शक्ति आदि से सम्पन्न है, स्व-स्वार्थ सिद्धि के लिए सेवा, सहयोग, व्यवस्था आदि तो अधिकांश लोग करते हैं परन्तु दीन, दुःखी, गरीब, दुर्बल आदि का शोषण करते हैं। जैसा कि पहले दास, बन्धुआ मजदूर आदि के साथ व्यवहार होता था अभी भी वैसा ही न्यूनाधिक व्यवहारदीन, दुःखी, गरीब, असहाय कृषक, मजदूर, भोले-भाले-सच्चे परन्तु निरक्षरी या सत्ता-सम्पत्ति आदि से रहित व्यक्ति से होता है। इसी प्रकार गोवंश, पशु, पक्षी, मछली आदि के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार कुछ व्यक्ति धर्म के नाम पर बलि चढाकर तो कुछ व्यक्ति धन के लिए तो कुछ शौक के लिए, कुछ सौन्दर्य प्रसाधन-सामग्रिओं के लिए तो सरकार कानून बनाकर लाखों-करोडों की हत्या करवाती है। उपर्युक्त पद्धत्ति से मनुष्य जितने पशु-पक्षी-मछली आदि की हत्या करता है उसके लाखवें-करोडवें भाग भी हत्या जिसे मनुष्य क्रूर कहता है ऐसे मांस भक्षी पशु-पक्षी-मछली भी नहीं करते हैं।

ब्रह्माण्ड में मनुष्य श्रेष्ठ होने के कारण मनुष्य का कर्तव्य है कि ऐसे दीन-दुःखी, दुर्बल, असहाय मानव से लेकर पशु-पक्षी, मछली आदि की सुरक्षा करे।

4) *माध्यस्थ भावं विपरीत वृतौ*

अनन्त जीव अनन्त काल से अनन्त भवों के संक्रमण, कर्म, भाव, संस्कार के कारण अलग-अलग प्रकृति, प्रवृति से युक्त होते हैं। इसलिए प्रत्येक जीव के भाव एवं व्यवहार अलग-अलग होने से सब के भाव एवं व्यवहार परस्पर समान ही हो ऐसा संभव नहीं है। ऐसी अवस्था में दूसरों के भाव - व्यवहार अनुकूल नहीं होने पर भी समता (साम्य, माध्यस्थ, तटस्थ, स्थित प्रज्ञ)होने से स्वयं को संक्लेश (तनाव, राग द्वेष, ईर्ष्या-मात्सर्य, चिन्ता, क्लेश) नहीं होता है जिससे पाप कर्म बन्ध नहीं होता है, शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोग नहीं होता है, वाद-विवाद (लडाई-झगडा से लेकर युद्ध, हत्या आदि नहीं होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है-

णाणा जीव णाणा कम्मं णाणा विह हवे लद्धि।
तेण वयण विवाद सगपर समयम्मि बज्जिदो ।।

अर्थात् नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं, नाना विध उपलब्धियाँ हैं (भाव- व्यवहारादि)। अतः साधर्मीजनों से या विधर्मी/अन्य धर्मी जनों से भी वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। और भी पूर्वाचार्यों ने कहा है-

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरेवा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।
लाभालाभे सुहे दुःखे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणाओ ।।
जीवियमरणे लाहालाहे संयोगे विप्पयोगेय ।
बन्धुअरिसुहदुक्खादो, समदा सामायिय णामं ।।

उपर्युक्त तीनों श्लोक एवं गाथाओं का भावार्थ यह है कि कोई निन्दा करे या स्तुति, लक्ष्मी आवे या जावे, मृत्यु अभी आवे या युगान्तर में आवे तथापि धीर पुरुष, समता धारी अपने न्यायपथ से विचलीत नहीं होते हैं। इसी प्रकार लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा प्रशंसा, मान-अपमान, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र में समता में रहना सामायिक है। तीर्थंकर मुनि अवस्था में समस्त ऋद्धि सम्पन्न होते हुए भी एवं केवली अवस्था में अनन्त शक्ति, ज्ञानादि गुणों से युक्त होने के साथ-साथ असंख्यात देव, राजा,

महाराजा, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, मानव, पशु-पक्षी भक्त सहित होते हुए भीउन्हें नहीं मानने वालों से, निन्दा, विरोध, कष्ट देने वालों से भी साम्यभाव रखते हैं। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध, ऋषि, मुनि, ईसा मसीह, सुकरात, मीराबाई, महात्मागाँधी आदि ने भी यथायोग्य माध्यस्थ भाव रखा है। जैन तीर्थंकरों ने साम्यभाव को परम धर्म, परम चारित्र, परम अहिंसा कहा है। **समता में रत्नत्रय, अहिंसादि 5 व्रत, क्षमादि 10 धर्म, अनशनादि 12 तप, 22 परिषह जय आदि सर्व गर्भित है**। जिस प्रकार तुला यंत्र के दोनों पलडे सरलता से ऊपर-नीचे होते रहते हैं परन्तु सन्तुलित रहना सरल कार्य नहीं है उसी प्रकार अन्यान्य भाव, व्रत, व्यवहार से भी समता भाव एवं समता पूर्ण व्यवहार करना कठिन है। उपवास, तप, दान, दया, त्याग, स्वाध्याय, पूजा, पाठ, प्रवचन, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, शारीरिक श्रम, बौद्धिक-शारीरिक-चमत्कार, मंत्र साधना, दुस्साहसपूर्ण कार्य करना, हिंसक पशु, विषाक्त सर्पादि को वश में करना आदि से भी समता में रहना अधिक कठिन कार्य है, क्योंकि समता में रहने के लिए इन्द्रिय, मन, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, आकर्षण-विकर्षण आदि के ऊपर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। इसलिए सामान्य प्राणी, स्वर्ग के देव, मानव, विद्वान्, राजा-महाराजा आदि की बात तो जाने दो सामान्य धार्मिक व्यक्ति से लेकर साधक ऋषि-मुनि भी समता में अटल रहने में असमर्थ होते हैं। इस की परम अवस्था (समता, आत्मा में स्थिरता, लीनता आत्मा में रमण शुक्लध्यान, अभेद रत्नत्रय, परम समाधि)को प्राप्त करने के लिए तीर्थंकर जैसे महान् आध्यात्मिक साधकों को भी अनेक दिनों से लेकर हजारों- लाखों वर्ष लगते हैं। परम साम्यावस्था ही परम-स्वंतत्रता/ मोक्ष/ निर्वाण/ स्व-निर्माण है और समस्त धार्मिक क्रिया-काण्ड से लेकर व्रत, ध्यान आदि समता की साधना के लिए हैं। तथापि ऐसी महामहिमा शालीनी समता का भाव एवं व्यवहार का बहिष्कार सामान्य व्यक्ति से लेकर अधिकांश तथाकथित महामहिम धार्मिक जन भी करते हैं । जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कर्ता भगवान् (अल्ला, God, ईश्वर)को मानते हैं और ब्रह्माण्ड के हर तत्त्व एवं जीव में ईश्वर का निवास या ईश्वर-अंश अथवा ईश्वरमय ही मानते हैं वे भी दूसरे जीवों को कष्ट देते हैं, ईश्वर के लिए बलि चढाते हैं। क्या ईश्वर के लिए ईश्वर के बलिदान से ईश्वर सन्तुष्ट होगा ? जब सब ईश्वर के हैं या ईश्वरमय हैं तो उन्हें ही उनका बलिदान करके समर्पण करने का औचित्य क्या है? इससे वे क्यों और कैसे प्रसन्न होंगे? वे अपने को या अपने अंश या अपनी सन्तान को बलि रूप में क्यों चाहते हैं? यदि चाहिए तो क्या अपनी शक्ति से प्राप्त करनें के लिए असमर्थ हैं? या उन्हें मालुम नहीं पडता है कि मुझे किसको प्राप्त करना है।अकर्तावादी के अनुसार प्रत्येक जीव ही आध्यात्म-साधना के बल पर क्रमशः परम विकसित होकर भगवान् बन जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक

जीव में शक्ति रूप में गुप्त रूप में भगवान विद्यमान है तब तो किसी भी जीव के प्रति दुश्चिन्तन, दुर्व्यवहार करना भी भगवान् के प्रति दुश्चिन्तन दुर्व्यवहार है। ऐसे अकर्तावादी भी थोडे से मत, पंथ, परम्परा की भिन्नता के कारण या स्वार्थ, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि के कारण साधर्मीजनों से भी खोटे एवं छोटे व्यवहार करते हैं ।

5) ***भौतिक वस्तु से अनासक्त*** = संसारी जीव भौतिक शरीर से युक्त होने से शरीर की स्वस्थता, कार्यक्षमता के लिए भोजन, पानी, औषधि आदि की आावश्यकता होती है। इस आवश्यकता की समुचित आपूर्ति एवं व्यवस्था तो अपरिहार्य है परन्तु आसक्ति या अति संग्रह करना अनेक अनर्थ के जनक हैं। क्योंकि आसक्ति या अति संग्रह के लिये अन्याय, अत्याचार, शोषण, भ्रष्टाचार, चोरी, डकैति, युद्ध, हत्या आदि में से कुछ पाप या सम्पूर्ण पाप करने पड़ते हैं। इनसे कर्म बन्ध होता है जो कि पंचपरिवर्तन रूपी संसार में विविध दुःखों के लिये मूल कारण है। इसके साथ-साथ अनन्त परिवर्तनों में विश्व के प्रत्येक भौतिक वस्तु को प्रत्येक जीव ग्रहण करके त्याग भी किया है । इसलिये कोई भी वस्तु अपूर्व या अभोग्य पूर्व नहीं है। यथा-

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा।।30 (इष्टोपदेश)

मोह से अविद्या के वश से अनादिकाल से कर्मादि भाव को प्राप्त किये हुए मैंने संसारावस्था में समस्त पुद्गलों को पुनःपुनः ग्रहण करके, अनुभव करने पश्चात् नीरस करके उसे उच्छिष्ट के समान (झूठन) त्याग कर दिया। जिस प्रकार भोजन, गंध, मालादि को स्वयं भोग करके सेवन करके त्याग करने के बाद उसे पुनःस्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार मैं अभी विज्ञ होकर तत्वज्ञान में परिणत होकर किस प्रकार सांसारिक पौद्गलिक द्रव्य में स्पृहा करुँगा? अर्थात् उसकी कामना करुँगा ? अर्थात् किसी भी प्रकार से मैं सांसारिक पुद्गल आदि जनित वस्तु में अभिलाषा नहीं करुँगा। हे वत्स ! जब तू मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्व की ही भावना भानी चाहिए।

समीक्षा:- यह जीव अनादिकाल से द्रव्यादि पंच परिवर्तन रूपी संसार में भ्रमण करता हुआ विश्व के समस्त पुद्गलों को अनंत बार भोजन, पानी, वस्त्र, भोगोपभोग की वस्तु, वायु, शरीर, वचन, मन, कर्मादि रूप से ग्रहण किया है और त्याग किया है। इसी प्रकार क्षेत्र (आक ाश-प्रदेश) काल (उत्सर्पणी-अवसर्पणी काल) भव (नरकादिभव)भाव (विभिन्न संकल्प -विकल्प) को भी प्राप्त किया और त्यागा है । इसलिए शरीरादि वस्तु कोई अभूतपूर्व नहीं है। कहा भी है -

संसारो पंच -विहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य ।
भव -भमणो य चउत्थो पंचमओ भाव -संसारो ॥

संसार पाँच प्रकार का होता है -द्रव्य संसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार, और भावसंसार।

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्म -पुग्गला विविहा ।
णोकम्म -पुग्गला वि य मिच्छत्त -कसाय -संजुत्तो ॥

मिथ्यात्व और कषाय से युक्त संसारी जीव प्रतिसमय अनेक प्रकार के कर्म पुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को भी ग्रहण करता और छोड़ता
है। कर्मबन्ध के पाँच कारण हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान हैं, क्योंकि ये मोहनीय कर्म के भेद हैं और सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान और बलवान् है । उसके अभाव में शेष सभी कर्म केवल निस्तेज ही नहीं हो जाते किन्तु संसार परिभ्रमण का चक्र दुर्बल हो जाता है । इसीलिए आचार्य ने मिथ्यात्व और कषाय को ही ग्रहण किया है । मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं और कषाय के पच्चीस भेद हैं। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है । लोक में सर्वत्र कार्माणवर्गणाएँ भरी हुई, उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है तथा आयुकर्म सर्वदा नहीं बँधता। अतःसात ही कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है और आबाधाकाल पूरा हो जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ देता है । **जैसे प्रतिसमय कर्मरूप होने के योग्य पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता है वैसे ही औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीनों शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गलों को भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है । इस प्रकार जीव प्रति समय कर्मपुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को भी ग्रहण करता है और छोडता हैं**। इस प्रकार जीव प्रति समय कर्म पुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करता और छोडता हैं। किसी विवक्षित समय में एक जीव ने ज्ञानावरणादि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्ध ग्रहण किए और आबाधाकाल बीत जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अगृहीत का ग्रहण करके अनन्त बार मिश्र का ग्रहण करके और अनेक बार गृहीत को गृहण करके छोड़ दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि भावों को लेकर, उसी जीव के वैसे ही परिणामों से पुनः कर्मरूप होते हैं उसे कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इसी तरह किसी विवक्षित समय में एक जीव ने तीन शरीरों की छहः पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गल ग्रहण किए और भोगकर छोड़ दिए, पूर्वोक्त क्रम के अनुसार जब वे ही नोकर्मपुद्गल

उसी रूप रस आदि को लेकर उसी जीव के द्वारा पुनः नोकर्मद्रव्य परिवर्तन को द्रव्य परिवर्तन या द्रव्य संसार कहते हैं। कहा भी है -

सर्वेपि पुद्गलाः खल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन ।
ह्यासकृद्वानन्तकृत्वः पुद्गलपरिवर्तन संसारे ।।

पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रमशः अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ दिया । जो पुद्गल पहले ग्रहण क्यि हो उन्हें गृहीत कहतें हैं। जो पहले ग्रहण न किये हो उन्हें अगृहित कहते हैं। दोनों के मिलान को मिश्र कहते हैं। इनके ग्रहण का क्रम पूर्वोक्त प्रकार है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में द्रव्य परिवर्तन के दो भेद किये गये हैं- बादर द्रव्यपरिवर्तन और सूक्ष्म द्रव्यपरिवर्तन। दोनों के स्वरूप में भी अंतर है, जो इस प्रकार है- 'जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओं को औदारिक, वैक्रियक, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्माणशरीर रूप परिणमनकर, उन्हें भोगकर छोड देता है, उसे बादर द्रव्य परिवर्तन कहते हैं और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप परिणमनकर उन्हें भोगकर छोड देता है उसे सूक्ष्म द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं । **विशेष ध्यान देने योग्य विषय यह है कि इस प्रकरण में कर्म सिद्धान्त, जिनोम सिद्धान्त, String theory, unifide theory, M. theory, जैविक रासायन विज्ञान आदि गर्भित है।**

आध्यात्मिक का सार

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥50

''देहादि से आत्म तत्त्व भिन्न है और आत्म तत्त्व से देहादि भिन्न है।'' इतने में ही भूतार्थ रूप से आत्मतत्त्व का समस्त सार गर्भित है, निर्णीत है। जो इस तत्त्व संग्रह से अधिक भेद-प्रभेद का वर्णन है वह सब विस्तार रुचि वाले शिष्यों की रुचि को ध्यान में लेकर किया गया है। उसको भी हम अभिनन्दन करते हैं, स्वीकार करते हैं।

समीक्षा- कथन प्रणाली विभिन्न प्रकार की होती है। वक्ता श्रोता की रुचि, योग्यता तथा भूमिका को ध्यान में रखकर विषय का प्रतिपादन करता है। जो विशेष प्रज्ञाशील/बुद्धिलब्धि से युक्त होता है उसे वस्तु तत्त्व का सामान्य वर्णन करने पर भी वह गहराई से, विस्तार से उसे ग्रहण कर लेता है परन्तु जिसकी बुद्धि लब्धि कम होती है उसे विस्तार से समझाने की आवश्यकता पडती है। इसी कारण सूत्र, चूर्णी सूत्र, वार्तिक, व्याख्या, भाष्य, समीक्षा आदि की आवश्यकता पडती है।
सजीव द्रव्य को जानने के लिये अजीव द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि जब तक

स्व एवं पर का ज्ञान नहीं होगा तब तक स्व का ग्रहण एवं पर का त्याग नहीं हो सकता। छहढाला में कहा है-'' **बिन जाने ते दोष गुणन को, कैसे तजिये गहिये ।**'' अनादिकाल से जीव एवं अजीव(पुद्गल कर्म परमाणु)का संश्लेष सम्बन्ध हुआ है जिसके कारण जीव, पुद्गल से प्रभावित होकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र रूप में परिणत होकर स्वपर ज्ञान के भेद से रहित होकर स्वद्रव्य को पर द्रव्य एवं पर द्रव्य को स्व द्रव्य मान बैठा है। इसके कारण ही जीव अनादिकाल से भ्रमण करता हुआ अनन्त दुख को भोग रहा है। इसलिए स्वद्रव्य को जानने के लिये पर द्रव्य को जानना अनिवार्य है।स्वद्रव्य को जानकर, स्वद्रव्य को अन्य द्रव्य से अलग करना मोक्षमार्ग का, मोक्ष प्राप्ति का प्रधान एवं प्रथम कारण है।

जैसे वैज्ञानिक प्रयोगशाला में अनेक तत्त्व से मिले हुए मिश्रण को वैज्ञानिक प्रणाली से पृथक् करते हैं वैसे आध्यात्मिक प्रयोगशाला में जीव एवं अजीव रूपी मिश्रण से स्वद्रव्य को अलग करना है। जैसे भौतिक मिश्रण को अलग करने के लिये उस मौलिक भौतिक तत्त्व का ज्ञान करना आवश्यक है, जिससे हम पृथक् कर सकते हैं वैसे ही वीतराग रूपी प्रयोगशाला में जीव के साथ अजीव द्रव्य का ज्ञान करना आवश्यक है।

***शांति- सफलता* = I. Q.< E.Q.< S.Q.**

जीवन के लिए आवास ,वस्त्र, भोजन,औषध,पानी, प्राणवायु की आवश्यकता उत्तरोत्तर महत्त्व पूर्ण है इसी प्रकार शांति-सफलता के लिए I. Q., E.Q., S.Q., की आवश्यकता उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण है परंतु प्राणवायु से लेकर आवास तक उत्तरोत्तर स्थूल होने के कारण उत्तरोत्तर अधिक दृष्टिगोचर होते हैं उसी प्रकार I. Q., E.Q., S.Q., के लिए भी जानना चाहिए। स्थूल रूप में देखने में आता है और जिसके आधार पर वैज्ञानिक डार्विन ने भी प्रतिपादन किया है कि जिसकी बुद्धि अधिक है, वह अधिक संघर्ष कर पाता है, वह सफल होता है, अधिक जीता है। परन्तु व्यापक, सूक्ष्म सार्वभौम, वैश्विक दृष्टिकोण से ज्ञात होता है, तीर्थङ्कर , बुद्ध, साधु-संत, ईसा मसीह, महापुरुषों के चारित्र, प्रवचन एवं ग्रन्थों से बोध होता है, प्राचीन ध्यान ग्रन्थ, आयुर्विज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान में सिद्ध होता जा रहा है कि शांति-सफलता के लिए I. Q.से भी E.Q., S.Q.की भूमिका उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण है। स्पष्ट से कहे तो डार्विन के संघर्षमय विकासवाद से श्रेष्ठ है संवेदनशील/सहयोगात्मक/ सहजीवीमूलक-विकासवाद। इससे भी श्रेष्ठ-ज्येष्ठ है आध्यात्मिक विकासवाद। (लेखक की कृति-विविध क्रम विकास...पृ.19)

अध्याय-8

ब्रह्माण्ड के एकीकृत सिद्धान्त

Unified theory of Universe

आइन्स्टीन के सापेक्ष सिद्धान्त; क्वान्टम सिद्धान्त, अनिश्चितता के सिद्धान्त से लेकर प्रवर्तमान शोधरत M. throry (Unified theory, theory of eveything) से नवीन नवीन, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तथा व्यापक से व्यापक स्तर का ज्ञान होता जा रहा है। इस ज्ञान से भारतीय ज्ञान-विज्ञान, आध्यात्मिक वैज्ञानिक ज्ञान के साथ-साथ उसकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, सूक्ष्मता, व्यापकता, सत्यता एवं शाश्वतिकता का ज्ञान हमें होता जा रहा है। अत्याधुनिक वैज्ञानिक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मूलभूत एक ही सिद्धान्त के शोध-बोध-आविष्कार में लगे हुए हैं। उनका मत है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के एक ही कोई तत्त्व है/ गुण है / सिद्धान्त है जो कि सब में व्याप्त है, सब का नियामक है। उसे उन्हें String मानते हैं। यह String सूक्ष्मतर तरंग रूप है। String इतना छोटा है कि अणु (Atom) से भी अरबों गुणा छोटा है और अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है। स्ट्रींग इतना छोटा है कि यदि अणु सौर परिवार के समान है तो स्ट्रींग एक पेड के समान है।

जैन धर्म में वर्णित प्रत्येक द्रव्य के शुद्ध अगरुलघुगुण तथा भौतिक 23 वर्गणाओं के कुछ गुणधर्म के साथ स्ट्रींग के समन्वय, समीक्षा आवश्यक है जिससे इस नवीनतम शोधरत महान् विषय के लिए मार्ग दर्शन मिलेगा। इस सम्बन्धी विशेष ज्ञान मेरी (1) ब्रह्माण्डीय जैविक-भौतिक एवं रसायन विज्ञान (2) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा (3) विश्व विज्ञान रहस्य (4) विश्व द्रव्य विज्ञान आदि कृति से प्राप्त करें।

चार आयाम से अतिरिक्त और भी अनेक आयाम है। (1)गुरूत्व बल (G)जो कि ग्रहों, आकाशगंगा और उनकी गति के संचालन का प्रमुख बल है और मोटे तौर पर ब्रह्माण्ड के जन्म का कारण भी है)(2)विद्युत् चुम्बकीय बल (EM)यह बल परमाणुओं और अणुओं को आपस में जोड कर रखता है, यह विद्युत् और चुम्बक के बल को भी जोडता है। यह (EM) बल (G)गुरूत्वबल से भी अधिक बल है। 1 के आगे 49 शून्य (0) जितना बल G बल से EM का होता है; EM के बल के सामने G बल बहुत ही क्षीण है। इसलिए तो अणुबम के विस्फोट से अधिक उर्जा उत्पन्न होती है परन्तु गिरते हुए सेव को हाथ से पकड सकते हैं। क्योंकि अणुबम विस्फोट में EM बल को तोडना पडता है और सेव को पकडन में (G) बल का विरोध/ प्रतिरोध करना पडता है।

(3) परमाणु के अन्दर एक दृढ और (4) एक कमजोर बल (ये दोनों बल परमाणु के नाभिक की अन्तरंग संरचना को नियंत्रित करते हैं)। कोई ऊपर से गिरने पर जमीन पर इसलिए टिक जाता है क्योंकि जमीन का अणुबल उसे रोक देता है। अतः गुरुत्व बल से अणुबल अधिक शक्तिशाली है। अनिश्चिता आदि सिद्धान्त भी हमें लकीर के फकीर के समान रुढी वादिता रूपी संकीर्ण मत से परे भी सत्य की खोज के लिए विभिन्न आयाम प्रदान करते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्तों के साथ-साथ परम वैज्ञानिक जैन सिद्धान्त के समन्वय से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोकाकाश में अनन्तानन्त भौतिक परमाणु एवं 23 वर्गणायें हैं वे ही ब्रह्माण्ड के मूलभूत तत्त्व हैं।

जो द्रव्य होता है उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अवश्य ही होंगे अर्थात् प्रकारान्तर से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक ही द्रव्य है। उमा स्वामी ने कहा भी है-

उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत् । 30

क्योंकि जो सत् होगा उसमें अवस्थायें भी होंगी और जो अवस्थायें होंगी वे उत्पन्न और नाश भी होंगी क्योंकि अवस्थायें शाश्वतिक ध्रुव नहीं होती हैं। जिस प्रकार मनुष्य में शिशु, किशोर, प्रौढ, वृद्ध अवस्थायें होती हैं और वे अवस्थायें मनुष्य में ही उत्पाद और व्यय रूप में होती हैं। इसलिए शिशु अवस्था से लेकर वृद्धावस्था तक सम्पूर्ण अवस्थाओं का समूह या जन्म से मृत्यु तक की अवस्थाओं का समूह ही मनुष्य है। और सम्पूर्ण अवस्थाओं में जो अनुसृत रूप ध्रुव है वह है मनुष्यत्व। यह सब मिलाकर मनुष्य होता है। इसी प्रकार त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों का समूह ही द्रव्य है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा भी है-

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि।
तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं॥ (3) पृ.31

एक द्रव्य में जितनी अतीत, भविष्यत् और वर्तमान की अर्थ पर्यायें तथा व्यजंन (शब्द) पर्यायें हुई हैं, होने वाली हैं और हो रही हैं, वह द्रव्य उतना ही है।

इस गाथा में आचार्य श्री ने उत्पाद, व्यय के साथ ध्रौव्य को भी पर्याय कहा है जो कि विचारणीय है। उत्पाद हो या व्यय हो, गुण हो या पर्याय हो जिस में होते हैं उसे द्रव्य कहते हैं अर्थात् सत् स्वरूप द्रव्य का लक्षण है। कहा भी है-

सत् द्रव्य लक्षणम् । त. सू. अ. 5

पञ्चास्तिकाय में कुन्दकुन्ददेव ने कहा भी है-

दवियदि गच्छति ताइं ताइं सब्भाव पज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥9 पृ. 42

उन-उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है-प्राप्त होता है, उसे सर्वज्ञ भगवान् द्रव्य कहते हैं जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वय धुवत्त संजुत्तं।
गुण पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥10

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण, पर्यायों का आश्रय या आधार है उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार द्रव्य में उत्पाद और व्यय होते हैं उसी प्रकार ध्रौव्य भी सत् (द्रव्य) में होता है। द्रव्य तो त्रैकालिक सत्य है परन्तु ध्रौव्य, सत् (द्रव्य) में होता है। द्रव्य तो त्रैकालिक सत्य है परन्तु ध्रौव्य त्रैकालिक सत्य नहीं है, परन्तु उत्पाद और व्यय के मध्य में जो अन्वय रूप पर्याय (अवस्था, स्थिति, अवस्थान) होती है। उसे ही ध्रौव्य कहते हैं। इसलिए ध्रौव्य भी पर्याय है। इसलिए द्रव्य ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है अर्थात् तीनों अवस्था में द्रव्य ही रहता है

जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उत्पन्न होती हैं एवं विनाश होती हैं तथापि समुद्र वही रहता है उसी प्रकार प्रत्येक शुद्ध-अशुद्ध मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य में नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती जाती हैं एवं प्राचीन-प्राचीन पर्यायें नष्ट होती जाती है तथापि द्रव्य वही रहता है। द्रव्य द्रव्यान्तर रूप में परिणमन नहीं करता है क्योंकि द्रव्य त्रैकालिक ध्रुव है, पर्यायें त्रैकालिक ध्रुव नहीं होती हैं । देवसेन सूरि ने कहा भी है-

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जति जलकल्लोलवज्जले॥ 1 पृ. 69 आ. प.

अनादि-अनन्त द्रव्य में अपनी अपनी पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं। जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं।

धर्माधर्मनभः काला अर्थ पर्याय गोचराः।
व्यंजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीव पुद्गलौ ॥2

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य इन चारों द्रव्यों में अर्थ पर्याय ही होती है किन्तु इनसे भिन्न जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में व्यंजन पर्यायें भी होती हैं।

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जव णयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं॥ जयधवला पृ. 248

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वे सदा से अविनष्ट और अनुत्पन्न स्वभाव वाले हैं।

द्रव्यस्वभावो द्रव्यत्वम् निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्ड वृत्या।

स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् ।।96 पृ. 142

जो अपने अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वाभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है वह द्रव्य है, उस द्रव्य का जो भाव है, वह द्रव्यत्व है।

स्थायीत्व एवं परिवर्तन के मूल कारणअगुरु-लघु गुण-

धर्मादि अमूर्त द्रव्यों में काल द्रव्य का उपकार

धम्माधम्मादीणं अगुरुलहुगं तु छहिं वि बड्ढीहिं।

हाणीहिं वि वड्ढंतो हायंतो वट्टदे जह्मा।।569 गो.जी.

धर्म-अधर्म आदि (शुद्ध) द्रव्यों में अगुरुलघु गुण में छह वृद्धि व छह हानि के द्वारा वृद्धि व हानि रूप वर्तन होता है। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य और सिद्ध जीव इनमें स्वाभाविक अगुरुलघु गुण होता है।

शङ्का-धर्म, अधर्म, आकाश और काल में अगुरुलघुत्व किस प्रकार है?

समाधान -अनादि पारिणामिक अगुरुलघु गुण के योग से।

शङ्का- मुक्त (सिद्ध) जीवों के अगुरुलघु किस प्रकार है?

समाधान- अनादि कर्म-नौकर्म के सम्बन्ध के कारण जो कर्मोदय कृत अगुरुलघु होता था, उससे मुक्त जीव अत्यन्त निवृत्त (रहित) हो जाने से उनके स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का आविर्भाव हो जाता है।

धर्माधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों में छह वृद्धियों द्वारा वृद्धि और छह हानियों द्वारा हानि रूप परिणमन होता है। उस परिणमन में भी मुख्य काल अर्थात् काल द्रव्य कारण होता है। धर्म, अधर्म, आकाश में अगुरुलघु गुण की हानि व वृद्धि से परिणमन होता है।

परिवर्तन के बाह्य कारण-

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं।

विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु।।570

काल द्रव्य स्वयं अन्य रूप परिणमन नहीं करता और न अन्य द्रव्य को अन्य रूप परिणमाता है। विविध परिणमन करने वाले द्रव्यों के परिणमन में हेतु (कारण) होता है। संक्रम विधान से काल द्रव्य अपने गुणों के द्वारा अन्य रूप परिणमन नहीं करता और न अन्य द्रव्यों को या उनके गुणों को अपने रूप परिणमाता है। काल द्रव्य हेतुकर्ता होते हुए भी अन्य द्रव्य या अन्य गुण-रूप-नहीं परिणमता। परिणमन करते हुए नाना प्रकार के द्रव्यों के परिणमन में स्वयं उदासीन निमित्त कारण होता है। जैसे काल द्रव्य उदासीन कारण है

वैसे ही धर्मादि द्रव्य भी उदासीन निमित्त हैं। सर्व द्रव्य अपने अपने परिणमन (परिणमन गुण) से युक्त होने पर भी कालादि (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) सहकारी द्रव्यों के मिलने पर ही अपनी -अपनी पर्यायों को उत्पन्न करते हैं।

कालं अस्सिय दव्वं सगसगपज्जायपरिणदं होदि।

पज्जायावट्ठाणं सुद्धणये होदि खणमेत्त।।571

काल के आश्रव से ही द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों से परिणत होता है। पर्याय की स्थिति शुद्धनय की अपेक्षा क्षण मात्र होती है।

सरिसो जो परिणामो अणाइ णिहणो हवे सो हि।

सो सामण्ण- सरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय।।241

द्रव्य परिणमनशील है, परिणमन करना उसका स्वभाव है किन्तु द्रव्य में होने वाला परिणमन दो प्रकार का है- एक सदृश्य परिणाम तथा दूसरा विसदृश्य परिणाम। सदृश्य परिणाम का नाम गुण है और विसदृश्य परिणाम का नाम पर्याय है। जैसे जीव द्रव्य चेतन गुण सब पर्यायों में पाया जाता है। मनुष्य मरण करके देव हो, अथवा तिर्यञ्च हो चैतन्य परिणाम उस में अवश्य रहता है। चैतन्य परिणाम की अपेक्षा मनुष्य तिर्यञ्च-पशु आदि समान हैं क्योंकि चैतन्य गुण सब में समान है। यह चैतन्य परिणाम अनादि अनिधन है, न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है अर्थात् किसी जीव का चैतन्यपरिणाम नष्ट होकर वह अजीव नहीं हो जाता है और न किसी पुद्गल में चैतन्य परिणाम उत्पन्न होकर वह चेतन हो जाता है। इस तरह सामान्य रूप से वह (चेतन) अनादि-अनिधन है। किन्तु विशेष रूप से चैतन्य का भी नाश और उत्पाद होता है, क्योंकि गुणों में भी परिणमन होता है।

जीवादि द्रव्यों के सामान्य और विशेष गुण -अस्तित्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, प्रदेशत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व ये द्रव्यों के दश सामान्य गुण हैं। इनमें से प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ सामान्य गुण होते हैं। क्योंकि जीव द्रव्य में अचेतनत्व और मूर्त्तत्व ये दो गुण नहीं होते हैं और पुद्गल द्रव्य में चेतनत्व और अमूर्त्तत्व ये दो गुण नहीं होते हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य में चेतनत्व और मूर्त्तत्व गुण नहीं होते। इस तरह दस सामान्य गुणों में से दो-दो गुण न होने से प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण होते हैं तथा ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुतव, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व ये द्रव्यों के सोलह विशेष गुण हैं। इनमें से अन्त के चार गुणों की गणना सामान्य गुणों में भी की जाती है और विशेष गुणों में भी की जाती है, उसका कारण यह है कि ये चारों गुण स्वजाति की अपेक्षा से सामान्य गुण है और विजाति की अपेक्षा से विशेष गुण

हैं। इन सोलह विशेष गुणों में से जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्त्तत्व ये छह गुण होते हैं। पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध, मूर्त्तत्व, अचेतनत्व, ये छह गुण होते हैं। धर्म द्रव्य में गतिहेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व ये तीन गुण विशेष होते हैं। अधर्मद्रव्य में स्थिति हेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व ये तीन गुण विशेष होते हैं। आकाश द्रव्य में अवगाहनहेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण होते हैं और काल द्रव्य में वर्त्तना हेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण होते हैं। जो गुण सब द्रव्यों में पाया जाता है उसे सामान्य गुण कहते हैं और जो गुण सब द्रव्यों में न पाया जाये उसे विशेष गुण कहते हैं। सामान्य गुणों में छह गुणों का स्वरूप इस प्रकार है- जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश नहीं होता उसे **अस्तित्व गुण** कहते हैं। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थक्रिया हो उसे **वस्तुत्व गुण** कहते हैं। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य सर्वदा एकसा न रहे और उसकी पर्यायें बदलती रहें उसे **द्रव्यत्व गुण** कहते हैं। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो उसे **प्रमेयत्व गुण** कहते हैं। **जिस शक्ति के निमित्त से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन न करे और एक गुण दूसरे गुण रूप परिणमन न करे तथा एक द्रव्य के अनके गुण बिखरकर जुदे-जुदे न हो जाय उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।** जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ ना कुछ आकार अवश्य हो उसे **प्रदेशत्व** गुण कहते हैं। ये गुण सब द्रव्यों में पाये जाते हैं।

सो वि विस्सदि जायदि विसेस- रुवेण सव्व दव्वेसु।
दव्व गुण पज्जयाणं एयत्तं वत्थु परमत्थं।।242

समस्त द्रव्यों के गुणा भी विशेष रूप से उत्पन्न तथाा विनष्ट होते हैं। इस प्रकार द्रव्य गुणों और पर्यायों का एकत्व ही परमार्थ से वस्तु है। ऊपर बतलाया था कि सामान्य रूप से गुण न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं । यहाँ कहते हैं कि विशेष रूप से गुण भी उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं अर्थात् गुणों में भी उत्पाद-व्यय होता है। आशय यह है कि द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन जुदे-जुदे नहीं हैं। अर्थात् जैसे सोंठ, मिर्च और पीपल को कूट छानकर गोली बना ली जाती है, वैसे द्रव्य, गुण और पर्याय को मिलाकर वस्तु नहीं बनी है। वस्तु तो एक अनादि अखण्ड पिण्ड है। उसमें गुणों के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है और वे गुण भी कभी अलग नहीं किये जा सकते है हाँ, उनका अनुभवन मात्र अलग-अलग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जब वस्तु परिणामी है तो गुण अपरिणामी कैसे हो सकते हैं? क्योंकि गुणों के अखण्ड पिण्ड का नाम ही तो वस्तु है। अतः गुणों में भी परिणमन होता है, किन्तु परिणमन होने पर भी ज्ञान गुण, ज्ञान रूप ही रहता है, दर्शन या सुखरूप नहीं हो जाता। इसी से सामान्य रूप से गुणों को अपरिणामी और विशेष रूप से परिणामी कहा है।

गुणों के विकार का नाम ही पर्याय है। पर्याय दो प्रकार की हैं- स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। यहाँ 6द्रव्यों की पर्याय कहते हैं। अगुरूलघुगुण के विकार को स्वभाव पर्याय कहते हैं। उस के 12 भेद हैं- 6 वृद्धि रूप तथा 6हानि रूप । 1 अनन्त भाग वृद्धि, 2असंख्यात भागवृद्धि, 3संख्यात भागवृद्धि, 4संख्यातगुणवृद्धि ,5 असंख्यातगुणवृद्धि और 6 अनंतगुण वृद्धि से 6 वृद्धि रूप स्वभाव पर्यायें हैं। और 1 अनंतभागहानि, 2असंख्यातभागहानि, 3 संख्यातभागहानि, 4संख्यात-गुणहानि, 5असंख्यातगुणहानि, 6 अनंतगुणहानि ये 6 हानि रूप स्वभाव पर्याय हैं। नर-नारक आदि पर्याय अथवा चौरासी लाख योनियाँ विभाव-द्रव्यव्यंजनपर्याय हैं। मति आदि ज्ञान विभावगुणव्यंजनपर्याय हैं। अंत के शरीर से कुछ न्यून जो सिद्ध पर्याय है वह स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। जीव का अनन्त चतुष्टय स्वरूप स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय है। ये सब जीव की पर्याय हैं। पुद्गल की विभाव-द्रव्यव्यंजनपर्याय द्वयणुक आदि स्कन्ध हैं। रस से रसान्तर और गन्ध से गन्धान्तर विभावगुण व्यंजनपर्याय हैं। पुद्गल का अविभागी परमाणु स्वभावद्रव्य व्यंजनपर्याय है। और उस परमाणु में जो एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श गुण रहते हैं पुद्गल की स्वभाव गुण व्यंजनपर्याय है। इस तरह जैसे जल में लहरें उठा करती हैं वैसे ही अनादि और अनन्त द्रव्य में प्रति समय पर्यायें उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं।

दव्वाण पज्जयाणं धम्म विवक्खाए कीरए भेओ।
वत्थु- सरूपेण पुणो ण हि भेदो सक्कदे काउँ।। 245

कारण रूप मिटट्री आदि द्रव्य में और कार्य रूप घटादि पर्याय में धर्म और धर्मी भेद की विवक्षा होने से ही भेद है अर्थात् जब यह कहना होता है कि यह मिट्टी धर्मी और यह घटादि पर्याय धर्म है, तभी भेद की प्रतीति होती है, किन्तु स्वरूप से धर्म और धर्मी में भेद नहीं किया जा सकता है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से कार्य और कारण में अभेद है। इसी तरह गुण गुणी, पर्याय-पर्यायी, स्वभाव स्वभाववान आदि में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद समझना चाहिये।

जदि वत्थुदो विभेदो पज्जय दव्वाण मण्णसे मूढ ।
तो णिरवेक्खा सिद्धी दोण्हं पि य पावदे णियमा।।246

यदि द्रव्य और पर्याय में वस्तु रूप से भी भेद माना जायेगा तो द्रव्य पर्याय से सर्वथा भिन्न एक जुदी वस्तु ठहरेगा और पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न एक जुदी वस्तु ठहरेगी । ऐसी स्थिति में बिना पर्याय के भी द्रव्य और बिना द्रव्य के पर्याय हुआ करेगी। जैसे यदि मिट्टी रूप द्रव्य सर्वथा भिन्न है तो मिट्टी के बिना भी घट पाया जाएगा। उसका द्रव्य और पर्याय में वस्तु रूप से भेद नहीं मानना चाहिये।

निष्क्रियाणि च ॥7॥

Niskriyani ca [7]

(आ-आकाशात् निष्क्रियाणि च भवन्ति।)

(Dharma, adharma and Akasa, these three are not capable of moving from one place to another .)

Not only these three but also the time is incapable of motion :

कालस्यापि सक्रियत्वमिति चेत् न

The learned author of Sarvarthasiddhi has raised a very interesting point in the commentary on this sutra . He says:

धर्मादिनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि तस्तेषामुत्पादो न भवेत्। उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति॥

(Tr.-If dravyas, Dharma etc., are incapable of motion from place to place how is Utpada and Vyaya maintained which is the chief characteristic of a substance). From the Very nature of definition of a substance it follows that generation (Utpada) and decay (Vyaya) must go on in these Dravyas is some from or the other . The same author answers the point saying :

अनन्तानन्तम् अगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थाान- पतितया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च॥

Amongst the six common attributes of substance, viz., Astitva (indestructibility), Vastutva (functionality), Dravyatva(changeability), Prameyatva (capacity of being the subject to knowledge), Agurulaghutva (individuality) and Pradesatva(capacity of having some form), the Agurulaghu attribute is such that an imperceptible rythmic rise and fall is constantly taking place in its parts in six different steps and these natural rythms rising and decaying produce Utpada and Vyaya. Agurulaghu attribute is said to be responsible for maintaining the individuality of the substance and its characteristic properties. The Sadguni Hanivrddhi or six different steps of infinitesimal changes, -an entirely ingenious idea of the Jaina thinkers, - can be explained as follows :

Enumeration has been divided into three classes: (i) Sankhyata, i.e. ,countable; (ii) Asankhyata, i.e., countless, and (iii) Ananta i.e. infinite.

To explain the full meaning of these three classes with their 21 sub- divisions is a long mathematics and would carry us far beyond the present theme . It is enough to mention the distinction between countless and infinite . The former has a limit, though it is beyond the power of even an omniscient being to count them, the latter is inexhaustible and without limits . To give an example, the number of unitary cells of space (Pradesas) in loka is countless since loka is finite but the number of Pradesas in the space beyond is infinite, since Aloka has no limits.

The six steps upwards are :(i) Infinitesimal increase, (ii) increase by a countless fraction, (iii) increase by a countable fraction, (iv) icrease countable times, (v) increase countless times, (vi) increase infinite times .(Note that these steps are in ascending order of magnitude.) The six steps along the descent are in exactly reverse order so that the whole series of changes counstitutes, what in science we call, a reversible cycle. The hypothetical numerical example given below will make the point more clear :

Suppose there is a number 1024; let the countable,

the countless and the infinite be represented respectively by 2,4 and 8; then the number will undergo the rise and fall like this :

(i) Infinitesimal increase : 1024+1024/8=1152
(ii) Countless fraction increase : 1152+1024÷4=1408
(iii) Countable fraction increase : 1408+1024÷2=1920
(iv) Countable times increase :1920+(1024x2)=3968
(v) Countless times increase : 3968+(1024x4)=8064
(vi) Infinite times increase :8064+(1024x8)=16256
(vii) Infinite fraction decrease : 16256-1024/8=16128
(viii) Countless fraction decrease : 16128-1024/4=15872
(ix) Countable fraction decrease : 15872-1024/2=15360
(x) Countable times decrease : 15360-(1024x2)=13312
(xi) Countless times decrease : 13312-(1024x4)=9216
(xii) Infinite times decrease :9216-(1024x8)=1024

This phenomenon may be likened to a stationary wave- motion in which the system of waves alternately waxes and wanes without progression in either direction . The characteristic of stationary wave- motion is described by Barton as follows:

"To all appearances the wave- motion seems to be stationary in position . The wave- form shrinks to a straight line by proportional diminution of all its ordinates. It then expands proportionally all the ordinates being now reversed in sign, again sheinks and so forth."

in the jaina work Alapa-Paddati the phenomenon is compared to the ripples growing and decaying on the surface of a sea thus making the analogy with a stationary wave-motion still more striking.

Thus we shall see that jainism regards the media of

motion and rest and the space time as unmoving with these natural pulsations existing in them. Can we not think that these pulsations are generated by the movement of various material bodies and particles in space ? The attempts of scientists to detect eather were based on this conception. We have referred to the famous Michel-son-Morely experiment on page 20 ante. the argument was this :

"just as the aeroplane passengers observe a strong head-wind, so there must be an ether-wind blowing past the earth.....The light-waves on the earth must be blown about by the etherwind. Accordingly as they travel with or against the direction of the ether wind or at right-angles to it, their velocity will be different. The effect is only a very minute one....

As we have seen sometimes negative and sometimes positive result has been obtained, the letter, however, has not been unequivocally confirmed. The last conclusion is therefore that the earth is moving through a fixed eather. If, however, a positive result is obtained, as prophesied by the great India mathematician late Sir S.M. Sulaiman and as some more precise experiments published in the american physical review [feb. 15, 1935] testify, it would be a brilliant confirmation of the Sadgunt Hanivrddhi theory of the jainas.

(COSMOLOGY :OLD AND NEW)

अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली है, किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्द-गोचर है और चिरस्थायी है।

मूर्तो व्यजनपर्यायो वाग्गमयोऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥ 6/45 ज्ञानार्णव

व्यंजन मूर्तिक है। वचनगोचर है, अनश्वर है, स्थिर है। अर्थपर्याय सूक्ष्म और प्रतिक्षण-ध्वंसी (नष्ट होने वाली) है। व्यंजनपर्याय पुद्गल के अतिरिक्त संसारी जीव में होती है। संसारी जीव अनादि कर्म बन्धन बद्ध होने से मूर्तिक है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमें तो अर्थपर्याय ही होती है। जीव व पुद्गल में अर्थ व व्यंजन दोनों पार्यय होती हैं।

सिद्ध जीव भी शुद्ध द्रव्य है, अतः सिद्ध जीवों में भी अर्थ पर्याय ही होती है।

द्रव्य अनादि अनन्त है और पर्यायें भी संतति रूप से अनादि अनन्त है अतः एक द्रव्य में जितनी पर्यायें है उतना मात्र ही द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य के बिना पर्यायें नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। जितनी पर्यायें होकर नष्ट हो चुकीं वे तो भूत पर्यायें हैं और जो पर्यायें अविद्यमान हैं, आगामी निमित्त व उपादान कारणों के अनुसार होंगी वे भविष्यत् पर्यायें हैं और जो वर्तमान में हो रही है वह वर्तमान पर्याय है। इन तीनों पर्यायों का जितना काल है उतना ही द्रव्य का काल है अर्थात् उतनी ही द्रव्य की स्थिति है जो अनादि अनन्त रूप है।

अनादिको अनादि रूप से अनन्त को अनन्तरूप से अविद्यमान को अविद्यमानरूप से, असत् को असत् को असत् रूप से और अभाव को अभाव रूप से जानना ही सम्यग्ज्ञान है, अन्यथा जानना मिथ्याज्ञान है। जितनी द्रव्य की स्थिति है उतनी ही पर्यायें है। द्रव्य की स्थिति आदि अनन्त हैं, प्रवाह, रूप या सन्तति रूप से पर्यायों की स्थिति भी अनादि अनन्त है।

द्रव्यों का आधार अथवा क्षेत्र

आगासं वज्जित्ता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि वहिं।
वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा॥583गो. जी. पृ.651
लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविवसप्पसंहारे वावडो जीवो॥584
पोग्गलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसे कालाणूणं धुवो होदि॥585
संखेज्जासखेंज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे॥586
लोगागासपदेसा छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति।
सव्वमलोगागासं अण्णेहिं विवज्जियं होदि॥587

आकाश के अतिरिक्त शेष सर्व द्रव्य लोक (लोकाकाश) में ही है, लोकाकाश

से बाहर नहीं हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। ये दोनों द्रव्य अवस्थित हैं, अचलित हैं और नित्य हैं। आत्मप्रदेशों के संकोच-विस्तार के कारण एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग को आदि करके (केवल समुद्धात की अपेक्षा) सर्व लोक व्याप्त है। पुद्गल द्रव्य आकाश के एक प्रदेश से लेकर समस्त लोक ममें ही विद्यमान है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। संख्यात, असंख्यात, व अनन्त पुद्गलप्रदेश वाले स्कन्ध हैं, किन्तु पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश को ही व्याप्त कर रहता है। लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर छहों द्रव्य स्थित हैं। समस्त अलोकाकाश आकाशद्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों से रहित है, शून्य है।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥7 पंचास्तिकाय

छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने स्वाभाव को नहीं छोडते अर्थात् ये छह द्रव्य परस्पर अवकाश देते हुए अपने-अपने ठहरने के काल पर्यन्त ठहरते हैं, परन्तु उनमें संकर व्यतिकर दोष नहीं आता। प्रवेश शब्द क्रियावान जीव व पुद्गलों की अपेक्षा है, क्योंकि आये हुओं को अवकाश दिया जाता है। धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल निष्क्रिय द्रव्य नित्य सर्व काल मिल के रहते हैं, अतः अवकाश शब्द इन चार की अपेक्षा से है।

पुद्गलों का अवगाहन लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से होता है। आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु का अवगाह है । बन्ध को प्राप्त हुए या खुले हुए दो परमाणुओं का आकाश के एक प्रदेश में या दो प्रदेशों में अवगाह है। बन्ध को प्राप्त हुए या न प्राप्त हुए तीन परमाणुओं का आकाश के एक या दो या तीन प्रदेशों में अवगाह है। इसी प्रकार संख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्धों का लोकाकाश के एक, संख्यात और असंख्सात प्रेदशों में अवगाह जानना चाहिए।

शंका-यह तो युक्त है कि धर्म और अधर्म अमूर्त हैं, इसलिए उनका एक जगह बिना विरोध के रहना बन जाता है, किन्तु पुद्गल मूर्त है, इसलिए उसका बिना विरोध के एक स्थान पर रहना कैसे बन सकता है ?

समाधान- इनका अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूप से परिणमन हो जाने से मूर्तिमान पुद्गलों का एक जगह अवगाह विरोध को प्राप्त नहीं होता, जैसे एक ही स्थान में अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है।[३] श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है-

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं वादरेहिं य णांताणांतेहि विविधोहिं ॥64 पंचस्तिकाय

यह लोक सर्व ओर से सुक्ष्म व बादर नाना प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गलों के स्कन्धों से पूर्ण रूप से भरा हुआ है। जैसे कज्जल से पूर्ण भरी हुई कज्जलदानी अथवा पृथ्वीकाय आदि पाँच प्रकार के सुक्ष्म स्थावर जीवों से बिना अन्तर के भरा हुआ यह लोक है, उसी प्रकार यह लोक अपने सर्व असंख्यात प्रदेशों में दृष्टिगोचर व अदृष्टिगोचर नाना प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धों से भरा हुआ है ।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं वादरेहिं य अप्पाउग्गेहिं जोग्गेहिं।।76 प्रवचन सार

यह लोक सब ओर से अथवा सब जगह सूक्ष्म व बादर तथा अप्रायोग्य व योग्य (कर्म वर्गणा रूप होने अयोग्य व योग्य) पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है।

सव्वो लोयायासो पुग्गल-दव्वेहिं सव्वदो भरिदो।
सुहुमेहिं बायरेहिः य णाणा-विह-सत्ति-जुत्तेहिं।।206 स्वा. का. अ.

नाना प्रकार की शक्तियुक्त सूक्ष्म व बादर पुद्गल द्रव्य से यह सम्पूर्ण लोकाकाश पूर्णरूप से भरा हुआ है। जगत्श्रेणी के घन रूप इस सर्व लोकाकाश में सूक्ष्म व बादर रूप **पुद्गल द्रव्य व्याप्त है। सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध रूप पुद्गल सम्पूर्ण अर्थात् समस्त लोक में व्याप्त हो रहा है। पुद्गल द्रव्य का ऐसा एक महास्कन्ध है जो सर्व लोक में व्याप्त हो रहा है।**

बन्ध के कारणभूत स्निग्धत्व और रूक्षत्व इन दोनों गुणों का कालद्रव्य में अभाव है इसलिए कालाणुओं का परस्पर बन्ध नहीं होता अतः प्रत्येक कालाणु पृथक्-पृथक् है। निश्चय काल रूप वे कालाणु एक-एक आकाश प्रदेश पर एक-एक पृथक्-पृथक् स्थित हैं। आकाशद्रव्य दो भागों में विभक्त है लोकाकाश ओर अलोकाकाश। कहा भी है-

तं अयासं दुविहं लोयालसे याण भेएण।। 210 उत्तरार्ध स्वा. का. अ.

जितने आकाश में धर्मद्रव्य, अर्धद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गल और जीव द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोकाकाश है। जहाँ पर जीवादि पदार्थ दिखाई देते हैं, वह लोकाकाश है और उससे बाहर अनन्त प्रदेशी अलोकाकाश है।

लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादि पदार्था यत्र स लोकः, तस्माद् बहिर्भूतमनन्तशुद्धाकाशमलोकः।

जहाँ जीवादि पदार्थ दिखलाई पडें सो लोक है, इस लोक के बाहर अनन्त शुद्ध आकाश है सो अलोक है।

शङ्का-शुद्ध आकाश से क्या प्रयोजन है?

समाधान- जहाँ पर आकाश द्रव्य के अतिरिक्त धर्मादि अन्य द्रव्य नहीं पाये

जाते अर्थात् जिस आकाश में जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और काल ये पाँच नहीं पाये जाते या जो आकाश इन पाँच द्रव्यों से रहित है, शून्य है वह शुद्ध आकाश है।

आकाश द्रव्य अन्य द्रव्य के साथ बन्ध को प्राप्त न होने से अशुद्ध नहीं होता तथापि अन्य द्रव्यों के साथ एकक्षेत्रावगाह नहीं होने की अपेक्षा शुद्ध आकाश कहा गया है। जिसमें आकाश द्रव्य के सिवाय अन्य द्रव्य न पाये जायें वह शुद्धआकाश अर्थात् अलोकाकाश है।

ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त 23 वर्गणायें

दृश्यमान, श्रवणीय, घ्राण योग्य, स्पर्शनीय, रसनीय, वजनीय (भारयुक्त) मूर्तिक आकारवान, समस्त सूक्ष्म-स्थूल, ठोस, तरल, गैस, प्लाज्मा, प्रकाश, अन्धकार, छाया, शीत, उष्ण, विद्युत्, भौतिक ऊर्जा, चुम्बकीय शक्ति, विकिरण, विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा, तरंग, X-Ray, विज्ञान में मान्य 102 या 104 या 85 भौतिक मौलिक तत्व, इलेक्ट्रॉन, प्रोटान, न्युट्रान, क्वार्क, अणु-परमाणु, एन्टी-एटम, गुरुत्वाकर्षण शक्ति, जल, वायु, मृदा, अग्नि, विटामिन्स, D. N. A., R. N. A., जीनोम, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, आकाशगंगा, galaxies, Black hole, Dark matter, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, ओरा (प्रभामंडल) कर्म (प्रकृति) आदि सब भौतिक तत्व हैं। क्योंकि सम्पूर्ण उपर्युक्त वस्तुओं के मूलभूत मौलिक तत्त्व शुद्ध परमाणु हैं। परमाणुओं की विभिन्न संख्या, अवस्था, क्रिया-प्रतिक्रिया, संगठन-विघटन मिश्रण के कारण उपर्युक्त वस्तुएँ निर्माण होती हैं अर्थात् यदि उन वस्तुओं का विभाजन होता-होता अन्तिम अविभाज्य शुद्ध परमाणु बनेगा तब उन समस्त वस्तुओं से प्राप्त शुद्ध परमाणुओं का आकार-प्रकार-गुण-धर्म सब समान ही होगा। उनकें किसी भी प्रकार की भिन्नता संभव ही नहीं होगी। इन सब वस्तुओं को जैन धर्मानुसार पुद्गल कहते हैं। प्रकारान्तर से इसे भौतिक तत्त्व कहते हैं।

भौतिक तत्त्व में भी अनन्त गुण-धर्म-अवस्था और शक्ति होती हैं। इसके मूल स्वभाव हैं- मूर्तिक (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण) गलन-पूरन (संघटन/मिलना, विघटन/बिछुडना) इन-गुण-धर्मो के कारण ही उपर्युक्त भौतिक विश्व की तथा कर्म परमाणुओं के बन्ध से युक्त समस्त सूक्ष्म निगोदिया, वायरस, वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य, अन्य दुनिया के समस्त प्राणी जगत् के शरीर आदि का निर्माण होता है। शुद्ध परमाणु से लेकर संख्यात, असंख्यात परमाणु या उनका समूह या स्कन्ध का प्रयोग, ग्रहण, दर्शन, स्पर्शन, भक्षण, श्रवण आदि संभव नहीं है। अनतानत (मध्यम अनन्तानन्त) परमाणुओं के समूह स्वरूप कार्माणु (कर्म-वर्गणा) परमाणुओं के बन्ध स्वरूप उत्पन्न स्कन्ध का प्रयोग, ग्रहण, दर्शन, स्पर्शन, भक्षण, श्रवण आदि संभव है।

परमाणु की अवगाहना शक्ति के कारण एक परमाणु में संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु बन्धावस्था में एक आकाश प्रदेश में अवस्थान कर सकते हैं जब कि एक शुद्ध परमाणु के अवस्थान के लिए एक आकाश प्रदेश चाहिए। ऐसे अनन्तानन्त परमाणुओं के स्कन्ध जो अवगाढ रूप में बँधकर भी सूक्ष्म आकार में रहता है वह भी अदर्शनीय (अचाक्षुष) होता है। इस प्रकार अनन्तानन्त परमाणुओं के समूह स्वरूप वर्गणा भी अदर्शनीय (अचाक्षुष) होती है। इसलिए तो जो हर संसारी जीव जो हर समय अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है और त्याग करता है परन्तु वे देखने में नहीं आती हैं। इलेक्ट्रोन, न्युट्रोन, प्रोट्रोन (जो वास्तविक रूप से स्कन्ध है) को भी कहाँ सामान्य चक्षू से देखा जा सकता है ? सामान्य वायु भी जो अनन्तानन्त परमाणुओं का समुह है तो भी सामान्य चक्षु का विषय कहाँ बनती है ? जब स्कन्ध सूक्ष्मता को त्यागकर स्थूलता को प्राप्त होता है तब जाकर दर्शनीय होता है। यथा

चाक्षुष (देखने योग्य स्थूल) सकन्ध की उत्पत्ति-**भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः**।

Molecules are sometimes produced by the combind action of division and union which can be seen with the eyes.

भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर भेदसंघात का ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, ऐसा कहने पर भेद संघात के ग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए कहा।

अनन्तान्त परमाणुओं से उत्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है तथा कोई अचाक्षुष।

जो उनमें अचाक्षुष (चक्षु-इन्द्रिया का विषय नहीं) है वह स्कन्ध चाक्षुष (चक्षु इन्द्रिय का विषय) कैसे हो सकता है ?

भेद और संघात से अचाक्षुष स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय बनता है केवल भेद से स्कन्ध नहीं बनता।

प्रश्न- इसकी उत्पत्ति कैसी होती है?

उत्तर-सूक्ष्म स्कन्ध से कुछ अंश का भेद होने पर भी यदि उसने सूक्ष्मता का परित्याग नहीं किया है तो वह स्कन्ध अचाक्षुष का अचाक्षुष ही बना रहता है। सूक्ष्म परिणत पुनः दूसरा स्कन्ध उसका भेद होने पर भी अन्य के संघात से सूक्ष्मता का परित्याग करके स्थूलता को प्राप्त हो जाता है तब चाक्षुष हो जाता है अर्थात् आँखों से दिखने लग जाता है।

द्रव्यमन के साथ-साथ मन में उत्पन्न होने वाले संकल्प-विकल्प, राग, द्वेष, ईर्ष्या, आकर्षण-विकर्षण भी कदाचित् भौतिक हैं। इतना ही नहीं कर्म परमाणुओं के क्षयोपशम से जायमान ज्ञान, भाव, संवेग आदि भी कदाचित् सूक्ष्म भौतिक हैं क्योंकि भौतिक कर्म परमाणुओं से समिश्रित हैं। इसलिए उपर्युक्त संकल्प-विकल्प से लेकर ज्ञान आदि अनन्त शक्ति, सम्पन्न नहीं हैं, निर्बाध नहीं है। परन्तु जीव के जो कर्म से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं वे अनन्त हैं अक्षय हैं, अव्याबाध हैं क्योंकि शुद्ध द्रव्य में अनन्त शक्ति प्रकट होती है। जिस प्रकार शुद्ध जीव में अनन्त शक्ति है उसी प्रकार शुद्ध परमाणु, अकाश आदि द्रव्य में भी अनन्त शक्ति होती है।

पुद्गल मुख्यतः 1) शुद्ध (परमाणु) 2)अशुद्ध (वर्गणा,स्कन्ध) रूप में उपलब्ध होता है। बह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त अनन्तानन्त परमाणुओं का आकार-प्रकार, गुण- धर्म एक ही प्रकार का होता है। यह सर्व परमाणु अदृश्य, अग्राह्य आदि पूर्वोक्त विशेषाओं से युक्त है। सम्पूर्ण विश्व में 23 वर्गणायें ठसाठस भरी हुई हैं। वर्गणा में परमाणु समूह (सम्मिलित, ग्रूप) रूप में रहते हैं परन्तु परस्पर बन्धते नहीं हैं अर्थात् अबन्ध अवस्था में रहते हैं। वे 23 वर्गणायें यथा-

1) अणुवर्गणा-Atom, 2) संख्याताणु वर्गणा- Numerable, 3)असंख्याताणु वर्गणा- Innumerable, 4)अनन्ताणु वर्गणा- Infinite, 5) आहार वर्गणा-Assimilation, 6) अग्राह्य वर्गणा- Unreceivable, 7)तैजस वर्गणा-Electric, 8)अग्राह्य वर्गणा-Unreceivable, 9) भाषा वर्गणा- Speech, 10)अग्राह्य वर्गणा-Unreceivable; 11) मनोवर्गणा-Mind, 12) अग्राह्य वर्गणा- Unreceivable, 13) कार्माण वर्गणा- Karmic, 14) ध्रुव वर्गणा-Fixed, 15) सान्तर निरन्तर वर्गणा- Inter-non-Inter, 16) शून्य वर्गणा - Indiffirent, 17) प्रत्येक वर्गणा- Individual 18) ध्रुव शुन्य वर्गणा-Indiffirent, 19) बादर निगोद वर्गणा- Gross common body, 20) शून्य वर्गणा-Indiffirent, 21) सूक्ष्म निगोद वर्गणा -Fine Common body, 22) शून्य वर्गणा-Sphere, 23) महास्कन्ध वर्गणा-Great Molecule,

उपरोक्त 23 वर्गणाओं में से 1) आहार वर्गणा 2)तैजस वर्गणा 3) भाषा वर्गणा 4) मनोवर्गणा 5)कार्माण वर्गणा 6) प्रत्येक शरीर वर्गणा 7) बादर निगोद वर्गणा 8) सूक्ष्म निगोद वर्गणा ही ब्रह्माण्ड के जीवों के उपयोग में आती हैं। शेष 15 वर्गणायें विश्व की रचना; व्यवस्था में काम आती हैं।

अणुसंख्यासखेज्जाणंता य अगेज्जगेहिं अतंरिया ।
आहारतेजभासामण कम्मइया धुवक्खंधा ।। 594
बादरणिगोदसुणा सुहुमणिगोदाणभो महाक्खंधा ।। 595 **गो. जी.**

(1) अणुवर्गणा (2) संख्याताणु वर्गणा (3)असंख्याताणु वर्गणा (4)अनन्ताणु वर्गणा (5) आहार वर्गणा (6) अग्राह्य वर्गणा- (7)तैजस वर्गणा (8)अग्राह्य वर्गणा (9) भाषा वर्गणा (10)अग्राह्य वर्गणा (11) मनोवर्गणा (12) अग्राह्य वर्गणा (13) कार्माण वर्गणा (14) ध्रुव वर्गणा (15) सान्तर निरन्तर वर्गणा (16) शून्य वर्गणा (17) प्रत्येक शरीर वर्गणा (18) ध्रुव शुन्य वर्गणा (19) बादर निगोद वर्गणा (20) शून्य वर्गणा (21) सूक्ष्म निगोद वर्गणा (22) शून्य वर्गणा (23) महास्कन्ध वर्गणा।

1) **अणुवर्गणा** - एक-एक परमाणुओं को अणु वर्गणा कहते हैं।

2) **संख्याताणु वर्गणा-** द्वयणुक से लेकर एक-एक परमाणु बढते-बढते उत्कृष्ट संख्यात परमाणुओं के स्कन्ध पर्यन्त संख्याताणु वर्गणा हैं।

3)असंख्याताणु वर्गणा- जघन्य परिमितासंख्यात परमाणुओं से लेकर एक- एक अणु बढते-बढते उत्कृष्ट असंख्यात परमाणुओं के स्कन्ध पर्यन्त असंख्साताणुवर्गणा है।

4)**अनन्ताणु वर्गणा-** संख्याताणु वर्गणा और असंख्याताणु वर्गणा में विवक्षित वर्गणा को लाने के लिए गुणकार नीचे की वर्गणा से विवक्षित वर्गणा में भाग देने से जो प्रमाण आवे उतना है। जैसे द्वयणुक लाने के लिए द्वयगुण का गुणकार द्वयगुण से त्रयगुण में भाग देने पर जितना प्रमाण आवे उतना है उसके अनन्तर उत्कृष्ट असंख्याताणु वर्गणा में एक परमाणु अधिक होने पर अनन्ताणु का जघन्य होता है। उसे सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग प्रमाण अनन्त से गुणा करने पर अनन्ताणु वर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

5) आहार वर्गणा-उसमें एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की आहार वर्गणा का जघन्य होता है। उसमें सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे जघन्य में मिलाने पर आहार वर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

6) अग्राह्य वर्गणा- उत्कृष्ट आहार वर्गणा में एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की अग्राह्य वर्गणा का जघन्य होता है। उसमें सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से भाग देने से जो लब्ध आवे उसे उसी में मिला देने पर अग्राह्य वर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

7)तैजस वर्गणा- इसमें एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की तैजस शरीर वर्गणा का जघन्य होता है। उसमें सिद्धराशि के अनन्तवें भाग देने से जो लब्ध आवे उसे उसी में मिलाने पर तैजस शरीर वर्गणा का उत्कृष्ट होता है

8)अग्राह्य वर्गणा- उसमें एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की अग्राह्य वर्गणा

का जघन्य होता है। उसमें सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से गुणा करने पर अग्राह्य वर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

9)भाषा वर्गणा- उसमें एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की भाषावर्गणा का जघन्य होता है। उसमें सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे उसी में मिलाने पर भाषा वर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

10)अग्राह्य वर्गणा- उसमें एक परमाणु अधिक होने पर उससे अनन्तगुणा अग्राह्यवर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

11) मनोवर्गणा- उसमें एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की मनोवर्गणा का जघन्य होता है। उसमें सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे उसी में मिला देने पर मनोवर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

12) अग्राह्य वर्गणा- उसमें एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की अग्राह्य वर्गणा का जघन्य है। उससे अनन्तगुणा उसका उत्कृष्ट है।

13) कार्माण वर्गणा- उससे एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की कार्माणवर्गणा का जघन्य है। उसमें सिद्धराशि अनन्तवें भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे उसी में मिलाने पर कामार्णावर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

14) ध्रुव वर्गणा- उससे एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की ध्रुववर्गणा का जघन्य है। उसे अनन्त जीवराशि से गुणा करने पर ध्रुववर्गणा का उत्कृष्ट होता है।

15) सान्तर निरन्तर वर्गणा- उससे एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की सान्तरनिरन्तर वर्गणा का जघन्य है। उसे अनन्तजीवराशि से गुणा करने पर उसका उत्कृष्ट होता है। यहाँ इतना विशेष है कि परमाणुवर्गणा से लेकर सान्तरनिरन्तर वर्गणा पर्यन्त पन्द्रह वर्गणाओं का समानघन अनन्तगुणे पुद्गलों का वर्गमूल प्रमाण होने पर भी क्रमसे विशेषहीन है। उनका प्रतिभागहार सिद्धराशि का अनन्तवाँ भाग है।

16) शून्य वर्गणा-उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तर वर्गणा में एक परमाणु अधिक होने पर उससे ऊपर की शून्यवर्गणा का जघन्य होता है।उससे अनन्त गुणी जीवराशि के प्रमाण से गुणा करने पर उसका उत्कृष्ट होता है।

17) प्रत्येक शरीर वर्गणा- इससे ऊपर प्रत्येक शरीरवर्गणा है। एक जीव के एक शरीर के विस्रसोपचय सहित कर्म- नोकर्म के स्कन्ध को प्रत्येक शरीर वर्गणा कहतें हैं। शून्य वर्गणा के उत्कृष्ट से एक परमाणु अधिक जघन्य प्रत्येक शरीर वर्गणा होती है। जिसके कर्म के अंश क्षय रूप हुए हैं ऐसा कोई क्षपित कर्मांश जीव एक पूर्वकोटी वर्ष आयु लेकर मनुष्य जन्म धारण करके अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष के ऊपर सम्यक्त्व

और संयम को एक साथ स्वीकार करके सयोगकेवली हुआ। वह कुछ कम एक पूर्व कोटी पर्यन्त औदारिक शरीर और तैजसशरीर की अवस्थिति गणना के अनुसार निर्जरा करता हुआ और कार्मण शरीर की गुणश्रेणि निर्जरा करता हुआ अयोगकेवली के चरम समय को प्राप्त हुआ। उसके आयु कर्म औदारिक और तैजस शरीर के साथ नाम, गोत्र, वेदनीय कर्म के परमाणुओं का समूह रूप जो तीन शरीरों का स्कन्ध होता है वह जघन्य प्रत्येक शरीरवर्गणा होती है। इस जघन्य को पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर उत्कृष्ट प्रत्येक शरीर वर्गणा होती है। नंदीश्वर द्वीप के अकृत्रिम महाचैत्यालयों के धूपघटों में और स्वयम्भूरमण द्वीप में उत्पन्न दावाग्नि में असंख्यात आवली के वर्ग प्रमाण बादर पर्याप्त तैजस्कायिक जीवों के शरीर का एक स्कन्ध रूप है । उनमें गुणित कर्मांश जीव बहुत अधिक होने पर भी आवली के असंख्यातवें भागमात्र का विस्रसोपचयसहित उत्कृष्ट संयम उत्कृष्ट प्रत्येक शरीरवर्गणा है।

18) ध्रुव शुन्य वर्गणा- उसमें एक परमाणु अधिक होने पर जघन्य ध्रुवशुन्यवर्गणा होती है। इस जघन्य को सब मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रमाण को असंख्यात लोक से भाग देने पर जो प्रमाण आवे उससे गुणा करने पर उत्कृष्ट भेद होता है।

19) बादर निगोद वर्गणा- उससे एक परमाणु अधिक बादरनिगोद वर्गणा है। बादरनिगोदिया जीवों के विस्रसोपचय सहित कर्म- नोकर्म परमाणुओं के एक स्कन्ध को बादरनिगोद वर्गणा कहते हैं। वह कहाँ पाई जाती है यह कहते हैं-क्षपित कर्मांश लक्षण वाला कोई जीव एक पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला मनुष्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष के ऊपर सम्यक्त्व और संयम को एक साथ धारण करके कुछ कम पूर्व कोटिवर्ष पर्यन्त कर्मों की उत्कृष्ट गुणश्रेणि निर्जरा करते हुए जब सिद्ध पद प्राप्त करने में अन्तर्मुहूर्तकाल शेष रहा तब क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके कर्मों की उत्कृष्ट निर्जरा करता हुआ क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती हुआ।उसके शरीर में जघन्य और उत्कृष्ट से आवली के असंख्यातवें भागमात्र पुलवी एक बन्धनबद्ध होती है, क्योंकि सब स्कन्धों में पुलवी असंख्यातलोकमात्र कहे हैं। एक-एक पुलवी में असंख्यातलोक प्रमाण शरीर होते हैं। सो आवली के असंख्यातवें भाग को असंख्यात लोक से गुणा करने पर शरीरों का प्रमाण होता है। उन शरीरों के प्रमाण के एक शरीर में रहनेवाले निगोदिया जीवों के प्रमाण से गुणा करने पर जितना प्रमाण हो उतना एक स्कन्ध में निगोदिया जीवों का प्रमाण जानना। इनमें से क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय में अनन्त जीव स्वयं आयु पूरी होने से मरते हैं। दूसरे समय में पहले समय में मरे हुए जीवों के प्रमाण में आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर जो प्रमाण आवे उतने अधिक जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीण कषाय गुणस्थान

के प्रथम समय से लेकर आवली पृथक्त्वकाल तक आवली के असंख्यातवें भाग अधिक जीव प्रतिसमय क्रम से तब तक मरते हैं जब तक क्षीण कषाय गुणस्थान का काल आवली के असंख्यातवाँ भाग मात्र शेष रहता है। उसके अनन्तर समय में प्रत्येक असंख्यातवें भाग से गुणित जीव मरते हैं। उसके पश्चात् पूर्व-पूर्व समय में मरे जीवों को संख्यात पल्य से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतने-उतने जीव क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समयपर्यन्त प्रतिसमय मरते हैं। सो अन्त के समय में अलग-अलग असंख्यात लोक मात्र शरीरों युक्त आवली के असंख्यातवें भाग पुलवियों में जो गुणित कर्मांश जीव मरे उनसे हीन शेष जो अनन्तानन्त जीव गुणित कर्मांश रहे, उनके विस्त्रसोपचय सहित जो औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर के परमाणुओं का स्कन्ध वह जघन्य बादरनिगोद वर्गणा है।

20) ध्रुवशून्यवर्गणा- इसमें एक परमाणु हीन करने पर उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा होती है।

21) सूक्ष्म निगोद वर्गणा- (उत्कृष्ट बादरनिगोद वर्गणा)-इस जघन्य को जगत् श्रेणी के असंखयातवें भाग से गुणाकरने पर उत्कृष्ट बादर निगोदवर्गणा है। स्वयम्भूरमणद्वीप में जो मूलक आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतियों के शरीर हैं उनमें एक बन्धनबद्ध जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण पुलवियों में रहने वाले गुणितकर्मांश अननतानन्त बादरनिगोद जीवों का विस्रसोपचय सहित औदारिक, तैजास, कार्मणशरीर का उत्कृष्ट शरीर है वह उत्कृष्ट बारनिगोद वर्गणा है, उसमें एक परमाणु अधिक होने पर तीसरी शून्यवर्गणा का जघन्य होता है। वो कैसे हैं सो कहते हैं-जल-थल अथवा आकाश में एक बन्धबद्ध आवली के असंख्यातवें भाग पुलवियों में क्षपितकर्मांश अनन्तानन्त सूक्ष्म निगोद जीव रहते हैं। उनके विस्त्रसोपचय सहित औदारिक, तैजस, कार्माण,शरीर का संचय सूक्ष्मनिगोद जघन्य वर्गणा है। उसमें एक परमाणु हीन करने पर तीसरी शून्यवर्गणा का उष्कृष्ट होता है।

शंका- बादरनिगोदवर्गणा के उष्कृष्ट में पुलवियाँ श्रेणी के असंख्यातवें भाग कही हैं और सूक्ष्मनिगोदवर्गणा के जघन्य में आवली के असंख्यातवें भाग कही हैं। अतः बादरनिगोद वर्गणा से पहले सूक्ष्मनिगोद वर्गणा होनी चाहिए क्योंकि पुलवियों का प्रमाण बहुत होने से परमाणुओं का प्रमाण बहुत होना सम्भव है ?

समाधान- नहीं, क्योंकि बादरनिगोदवर्गणा के शरीरों से सूक्ष्मनिगोदवर्गणा के शरीरों का प्रमाण सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग गुणित है। इससे वहाँ जीव भी बहुत हैं। अतः उन जीवों के तीन शरीर सम्बन्धी परमाणु भी बहुत हैं । जघन्य सूक्ष्मनिगोदवर्गणा को पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर उष्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा होती हैं। सो कैसे यह कहते हैं।

महामत्स्य के शरीर में एक बन्धबद्ध आवली के असंख्यातवें भागमात्र पुलवियों

में स्थित गुणित कर्मांश अनन्तानन्त जीवों के विस्त्रसोपचय सहित औदारिक,तैजस, कार्मण शरीरों के परमाणुओं का स्कन्ध है वहीं उष्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा होती है।

22) शून्य वर्गणा- (नभोवर्गणा)- उसमें एक परमाणु अधिक करने पर नभोवर्गणा का जघन्य होता है। इसको जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर नभोवर्गणा का उष्कृष्ट होता है।

23) महास्कन्ध वर्गणा- उसमें एक बढाने पर महास्कन्धवर्गणा का जघन्य है। इसमें उसी पल्य का असंख्यातवाँ भाग बढाने पर महास्कन्ध वर्गणा का उष्कृष्ट होता है।

ग्रहणीय 8 वर्गणायें-

1) आहार वर्गणा- अनन्तानन्तप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा जो उत्कृष्ट है, उसमे एक अंक मिलाने पर जघन्य आहार द्रव्यवर्गणा होती है। फिर एक-एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण भेदों के जाने पर अन्तिम आहार द्रव्यवर्गणा होती है। यह जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक हैं। विशेष का प्रमाण अभव्यों से अनन्तगुना अर्थात् सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होता हुआ भी, उष्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणा के अनन्तवेंभाग प्रमाण हैं। औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गल स्कंधों की आहार द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। आहारवर्गणा के असंख्यात खण्ड करने पर बहुभाग प्रमाण आहारक शरीर प्रायोग्य वर्गणाग्र होता है। शेष के असंख्यात खंड करने पर बहुभाग प्रमाण वैक्रियक शरीर प्रायोग्य होता है तथा शेष एक भाग औदारिक शरीर प्रायोग्य वर्गणाग्र होता है । (धवला पु. 14 पृ.560) यह पाँचवी वर्गणा है।

2)तैजस वर्गणा - उष्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर सबसे जघन्य तैजस शरीर द्रव्यवर्गणा होती है। पुनः एक-एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट तैजस-शरीर-द्रव्य-वर्गणा होती है। यह अपने जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक है। अभव्यों से अनन्त गुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण विशेष का प्रमाण है। इसके पुदगल स्कन्ध तैजस शरीर के योग्य होते हैं, इसलिए यह ग्रहण वर्गणा हैं यह सातवीं वर्गणा है।

3) भाषा वर्गणा:-दूसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा में एक अंक के प्रक्षिप्त करने पर सबसे जघन्य भाषा द्रव्यवर्गणा होती है। इससे आगे एक-एक अधिक से क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण जाकर भाषा द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट द्रव्यवर्गणा होती है। यह अपने जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक है। अपनी जघन्य वर्गणा का अनन्तवाँ भाग विशेष का प्रमाण है। भाषा द्रव्यवर्गणा के परमाणु पुद्गलस्कन्ध चारों भाषाओं के योग्य होते हैं तथा ढोल, भेरी, नगारा और मेघ की गर्जना आदि शब्दों के योग्य भी ये ही वर्गणायें होती हैं।

4) मनोद्रव्यवर्गणा:- तीसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर जन्धय मनोद्रव्यवर्गण होती है। फिर आगे एक-एक अधिक के क्रम से अभव्यों से अनन्तगूणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट मनोवर्गणा होती है।यह अपने जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण जघन्य मनोद्रव्य वर्गणा का अनन्तवाँ भाग है। इस वर्गणा से द्रव्य मन की रचना होती है। यह ग्यारहवी वर्गणा है।

5)कार्माण शरीर द्रव्यवर्गणा:- चौथी अग्रहण द्रव्यवर्गणा सम्बन्ध उत्कृष्ट द्रव्यवर्गणा में एक अंक प्रक्षिप्त करने पर सबसे जघन्य कार्माण शरीर द्रव्यवर्गणा होती है। आगे एक-एक प्रदेश अधि के क्रम से अभव्यों से अनन्तगुणे सम्बन्धी उत्कृष्ट होती है। अपनी जघन्य वर्गणा का अनन्तवें भाग प्रमाण स्थान जाकर कार्मण द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। अपनी जघन्य वर्गणा से अपनी उत्कृष्ट वर्गणा विशेष अधिक है। जघन्य कार्माण वर्गणा का अनन्वाँ भाग विशेष का प्रमाण है। इस वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध आठों कर्मों के योग्य हैं। यह तेरहवीं वर्गणा है।

6) प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा:- ध्रुव शून्य द्रव्य वर्गणा के ऊपर प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा है। एक-एक जीव के शरीर में उपचित हुए कर्म और नोकर्म स्कन्धों की प्रत्येक शरीर द्रव्य वर्गणा संज्ञा है अब उत्कृष्ट ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा में एक अंक मिलाने पर जघन्य प्रत्येक शरीर द्रव्य वर्गणा में होती है।

7) बादर निगोद द्रव्यवर्गणा :- उत्कृष्ट ध्रुव शून्य द्रव्यवर्गणा में एक अंक अर्थात् एक प्रदेश के मिलाने पर सबसे जघन्य बादर निगोद द्रव्यवर्गणा होती है। वह क्षीणकषाय के अन्तिम समय में होती है। जो जीव क्षपित कार्मांशिक विधि में आकर पूर्व कोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, अनन्तर गर्भ से लेकर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त का होने पर सम्यक्तव और संयम को युगपत् ग्रहण करके पुनः कुछ कम पूर्व कोटिकाल तक कर्मों की उत्कृष्ट गुण श्रेणी निर्जरा करके सिद्ध होने के अन्तर्मुहूर्त काल अवशेष रहने पर उसने क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया। अनन्तर क्षपकश्रेणी में सबसे उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा कर्म निर्जरा करके क्षीणकषाय हुए। इस जीव के प्रथम समय में अनन्त बादर निगोद जीव मरते हैं। दूसरे समय में विशेष अधिक जीव मरते हैं। इसी प्रकार तीसरे आदि समयों में विशेष अधिक अधिक जीव मरते हैं। यह क्रम क्षीणकषाय के प्रथम से लेकर पृथकूत्वआवली काल तक चालू रहता है। इसके आगे संख्यात भाग अधिक संख्यातभाग अधिक जीव मरते हैं और यह क्रम क्षीणकषाय के काल में आवली का संख्यातवाँ भाग काल शेष रहने तक चालू रहता है। इसके पश्चात् निरन्तर प्रति समय असंख्यातगुणे जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीणकषाय के अन्तिम समय तक असंख्यातगुणे जीव मरते हैं। गुणाकार सर्वत्र

पल्योपम का असंख्यातवें भाग है यहाँ क्षीणकषाय के अन्तिम समय में जो आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। पुलवियाँ हैं, जो कि पृथक्-पृथक् असंख्यातवे लोकप्रमाण निगोद शरीरों से आपूर्ण हैं, उनमें स्थित अनन्तानन्त निगोद जीवों के जो अनन्तानन्त विस्रसोपचय ये युक्त कर्म और नोकर्म संघात हैं। वह सबसे जघन्य बादर निगोद द्रव्यवर्गणा है। स्वयंभूरमण द्वीप की मूली के शरीर में उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा होती है क्योंकि मूली के शरीर में एक बन्धन बद्ध जगत्श्रेणी के असंख्यातेवें भाग प्रमाण पुलवियाँ होती हैं। इस प्रकार यह उन्नीसवीं वर्गणा कही गई है।

8) सूक्ष्म निगोद द्रव्य वर्गणा :- उत्कृष्ट ध्रुवशून्य वर्गणा में एक अंक के मिलाने पर सूक्ष्म निगोद द्रव्यवर्गणा होती है। वह जल में, स्थल में और आकाश में सर्वत्र दिखलाई देती हैं, क्योंकि बादर निगोद वर्गणा के समान इसका देशनियम नहीं है। यह सबसे जघन्य सूक्ष्म निगोद जीव के ही होती है, अन्य के नहीं, क्योंकि वहाँ जघन्य द्रव्य के होने में विरोध है। महामत्स्य के शरीर में एकबन्धनबद्ध छह जीवनिकायों के संघात में उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोदवर्गणा दिखलाई देती है। जघन्य सूक्ष्म निगोदवर्गणा से लेकर उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा पर्यन्त सब जीवों से अनन्तगुणा निरन्तर स्थान प्राप्त होकर एक ही स्पर्धक होता है, क्योंकि मध्य में कोई अन्तर नहीं है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असंख्यात गुणी है। पल्य का असंख्यातवाँ भाग गुणाकार है। यह इक्कीसवीं वर्गणा है।

शेष अग्राह्य एवं शून्य वर्गणायें :- उपर्युक्त 8 वर्गणा से अतिरिक्त अन्य (23-8=15)15 वर्गणायें जीवों के द्वारा ग्रहणीय नहीं हैं अर्थात् अधिकांश वर्गणायें (विभाग तथा संख्या अपेक्षा भी) अग्रहणीय है। तथापि ये वर्गणायें विश्व की व्यवस्था एवं रचना के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। आधुनिक विज्ञान में जो Dark matter की खोज हो रही है उसकी मात्रा विश्व की भौतिक मात्रा की 90% है। Dark matter और उपर्युक्त 15 वर्गणाओं में कुछ समानता संभव है। इसका शोध बोध मैं स्वयं कर रहा हूँ और वैज्ञानिको कों भी करना चाहिए

Tracking clues to the unseen Universe :-

New York : An experiment that tracks subtle motions of subatomic particles called muons has found tantalising evidence for a vast shadow universe of normally unseen matter existing side by side with ours, scientists at the Brookhaven National Laboratory said on Thursday.

The significance of the finding has been thrown into doubt by a series of mathematical errors and theoretical disagreements by physicists around the world who have been weighing the evidence for what would, if correct, rank as one of the greatest discoveries in science.

The Brookhaven "g minus 2" experiment has produced extraordinarily minute observation of the gyrating muons. In a dispiriting turn for the experimenters, though, the theoretical predictions of how encounters with ordinary matter should affect the dance of the particles have come into double. Only through diffrences between the expected and observed behaviour of the muons (pronounced MEW ahnz) could the existence of new matter be inferred. " If you could believe the theory value was stable and reliable, you'd say, 'Hey, there's no question, "said Thomos B. Krik, associate director for high energy and nuclear physics at Brookhaven. "But the theory situation is still not under control. It's just maddening to me."

The existence of the new matter is predicted by an unconfirmed theory called supersymmetry. According to the theory, every known particle in the universe from the electron to the neutrino has a counterpart that has eluded detection. Some versions of the theory suggest that "dark matter" a substance that seems to outweigh ordinary matter in the cosmos, actually consists of tremendous swarms of supersymmetric particles that waft through space.

The test at Brookhaven, at Upton on Long Island, involved a multinational team of scientist. It works something like the high school experiment called Brownian motion, which long ago provided evidence for the atomic

structure of ordinary matter. When seen through a microscope, dust motes in liquids jitter about, because they repeatedly struck by otherwise invisible atoms. NYT News Service.

एकीकृत सिद्धान्त : धार्मिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से

1)सम्पूर्ण चेतन-अचेतन, मूर्तिक-अमूर्तिक, शुद्ध-अशुद्ध, सूक्ष्म-स्थूल, ब्रह्माण्ड-प्रतिब्रह्माण्ड सत्/सत्ता की अपक्षा एक ही है जिसे सत्य/ द्रव्य/महासत्ता परमसत्य कहते हैं। अर्थात् द्रव्य दृष्टि से सत् स्वरूप होने से इस अपेक्षा से वे सब एक समान ही है। इस दृष्टि- कोण ये सत्य अकृत्रिम, शाश्वतिक, अविनाशी, अनादि से है और अन्ततक रहने वाला, सर्वव्यापी, सब के कर्ता-धर्ता-हर्ता, सब के उत्पत्ति के मूल कारण, सब के आधार, सर्वेश्वर, परमेश्वर, ब्रह्मस्वरूप, परापर, परमसत्ता आदि अनन्त अनन्तगुण-धर्म-स्वरूप वाला भी है। जीवतत्त्व/चैतन्य-शक्ति की दृष्टि से ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त जीव भी एक समान (एक जीव द्रव्य के अन्तर्गत) है।

2) अन्तरंग अगुरुलघुगुण एवं बहिरंग काल आदि के कारण ऊपर उल्लेखित सत्य में सतत प्रति समय नवीन पर्याय/ अवस्था की उत्पत्ति होती रहती है, पूर्व पर्याय का विनाश होता रहता है और ध्रौव्यता/ स्थायित्व-स्थिरता कायम भी रहती है। इस दृष्टि से भी ब्रह्माण्ड (प्रतिब्रह्माण्ड, अलोकाकाश भी) एकत्व/ एकसमानता को प्राप्त होता है।

3) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आकाश, गतिमाध्यम द्रव्य (धर्म द्रव्य) स्थितिमाध्यम द्रव्य (अधर्म द्रव्य) काल द्रव्य, अविच्छिन्न रूप से सर्वत्र व्याप्त होने से भी ब्रह्माण्ड घनाकार रूप से एक अखण्ड पिण्ड है। इस ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त परमाणु, 23 वर्गणायें, अनन्तानन्त सूक्ष्म 5 प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावर जीव (वनस्पति, जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी) ठसाठस भरे होने के कारण भी ब्रह्माण्ड एक अखण्ड घनाकार पिण्ड है।

4) String theory आदि वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भिन्न-भिन्न कम्पनों से निर्मित है तथा कम्पनों से व्याप्त है । आधुनिक विज्ञान के अनुसार 13.7 अरब वर्ष पूर्व एक महाविस्फोट से उत्पन्न कंपनों के संयोग से ब्रह्मंड की प्रत्येक वस्तु का निर्माण हुआ है। इस महाविस्फोट के बाद अन्य भी विस्फोट हुए और इनसे विभिन्न कंपन उत्पन्न हुए। इन भिन्न-भिन्न कंपनों के संयोग से सजीव और निर्जीव पदार्थों का निर्माण हुआ। (प्रों. राजकुमार गुप्ता)

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार सबसे सूक्ष्मतम लंबाई का मान 10^{-35} मीटर है। आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण लगभग 10^{-20} मीटर तक की लंबाई नाप सकते हैं।

इसलिए आत्म तथा सत्व, रज और तमो गुण के कंपनों को ये उपकरण नहीं नाप सकते। भविष्य में नैनो-टेक्नोलॉजी के विकसित होने पर यह संभव हो सकता है। जीवात्मा आत्मा के शुद्ध कम्पनों के साथ उस प्राणी के भी सूक्ष्म कंपनो का समूह है, लेकिन यह आत्मा से भिन्न है। किसी भी जीवित प्राणी के अपने जीवन में किए गए कर्मों के कंपनों का सम्मिश्रण होता है। विज्ञान में बहुत अधिक आवृत्ति के कंपनों को केरियर आवृत्ति कहते हैं। जब कम आवृत्ति के कंपनों का इसमें मिश्रण होता है, तो इस घटना को मोडुलेशन क्रिया कहते हैं। इस मिश्रण में से कम आवृत्ति के कंपनों को निकालने और अलग करने की प्रक्रिया को डिमोडुलेशन नाम दिया गया है। इन्हीं क्रियाओं को अपना कर टेलीविजन, टेलीफोन, मोबाइल आदि यंत्र काम करते हैं। जीवात्मा से विकारों के कंपन अलग होने के पश्चात् शुद्ध आत्मा शेष रह जाता है।

जब किसी जीवित प्राणी का जीवन समाप्त हो जाता है, तो उसका जीवात्मा (जो कंपनों का एक समूह होता है) मृत शरीर में से निकल कर बाहर विचरण करता है और उचित समय पर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। परिवर्तन के इस समय का निर्धारण जीवात्मा के कंपनों के गुणों का उपयुक्त शरीर में से उत्पन्न कंपनों के मिलान पर निर्भर करता है।

वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि ब्रह्मांड में उत्पन्न कंपन तीन आयामों के अतिरिक्त दस आयामों वाली जगह तक फैल सकते हैं। ऐसी जगह को कलाबी-याहु स्थान का नाम दिया गया है। कंप्यूटर की सहायता से ऐसी जगहों के छायाचित्र विश्व के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित किये जा चुके हैं। परम वैज्ञानिक जैन तीर्थकरों ने भी कहा कि ब्रह्माण्ड में जो अनन्तानन्त संसारी जीव हैं उनमें भी सतत यथायोग्य मन-वचन-काय के परिस्पंदन से आत्म प्रदेश में परिस्पन्दन होता है जिससे ब्रह्माण्ड में व्याप्त यथा योग्यवर्गणायें (अनन्तानन्त परमाणुओं का समूह) आकर्षित होकर आत्म प्रदेश में प्रवेश (आस्रव) करती हैं और मिथ्या धारणा, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभादि) से आवेशित होकर कर्म रूप में परिणमन करती हैं। ये ही कर्म जीवों को विभिन्न सुख-दुःख आदि के मूल कारण बनते हैं। इसका सविस्तार वर्णन निम्नोक्त है-

कायवाङ्.मनः कर्म योगः। (1) **स्व. सू. अ.7**

yoga is the name of vibrations set in the soul by the activity of body, speech or mind.काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

इस विश्व में कार्माण वर्गणा ठसाठस भरी हुई है। उसमें कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता भी है। परन्तु जब तक जीव के योग एवं उपयोग का निमित्त नहीं मिलता है तब तक कर्म वर्गणा आकर्षित होकर जीव में आकर नहीं मिलती है। इसलिए आस्रव तत्त्व

का वर्णन करने के पहले योग का वर्णन किया गया है क्योंकि योग से आस्रव होता है।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। इस क्रिया से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन हलन-चलन ही योग है। वह निमित्तों के भेद से तीन प्रकार का - काययोग, वचनयोग और मनोयोग।

सः आस्रव ।(2)

This yoga is channel of Asrava or inflow of Karrmic matter in to The soul.

वही आस्रव है।

काययोग, वचनयोग एवं मनोयोग से आस्रव होने के कारण इन योगों को ही आस्रव कहते हैं। कर्म परमाणु का योग के द्वारा आकर्षित होकर आने को आस्रव कहते हैं।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः ।(1) अ.8

Wrong-belief, non abstinence, negligence, passions and activities are the cause of bondage.

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग ये बन्ध के हेतु हैं।

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।(2)

The soul owing to its being with passion, assimulates matter which is fit to form karmas. This is बन्ध bondage.

कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है। जीव के साथ कर्म बन्ध होने के लिए पुद्गल के बन्ध योग्य गुणों के साथ-साथ जीव में भी बन्ध होने योग्य गुणों की आवश्यकता अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य उपादान कारण (अन्तरंग कारण, मुख्य कारण) निमित्त कारण (बहिरंग कारण-गौण कारण) के समवाय से ही होता है। अतः कर्म वर्गणा में स्निग्धत्व-रुक्षत्व गुण होने पर भी जीव में स्निग्धत्व (राग आकर्षण-धन आवेश) रुक्षत्व (द्वेष-विकर्षण ऋण आवेश) गुण नहीं होने पर जीव के साथ कर्मबन्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि जो कार्य जितने कारणों से सम्पादन होता है उसके एक भी कारण के अभाव में वह कार्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा होवे तो सम्पूर्ण कर्म कलंक से रहित सिद्ध भगवान् को भी कर्म बन्ध होने लगेगा और वे संसारी हो जायेगें। इतना ही नहीं अमूर्तिक शुद्ध आकाश, धर्म, अधर्म, एवं काल को भी कर्म बन्ध होने लगेगा और वह भी अशुद्ध होकर संसारी हो जावेगें। परन्तु यह होना कष्ट साध्य नहीं अपितु असंभव ही है।

बन्ध के भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः । (3)

उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार भेद हैं। सामान्य दृष्टि से यह बन्ध एक होते हुए भी विशेष दृष्टि से इनके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। द्रव्यबन्ध, भावबन्ध के भेद से दो भेद, कर्मबन्ध, नोकर्म-बन्ध, भावबन्ध के भेद से तीन प्रकार के हैं- (1)प्रकृतिबंध (2)स्थितबन्ध (3)अनुभव (अनुभाग प्रदेशबन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार के हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म के भेद से बन्ध आठ प्रकार के भी हैं। 148 (एक सौ अडतालीस) भेद रूप कर्म की अपेक्षा बन्ध 148 प्रकार के भी हैं। परन्तु मुख्यतः प्रकृति आदि 4 प्रकार के बन्ध भेदों का वर्णन यहाँ पर किया हैं।

क्रिया भाव विशेषोऽस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।

भाव क्रिया द्वयोपेताः केचिद्थावगता परे॥ (24) पञ्चाध्याध्यी

उन छहों द्रव्यों में दो भेद हैं, कोई द्रव्य तो भावात्मक ही है और कोई भावात्मक तथा क्रियात्मक भी है। जो पदार्थ सदा से रहते हैं, जिसमें हलन-चलन क्रिया नहीं होती है, वे पदार्थ तो भावरूप हैं और जो पदार्थ कभी स्थिर भी रहते हैं और कभी क्रिया भी करते हैं, वे भाव स्वरूप भी हैं और क्रिया स्वरूप भी हैं। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थों में क्रियावती शक्ति है उनमें क्रिया होती है। जिन पदार्थों में क्रियावती शक्ति नहीं है उनमें हलन-चलन रूप क्रिया नहीं होती। वे केवल भाववती शक्ति वाले कहलाते हैं।

जिन पदार्थों में क्रियावती शक्ति नहीं है, केवल भाववती शक्ति है उन्हें अपरिणामी न समझ लेना चाहिए। परिणमन तो सदा सभी पदार्थों में होता है परन्तु परिणमन दो तरह का होता है। जिसमें वस्तु के प्रदेशों का एक देश से दूसरे देश को गमन अर्थात् स्थान से स्थानान्तर हो उसे तो क्रिया रूप परिणमन कहते हैं और जिसमें प्रदेशों का तो हलन-चलन न हो परन्तु पहली अवस्था से दूसरी अवस्था हो जाये उसे भाव परिणमन कहते हैं। दृष्टांत के लिए हमारी लेखनी को ले लीजिए। लेखनी का टूट जाना तो उसका क्रिया रूप परिणमन है और बिना किसी हरकत से रखी हुई नवीन लेखनी का पुराना हो जाना भावरूप परिणमन है। निष्क्रिय भावों में इसी प्रकार का परिणमन होता है।

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीव पुद्गलौ ।

तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥25 पञ्चाध्यायी

जीव और पुद्गल में तो क्रिया और भाव दोनों शक्तियाँ हैं परन्तु धर्म, अधर्म , आकाश और काल ये चार द्रव्य केवल भाव शक्ति वाले ही हैं। इन चारों में क्रिया नहीं होती है ये चारों ही निष्क्रिय हैं।

क्रिया और भाव का लक्षण

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।

भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ।। 26 पञ्चाध्यायी

प्रदेशों के हलने-चलने को क्रिया कहते हैं और भाव उस परिणाम को कहते हैं जो कि प्रत्येक वस्तु में धारावाही (बराबर) रूप से होता रहता है। प्रदेशों का एक स्थान से दूसरे स्थान को आना-जाना तो क्रिया कहलाती है और वस्तु में जो निष्क्रिय भाव हैं उन्हें भाव कहते हैं।

नासं भवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं ।

तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ।।27 पञ्चाध्यायी

यह बात असिद्ध नहीं है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं। उसी परिणमन में कभी-कभी किन्हीं-किन्हीं पदार्थों के प्रदेश भी हलन-चलन करते हैं।

मृतात्मा की गति विग्रह गति में गमन का कारण

विग्रहगतौ कर्मयागः ।25 (स्वतन्त्रता के सूत्र, पृ 150)

Transmigration (i .e. the passage of the soul from one incarnation to another there is only) body vibration by which the electric and molecules are attracted by the soul.

"विग्रह" का अर्थ देह है। " विग्रह" अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है वह विग्रह गति है अथवा विरुद्ध ग्रह को विग्रह कहते हैं जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था में कर्म के ग्रहण होने पर भी नोकर्मरूप पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता वह "विग्रह" है और इस विग्रह के साथ होने वाली गति का नाम विग्रहगति है। सब शरीरों की उत्पत्ति के मूलकारणरूप कार्माण शरीर को "कर्म " कहते हैं तथा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के हलनचलन को "योग" कहते हैं। कर्म के निमित्त से जो योग होता है, वह कर्मयोग है। वह विग्रहगति में होता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इससे नूतन कर्म का ग्रहण और एक देश से दूसरे देश में गमन होता है।

गमन किस प्रकार

अनुश्रेणि गतिः । (26)

In transmigration or passage from one incarnation to another, the souls movement (is always) in a straight line.

श्रेणी- A stright line of spatial units from end to end

paralled with one of the 6 directions; east-west, north, south, up and down either way.

गति श्रेणी के अनुसार होती है।

लोक के मध्य से लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रम से स्थित आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

अनु शब्द "आनुपूर्वी " अर्थ में समर्पित है। इसलिए "अनुश्रेणी" का अर्थ श्रणी की आनुपूर्वी से होता है।इस प्रकार की गति जीव और पुद्गलों की होती है, यह इसका भाव है। इस अनुश्रेणी गति में काल नियम और देश नियम जानना चाहिए।

(1) काल नियम यथा- मरण के समय जब जीव एक भव को छोडकर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं तब उनकी गति अनुश्रेणी ही होती है।

(2) देश नियम यथा- जब कोई जीव ऊर्ध्वलोक से अधोलोक के प्रति या अधोलोक से ऊर्ध्वलोक के प्रति आता जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोक से अधोलोक के प्रति या ऊर्ध्वलोक के प्रति जाता है तब उस अवस्था में गति अनुश्रेणी ही होती है। इसी प्रकार पुद्गलों की जो लोक के अन्त को प्राप्त कराने वाली गति होती है वह अनुश्रेणी ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है, वह अनुश्रेणी भी होती है और विश्रेणी भी। किसी एक प्रकार की होने का कोई नियम नहीं है।

मुक्त जीवों की गति

अविग्रहा जीवस्य। 27

The soul in its pure condition. i.e. the liberated soul has (a straight upward) vertical movement.The movement is called (अविग्रह) because it is quite direct and upward, vertical and there is no turning in it.

मुक्त जीव की गति विग्रह रहित होती है।

जीव की स्वाभाविक गति का प्रतिपादन करते हुए आचार्य नेमिचन्द सिदान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यों के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादक "द्रव्यसंग्रह" शास्त्र में उल्लेख करते हैं कि "**विस्ससोड्ढगइ** "अर्थात् जीव को स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगमन स्वरूप है। अमृतचन्द सूरि तत्त्वार्थसार में जीव एवं पुद्गल के स्वभाव का वर्णन करते हुए उल्लेख करते हैं कि -

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवो जीवा इति जिनोत्तमैः।

अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम्।।32 पृ.199

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान ने जीव को ऊर्ध्व गौरव (ऊर्ध्व गुरुत्व) धर्म वाला बताया है और पुद्गल को अधो गौरव (अधोगुरुत्व) धर्म वाला प्रतिपादित किया है।

पयदि ट्ठिदि अणुभागप्पदेस बंधेहिं सव्वदो मुक्को।

उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसा वज्जं गदिं जंति।।

प्रकृति बन्ध स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध, प्रदेश बन्ध से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने के बाद परिशुद्ध स्वतंत्र शुद्धात्मा तिर्यक् आदि गतियों को छोडकर ऊर्ध्वगमन करता है।

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रह गति च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्य ॥ 28 स्वतंत्रता के सूत्र पृ. 155

विग्रहगति Passage from one incarnation to another of a mundane soul (takes place) before (as the most) A समय is the time taken by an atom of matter in passing from one प्रदेश i.e, point of space to the next. संसारी जीवों की गति विग्रह रहित और विग्रह वाली होती है। उसमें विग्रहवाली गति चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती है परन्तु चौथे समय में नहीं होती है। निकृष्ट क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले जीव को सब से अधिक मोड लेने पडते हैं, क्योंकि वहाँ आनुपूर्वी से अनुश्रेणी का अभाव होने से इषुगति नहीं हो पाती। अतः यह जीव निकृष्ट क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए तीन मोडे वाली गति को प्रारम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोडों की आवश्यकता नहीं पडती क्योंकि, इस प्रकार का कोई उपपाद-क्षेत्र नहीं पाया जाता, अतः मोडे वाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समय में नहीं होती। "च' शब्द समुच्चय के लिए दिया है। जिससे विग्रहवाली और विग्रह रहित दोनों गतियों का समुच्चय होता है।

अविग्रह गति का समय

एक समयाऽविग्रहा। 29

Where the passage is straight and there is no turning, it takes only one samaya. Even an atom of matter is going one end of the Universe to the other in a straight upward on vertcal direction, takes only one samaya if it goes fastest.

एक समय वाली गति विग्रह रहित होती है। जिस गति में एक समय लगता है वह

एक समय वाली गति है।जिस गति में विग्रह अर्थात् मोडा नहीं लेना पडता वह मोडा रहित गति है गमन करने वाले जीव और पुद्गलों के व्याघात के अभाव में एक समय वाली गति लोकपर्यन्त भी होती है।

परम क्रम विकास सिद्धान्तः

भ. महावीर केवल मनुष्यों के भौतिक विकास के लिए ही नहीं बताया परन्तु सम्पूर्ण जीवों के सम्पूर्ण, सर्वाङ्गीण, सार्वभौम, शाश्वतिक विकास के लिए भी समग्र उपाय बताया। उन्होंने सङ्कीर्ण मानवतावादी, मानवाधिकार रूप धर्म से भी अत्यन्त श्रेष्ठ सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदया जीव से लेकर मनुष्य, देव, नारकी, पशु-पक्षी तक के पूर्ण विकास के लिए सर्व जीव हितकारी, **सर्व जीव सुखकारी जीवधर्म** का उपदेश दिया। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** अर्थात् शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक जीव शुद्ध है, बुद्ध है, ईश्वर है, भगवान् कहकर परम साम्यवाद की घोषणा की। इस दृष्टि से उन्होंने जीव और जिनेन्द्र, मानव और भगवान् , खुद और खुदा, बुद्धु और बुद्ध को समान स्थान प्रदान करके जीव की आध्यात्मिक शक्ति का परिज्ञान कराया। उन्होंने परम क्रम विकास सिद्धान्त की स्थापना के माध्यम से यह प्रतिपादन कियाष कि जीव कि क्रम विकास करता हुआ निगोदया, वायरस जीव से केवल जलचर, उभयचर, स्थलचर, वानर, वनचर से लेकर आधुनिक नर ही नहीं परन्तु आध्यात्मिक नर से लेकर भगवान्, ईश्वर तक बन सकता है। यह सिद्धान्त उनका प्रायोगिक सिद्धान्त भी था। क्योंकि स्वयं उहोंने निगोदिया जीव से विकास करते हुए वर्धमान, सन्मति, वीर, अतिवीर, महावीर, केवली, शुद्ध, बुद्ध, परमब्रह्म, परमात्मा बने। (लेखक की कृति-करो साक्षात्कार यथार्थ सत्य का पु. 11)

* प्रत्येक जीव मरने के बाद स्व-कर्मानुसार अधिक से अधिक तीन समय (सेकण्ड का करोडों-अरवों वा भाग)में जन्म ग्रहण कर लेता है। * भगवान् अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्य (शक्ति/सामर्थ्य), दया-करुणा, अक्षय-दातृत्व-शक्ति आदि अनन्त वैभव सम्पन्न होने पर भी उनकी पूजा, प्रार्थना करने वालों के प्रति भी राग करके उन्हें कुछ भी नहीं देते हैं, सहायता नहीं करते हैं, पूजा नहीं करने वालों या उन्हें नहीं मानने वालों या यहाँ तक कि उनके प्रति द्वेष रखने अथवा निन्दा करने वालों को भी किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाते हैं, तथापि भगवान् के प्रति किसी प्रकार के अच्छे भाव, व्यवहार करने वालों को उसके प्रतिफल स्वरूप अच्छे फल मिलते हैं तथा खोटे भाव, व्यवहार करने वालों को खोटा फल मिलता है। यह सब उसके भाव व्यवहार के अनुसार (प्रतिफल/प्रतीवर्ती क्रिया-रिफ्लेक्शन) मिलता है। भगवान तो केवल निमितमात्र/ माध्यम है।

परिशिष्ट – I

विश्व गुरू भारत का वैज्ञानिक पिछडापन कारण–परिणम एवं निवारण

भारत अत्यन्त ही प्राचीन काल से भाषा, गणित, आयुर्वेद, कला, शिल्प, कृषि, सभ्यता, संस्कृति, अस्त्र–शस्त्र, यान–वाहन से लेकर सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्येष्ठ, आध्यात्मिक–विज्ञान का भी शोध–बोध, प्रायोगिक करण के साथ–साथ–प्रचार–प्रसार–प्रशिक्षण देश–विदेश में करके विश्व गुरू रूपी सर्वोच्च गरिमामयी स्थान को सुदीर्घ काल तक सुशोभित किया। दुर्भाग्य से सैकडों वर्षों की पराधीनता के कारण अपनी मौलीकता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, गरिमा आदि से विस्मृत, विचलीत, विमुढ, विमुख होता गया। अभी भी स्वाधीनता के 60 वर्ष बाद भी इन दुर्बलताओं से मुक्त होने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की मन्दता से पूर्व गरिमामयी स्थान को न प्राप्त कर पा रहा है अथवा न आधुनिक प्रगति कर पा रहा है।

oKkfud fiNMkiu dk ifj.kke

पृथ्वी में जनसंख्या की दृष्टि में द्वितीय स्थान, प्राकृतिक 6 ऋतु एंव संसाधन वाला भारत विज्ञान और तकनीक के योगदान की दृष्टि से पृथ्वी में 21 वें स्थान पर है। स्वीडन में 10 लाख आबादी पर 5171 वैज्ञानिक हैं तो जापान में 5085, डेनमार्क में 4822, अमेरीका में 4526 और सिंगापुर में 4352, चीन में 633 है तो भारत में केवल 110 वैज्ञानिक हैं। भारत में 2006, सन में विज्ञान में 3861 और इंजीनियरिंग में 3741 रिसर्च डिग्रियाँ दी गई। 2006 में भारत की वैज्ञानिक राजधानी बंगलौर को 474 अमेरीकी पेटेंट प्राप्त हुए लेकिन इनमें से 92 % विदेशी कम्पनियों को मिले जबकि अनुसंधानकर्ता भारतीय थे। बम्बई के लिए यह आंकडा 70 % और दिल्ली के लिए 57 % है। भारत में सील किए गए पेटेंट की संख्या 1989–90 में 1890 से गिरकर 1999–2000 में 1881 रह गई है, जबकि रिसर्च एवं डेब्लपमेंट (R.&D.) पर खर्च बढता जा रहा है। पिछले 10 वर्ष में यह 232 प्रतिशत बढ गया है। 1998 में भारत के कृषि, जीव विज्ञान, मेडिकल साइंस, रसायन शास्त्र, भैतिक विज्ञान, गणित, इंजीनिरींग तथा भू–विज्ञान में शोध पत्रों का योगदान मात्र 2.2 % रहा। अनेक आधरभूत सुविधओं के होते हुए भी भारत के उद्योगों में 95 % तकनीक विदेशी हैं। अब तो वैज्ञानिक और इंजनियरिंग की पढाई के बाद भी भारतीय छात्रों ने भारतीय प्रशासनिक सेवा को महत्व दिया है तो अनेक प्रतिभा विदेश में चली जाती हैं।

भारत में(1) संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (यू एन ई एस सी ओ) (2) अर्न्तराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आई ए ई ए) (3) विश्व मौसम विज्ञान संगठन (डब्ल्यू एम ओ) (4) संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन (यू एन आई डी ओ) (5) संयुक्तराष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू एन ई पी) (6) विश्व बौद्विक संपदा संगठन (डब्ल्यू आई पी ओ) आदि विज्ञान सम्बन्धी संयुक्तराष्ट्र संघ के अभिकरण एवं उसके मुख्यालय तथा

'नासा' जैसा विशिष्ठ वैज्ञानिक शोध केन्द्र भारत में नहीं है। यह तो यत्किंचित् भौतिक विज्ञान सम्बन्धी उपलब्धिओं के पिछडापन का दिग्दर्शन हुआ। इसके साथ–साथ कर्तव्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, अनुशासन, समयानुबद्धता/समय–प्रबन्धन, स्वच्छता, मौलिकता, राजनीति, कानून, शिक्षा, प्रशासन, चिकित्सा, सेवा, आर्थिक विकास/आर्थिक समानता, बालकल्याण, सामाजिक, धार्मिक, एकता तथा समता की उपलब्धि में भी भारत में पिछडापन है।

उपर्युक्त पिछडापन से भी और भी दुःखद एवं सब पिछडापन के प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से कारण भूत पिछडापन है–आध्यात्मिक (धार्मिक, नैतिक, चारित्रिक, आत्मविश्वास सम्बन्धी, सद्व्यवहारगत) पिछड़ापन। जिस आध्यात्मिकता के कारण भारत विश्व गुरू कहलाया, परतंत्रता के समय में भी इस कारण भारत की संस्कृति को भारतीय विदेशी शासक जाति (वर्ग) ने भी सम्मान किया तथा आधुनिक वैज्ञानिक शोध के कारण तो विदेशी लोग भक्त, अनुयायी बनते जा रहे हैं उस महिमामयी आध्यात्मिक संस्कृति की दुर्दशा भारत में हो रही है। इंटरनेट सर्च इंजन गूगल के अनुसार भारत में ज्यादातर लोगों पर सैक्स (अब्रह्मचर्य) का भूत सवार है जब कि खूलेपन की हवा में जीने वाले भौतिक एवं वैज्ञानिक सम्पन्नता वाले अमेरीकी ईश्वर के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानना चाहते हैं। गूगल के अनुसार ईश्वर के बारे में अधिक से अधिक जानने के इच्छुक देश के क्रम में I फिलीपींस II अमेरीका III सिंगापुर IV आस्ट्रेलिया V कनाडा है तो पहले के 10 शहर अमेरीका के हैं। सैक्स की दृष्टि से क्रम में I पाकिस्तान II मिस्त्र III ईरान IV वियतनाम V भारत है तो 10 शहरों में काहिरा, दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई आदि के नाम है। इस का परिणाम है भारत में 50 लाख से अधिक एड्स रोगी, भ्रूण हत्या, अनैतिक संबन्ध, यौन शोषण, यौन शोषण के बाद की हत्या, सिनेमा, T. V., समाचार पत्रों में सैक्स दृश्य एवं विषयों की अधिकता होती जा रही हैं तथा वैज्ञानिकों, शिक्षकों, लेखकों, परोपकारी, साधु–संत, कृषकादि से भी अधिक महत्व, सम्मान नट–नटी (हीरो–हीरोइन) खिलाडी को प्राप्त हो रहे हैं।

dkj.k ,oa fuokj.k

उपर्युक्त पिछडापन एवं परिणाम के अनेक अन्तरंग तथा बहिरंग कारण होते हैं तथा निवारण के भी अनेक अन्तरंग और बहिरंग कारण होते हैं। इस का कुछ दिग्दर्शन निम्नोक्त हैं–

¼1½ f'k{kk esa lqdh.kZrk&{kqn /;s;&

अधिकांश अभिभावक, शिक्षार्थी, शिक्षक, शिक्षाधीकारी, शिक्षा मंत्री से लेकर शिक्षामंत्रालय का लक्ष्य केवल पुस्तकीय रटन्त जानकारी, परीक्षा में उत्तीर्ण, डिग्री, नौकरी, प्रतिष्ठा, शादी–विवाह, व्यापार–धन्धा आदि हैं। यह सब तो शिक्षा का गौण फल है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है स्वयं की आन्तरिक सुप्त शक्तिओं को जाग्रत करना, शारीरिक–मानसिक–आध्यात्मिक विकास करना, विनम्र, सदाचारी, कर्त्तव्य निष्ठ, सत्यग्राही, सत्य जिज्ञासु, शोधवृत्ति, परोपकारी, ध्येय निष्ठ बनना। एतदर्थ स्कूली शिक्षा का प्रारंभ 5वर्ष की आयु में मातृभाषा में होना चाहिए। अध्ययन स्वच्छ, प्राकृतिक वातावरण में वात्सल्यमय, बोधगम्य, आनन्दप्रद, क्षमता–रूचि–लक्ष्य के अनुकूल, प्रायोगिक पद्धत्ति में होना चाहिए। जिससे बच्चों

को ट्यूशन, कोचिंग का सहारा ना लेना पडे। विद्यार्थी में रूचि, उत्साह उत्पन्न हो ऐसी शिक्षा एवं परीक्षा होनी चाहिए जिससे उन में उत्तरोत्तर जिज्ञासा, ऊर्जा, प्रज्ञा उत्पन्न होगी। प्रतिभा तथा सफलता के लिए तो प्रोत्साहन, पुरस्कार आदि होना चाहिए परन्तु कम प्रतिभा, अनुत्तीर्ण वालों के लिए हतोत्साह, तिरस्कार आदि नहीं होना चाहिए। विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास के लिए अकादमीक अध्ययन के साथ–साथ प्रश्नोत्तर, चर्चा, भ्रमण, परीक्षण–निरीक्षण, सेवा, सहयोग, परोपकार, दया, साहस, स्वस्थ्य–मनोरंजन, सामाजिक–राष्ट्रीय–सांस्कृतिक कार्य में सहभागीता, विविध प्रकार के श्रेष्ठ साहित्यों का अध्ययन–चिन्तन–मनन–शोध–बोध, प्रदूषण रहित वातावरण, व्यायाम, प्राणायम, योग, ध्यान आदि की भी आवश्यकता है। केवल रटन्त जानकारी, दबाव, तनाव, अयोग्य रुढिवादि शिक्षा, परीक्षा से वैज्ञानिक पिछडापन दूर होना संभव नहीं है। भारत में औसत स्कूली बच्चा आठवीं कक्षा में उतना ज्ञान अर्जित कर रहा है जितना दूसरी कक्षा में करना चाहिए। देश के 31 प्रतिशत प्राइमरी शिक्षक अप्रशिक्षित है। सर्वे बताते है कि प्राथमिक शलाओं में चार में सें एक अध्यापक स्कूल से गायब रहता है और उपस्थित में से दो से एक बच्चा को नहीं पढाता है। चार साल की स्कूल शिक्षा के बाद भी 38 प्रमितशत विद्यार्थी एक छोटा सा आसान पैराग्राफ नहीं पढ सकते और 55 प्रतिशत विद्यार्थी 100 को 5 से भाग नहीं दे सकते। 15 प्रतिशत से भी कम इंजीनियर और आईटी छात्र रोजगार पाने के काबिल हैं, बाकी तो वैश्विक मानकों के हिसाब से नौकरी पाने के योग्य नहीं हे। (nfud&HkkLdj)

वैज्ञानिक ज्ञान के लिए वैज्ञानिक साहित्यों के गहन–गंभीर सूक्ष्म–समीक्षात्मक अध्ययन–शोध–बोध के साथ–साथ वैज्ञानिकों की जीवनी भी पढाना चाहिए जिससे प्रेरणा, मार्गदर्शन, प्रोत्साहन प्राप्त हो। साक्षात् वैज्ञानिकों से भी विद्यार्थीओं को प्रशिक्षण, मार्गदर्शन प्राप्त होना चाहिए।

भारतीय (वैदिक, जैन, बौद्ध) प्राचीन ज्ञान–विज्ञान, दर्शन, आयुर्वेद, गणित, आध्यात्मिक आदि के श्रेष्ठ, उपयोगी साहित्यों का तथा उस में निहित सत्य–तथ्यपूर्ण, सर्वजीव हितकारी विषयों का अध्ययन भी प्राथमिक कक्षा से लेकर विश्वविद्यालय, अनुसंन्धान केन्द्र, वैज्ञानिक प्रयोगशाला में भी होना चाहिए। क्योंकि इन साहित्यों में आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के प्रायः हर विषय के साथ–साथ इससे भी आगे का विषय है। शिक्षा की संकीर्णता तथा धार्मिक रुढिवादीता से ऊपर उठकर वैज्ञानिक सत्यग्राही दृष्टिकोण से यह कार्य होना चाहिए। जैसा कि विदेश के वैज्ञानिक वहाँ के साहित्य, शिल्प, चित्र, ममी, प्रकृति, पुरातत्त्व से लेकर किम्बदन्ती के भी वैज्ञानिक अनुसन्धान करके विभिन्न सिद्धान्तों का शोध कर रहे हैं। सच्चे, आदर्श, ज्ञानी साधु–संत का भी प्रवचन, मार्गदर्शन शिक्षा केन्द्रों को प्राप्त करना चाहिए। शिक्षाप्रद वैज्ञानिक डिस्कवरी, नेशनल जियोग्राफि आदि चैनल, पत्र, पत्रिका आदि का भी अध्ययन करना चाहिए।

विदेश की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, वैज्ञानिकता, प्रगतिशीलता को हमारी महान् संस्कृति, सभ्यता, आध्यात्मिक, परिस्थिति आवश्यकता के अनुसार तो विवेक पूर्ण स्वीकार करना चाहिए परन्तु उनकी अपसंस्कृति या हमारी संस्कृति आदि के विध्वंसक किसी भी विषय वस्तु

नियम, कानून, शिक्षा, परम्परा, रीति, रिवाज, खान–पान, वेष–भूषा, रहन–सहन, फैशन–व्यसन आदि को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

Hkkjr dh d|N J"B oKkfud lR;&rF;

योग–ध्यान, गणित, आयुर्वेद, वसुधैव कुटम्ब, स्याद्वाद, अनेकान्त, प्रत्येक जीव में भगवान् की दृष्टि, संयुक्त परिवार, सामाजिक संरचना, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, सहिष्णुता, सादा जीवन उच्चविचार, सहअस्तित्व, पर्यावरण सुरक्षा, परोपकार, दान, त्याग, ऋषि, मुनि, साधु–संत, बुद्ध, तीर्थंकर, महापुरूष, वैज्ञानिक, लेखक, कवि आध्यात्मिकता, कर्म सिद्धान्त, मनोविज्ञान, शिक्षा विज्ञान से लेकर आत्मोपलब्धि, मोक्ष आदि–आदि।

½2½ /ke esa :f<oknhrk

Hkkn&Hkko&भारतीय धर्म (जैन, वैदिक, बौद्ध) में केवल आध्यात्मिकता हीनहीं है अपितु इस में ज्ञान–विज्ञान, दर्शन, गणित, आयुर्वेद, जीव–विज्ञान, ब्रह्माण्ड–विज्ञान, अणु–विज्ञान, मनोविज्ञान, सापेक्ष सिद्धान्त, राजनीति, कानून,शिक्षा–मनोविज्ञान, पर्यावरण सुरक्षा, पारिस्थितिकी, विश्व शान्ति, विश्व मैत्री आदि समावेश हैं परन्तु अधिकांश धार्मिक गृहस्थ से लेकर साधु–संत तक स्व–स्व धार्मिक रीति–रिवाज, क्रिया–काण्ड, पर्व–उत्सव को येन–केन रूप से मानते–मनवाते हैं परन्तु उपर्युक्त आध्यात्मिक के महान् गुणों से प्रायः वंचित ही नहीं है किन्तु उससे विपरीत कार्य करते हैं। अपने अपने धार्मिक मत–पंथ–परम्परा के अच्छे गुणों एवं गुणी से वंचित होने के साथ–साथ दूसरे धार्मिक मत पंथ परम्परा के गुण–गुणी से केवल दूर नहीं रहते हैं परन्तु उनसे घृणा, द्वेष, भेद–भाव, लडाई–झगडा करते हैं। इसी प्रकार शिक्षा, राजनीति, कानून भी भारतीय आध्यात्मिक के अच्छे गुण एवं गुणी से भी वंचित हैं। अतः भारत को वैज्ञानिक पिछडापन से दूर होने के लिए उपर्युक्त आध्यात्मिक के अच्छे गुण एवं गुणी को केवल धार्मिक जनों को स्वीकार ही नहीं करना चाहिए परन्तु शिक्षा, अनुसंन्धान, विज्ञान, कानून, राजनीति में भी ही स्वीकार्य होना चाहिए। धार्मिक बाह्य क्रिया–काण्ड में समय–शक्ति–साधन बुद्धि कम लगाकर उसके अच्छे गुण एवं गुणी के लिए अधिक लगाना चाहिए। /ke esa oKkfudrk rk foKku esa vk/;kfRedrk gkuk oKkfud fiNMkiu dk nj dju dk ,d lkä ek/;e gS tks Hkkjr ds fy, vU; n'kksa ls Hkh ljy lHko gS vkj vfr vko';d gA वैज्ञानिक दौलत सिंह कोठारी, राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम आदि इसके लिए आर्दश उदाहरण है।

3½ v;kX; ljdkj] dkuwu]uk dj 'kkgh

स्वयं सरकार के मंत्री आदि, कानून एवं न्यायाधीश, नौकरशाही आदि को भी वैज्ञानिक ज्ञान–रूचि–समर्थक–सहयोगी होना चाहिए जैसा कि अमेरीका आदि देश में होता है। परन्तु अधिकांश मंत्री इस दृष्टि से केवल अपात्र ही नहीं हैं अपितु कुपात्र हैं। सरकार में नट–नटी (अभिनेता) खिलाडी, बाहुबली, धनबली, अपराधी आदि अपात्र–कुपात्रों का जितना आदर–सम्मान, प्रवेश–वर्चस्व है उतना वैज्ञानिक, ज्ञानी–गुणी, सज्जनों का नहीं है। भारतीय न्यायपालिका को भी प्रगतिशील उदारवादी वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्रणाली से युक्त

होना चाहिए। उसे स्वयं आदर्श होने के साथ–साथ भ्रष्टाचार, हिंसा, अन्याय, अत्याचार, अनीति, पक्षपात, असत्य, अंधविश्वास, रूढिवादीता, संकीर्णता आदि दूर करने के लिए भी स्वेच्छा से विवेकपूर्ण, समयोचित कार्य करना चाहिए। परन्तु अनेक क्षेत्र में अनेक समय न्यायपालिका यह सब कार्य निष्पक्ष रूप से नहीं कर पाती है तो कभी–कभी असम्यक् फैसला करती है। यथा–कुछ वर्ष पहले सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला किया कि दूर के बधशाला में पशुओं को काटने के लिए ले जाने पर उन्हें पीड़ा होती है इसलिए बधशाला पास–पास में होना चाहिए। क्या यह निर्णय प्राकृतिक न्याय, पशु–अधिकार, पर्यावरण सुरक्षा, जीने का अधिकार, अहिंसा, संवेदनशीलता, मानवीयता, वैज्ञानिकता आदि की दृष्टि से न्याय संगत है ? जब कि विज्ञान के अनुसार प्रकृति के सन्तुलन के लिए प्रकृति के किसी भी जीव को या अंग को क्षति नहीं पहूँचाना चाहिए। एक प्रजाति के नाश से और भी 32 प्रजातियों का नाश हो जाता है। बुचड़खाने में पशुबध से जल, वायु, मृदा आदि प्रदूषित होता है; अनेक रोग फैलते हैं। एक किलो मांस के लिए 18 किलों अनाज एवं अनेक लीटर पानी बर्बाद होता है। इसी प्रकार सरकार एवं कानून को वैधानिक रूप से पशुहत्या, पशुबली के साथ–साथ मद्य, तम्बाखू आदि नशीली वस्तु, अश्लीलता,वैश्यावृत्ति आदि को न रोकना वैज्ञानिक पिछड़ापन के लिए भी कारण है।

नौकरशाही–प्रशासनीक अधिकारी वर्ग को भी घुसखोरी, भ्रष्टाचारी, दादागीरी, कामचोर प्रवृत्ति को छोड़कर वैज्ञानिक–उदारवादी, कर्त्तव्यनिष्ठ, राष्ट्रवादी भाव एवं व्यवहार वाला होना चाहिए। इसी प्रकार पुलिस विभाग से लेकर समस्त सरकारी कर्मचारिओं को होना चाहिए। भारत में विज्ञान, वैज्ञानिक, वैज्ञानिक सोच, वैज्ञानिक सोच वाले साधु–संत– धार्मिक जन, वैज्ञानिक कार्यक्रम, वैज्ञानिक चर्चा–लेख–साहित्य–व्यवहार प्रति वह आदर, सम्मान नहीं हैं जितना कि धन, धनी, नट–नटी, नेता–अभिनेता, खिलाड़ी, पंथ–वादी, कट्टर धार्मिक जन एवं साधु संत के प्रति है। lkekU; r% ykx ugh tkurs fd lR;&ijd] dlec)] 0;ofLFkr Kku] lkp] 0;ogkj] dFku gh lPpk foKku gA

¼4½ vfHkHkkod ,oa turk Hkh gs nk"kh

अधिकांश भारतीय अभिभावक एवं जनता भी येनकेन रूप से स्वयं एवं अपने बच्चों की थोडी बहुत पढाई से धन, मान, सम्मान प्राप्त करता चाहती है। प्रायः सरकारी शिक्षा विभाग से लेकर प्राइवेट शिक्षा केन्द्रों तक का इस क्षुद्र स्वार्थ पूर्ण लक्ष्य के कारण भी भारत में वैज्ञानिक पिछड़ापन हैं। इस प्रकार पिछड़ापन में विद्यार्थी, अभिभावक, जनता, शिक्षक, शिक्षा पद्धति, शिक्षा विभाग, परीक्षा पद्धति, धर्म, सरकार, कानून, नौकरशाही आदि न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से उत्तरदायी है। उपर्युक्त दोषों को दूर करके पूर्वोक्त गुणों के आवलम्बन से भारत पुनः वैज्ञानिक–आध्यात्मिक विश्वगुरू बनने का अधिकारी है। इस अधिकार को प्राप्त करना हम सब का नैतिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय पवित्र कर्त्तव्य है।

परिशिष्ट – II

f'k{kk&ijh{kk e@ls J"Brk ikIr djus ds mik;

जिस प्रकार एक योग्य छोटा सा बीज योग्य भूमि, जल, वायु, सूर्य किरण, खाद, सुरक्षा के कारण योग्य काल में अंकुरित–विकसित होकर विशाल वृक्ष बनकर पुष्प, फल, छाया, सुगन्धी, औषधि, प्राणवायु, लकड़ी आदि प्रदान करता है, प्रदूषण दूर करने में निमित्त बनता है, मृदा क्षरण को रोकता है, भूमि की जलधारण क्षमता में सहायक बनता है, ग्लोबल वर्मिंग एवं ओजन परत के छेद को कम करने में सहायक बनता है, अनेक बीजों के उत्पादन के माध्यम से वंशवृद्धि में कारण बनता है, पशु–पक्षी,, कीट–पतंग से लेकर मनुष्य तक के जीवन निर्वाह, निवास के लिए सहयोगी बनता है। उसी प्रकार योग्य शिक्षार्थी योग्य रूचि, उत्साह, एकाग्रता, पुरूषार्थ, जिज्ञासा, समझ, शंका, समाधान, तर्क, महान् ध्येय, सत्य निष्ठा, क्रमबद्ध–व्यवस्थित–सतत–अध्ययन, चिन्तन, परीक्षण, निरीक्षण, प्रायोगिक करण, शिक्षक, साहित्य, ज्ञानोपकरण, स्वच्छ–शान्त–एकान्त–वातावरण, सात्विक–शुद्ध–पौष्टिक भोजन–पानी–औषधि, व्यायाम, (व्यायाम से दिमाग के एक भग में नए ब्रेन सेल का निर्माण होता है, जिसका सम्बन्ध मेमोरी और मेमोरी लॉस से होता है) योग–ध्यान, शान्त चित्त में सक्रिय चिन्तन, योग्य अनुकूल माता–पिता–अभिभावक समाज–मित्र–मंण्डली, फैशन–व्यसन–आडम्बर रहित सादा–सरल–सहज–जीवन, सुव्यवस्थित जीवन चर्या, योग्य–विश्राम, शिक्षार्थे प्राकृतिक–ऐतिहासिक–धार्मिक–वैज्ञानिक स्थलों की यात्रा एवं अध्ययन, पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन के अतिरिक्त भी अच्छे–सच्चे नैतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, महापुरूषों की जीवनी, आध्यात्मिक, आयुर्वेदिक साहित्य, पत्र–पत्रिकायें, डिस्कवरी,, नेशनल जियोग्राफि चैनल आदि के भी अध्ययन से स्व–पर–रा"ट्र–विश्व हितै"kh curk gA। सच्चे–अच्छे साधु–संतों के प्रवचन, उनके साहित्य, उनके मार्गदर्शन, उनकी सेवा ,परोपकार, राष्ट्र सेवा, पवित्र धार्मिक कार्यक्रमों में सक्रिय सहभागीता, प्रार्थना, पवित्र–लक्ष्य–भाव एवं व्यवहार, आध्यात्मिक–चिन्तन– अध्ययन आदि का शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से सूक्ष्म–व्यापक उतना प्रभाव पडता है जितना कि प्राणवायु का प्रभाव स्वास्थ्य, बुद्धि, जीवन के क्षेत्र में पडता है। इसी प्रकार योग्य शिक्षार्थी, योग्य पद्धति से, योग्य शिक्षक से शिक्षित (संस्कारवान,श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, सदाचारी, समर्थ) बनकर स्व–पर परिवार–समाज–राष्ट्र विश्व के लिए उपकारी बनता है। संक्षिप्ततः यह है शिक्षा में/से श्रेष्ठता प्राप्त करने के उपाय। केवल येनकेन उपाय से परीक्षा में उत्तीर्ण होना, डिग्रीयाँ प्राप्त करना,नौकरी प्राप्त करना, धन–मानादि प्राप्त करना, केवल क्षुद्र स्वार्थ–सिद्धि में शिक्षा का उपयोग करना वस्तुतः शिक्षा में/ से श्रेष्ठता प्राप्त करना नहीं है। जैसा कि रावण से लेकर आतंकवादी, भ्रष्टाचारी नेता आदि साक्षर–राक्षस है न कि योग्य शिक्षित।

¼1½ ;kX; f'k{kkFkh ,oa f'k{kd–

जिस प्रकार योग्य बीज ही मृदादि योग्य निमित्त को प्राप्त करके योग्य समय पर

फलादि को उत्पन्न करता है उसी प्रकार योग्य शिक्षार्थी योग्य शिक्षकादि के कारण श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, जिस प्रकार कि अयोग्य बीज (अपरिपक्व, सढा–गला, जला, कीडा लगा हुआ बीज) योग्य मृदादि को भी प्राप्त करके योग्य फलादि को उत्पन्न नहीं कर सकता है उसी प्रकार अयोग्य (अपरिपक्व आयु–2–3 वर्ष के शिशु, जिस विषय में जिसकी रूचि या योग्यता न हो, अस्वस्थ, मानसिक विकलांग आदि) शिक्षार्थी को भी दी गई शिक्षा ज्यादा फलप्रद नहीं है। वैसे भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में गर्भधारण के पूर्व से लेकर गर्भावस्था तथा शिशु (5 से 7 वर्ष की आयु तक) तक अनक्षरी परन्तु संस्कार पूर्ण प्रायोगिक शिक्षा के बाद विद्यालय भेजना चाहिए। शिक्षार्थी की रूचि, योग्यता, लक्ष्य के अनुकूल योग्य, प्रतिभावान्, कर्त्तव्यपरायण, अनुभवी, सज्जन, चारित्रवान्, परोपकारी, वात्सल्यमूर्ति, विद्वान्, निर्लोभ, दयालु शिक्षक द्वारा आत्मियता से शिक्षा प्राप्त होना चाहिए।

¼2½ v/;;u dh i)fr&शिक्षार्थी को बोधगम्य, सरल, रूचिकर, सोदाहरण सहित सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक रूप से समझना चाहिए। विद्यार्थी की जिज्ञासा, शंका, कठिनाईयों का समाधान गुरू द्वारा आत्मियता एवं शान्ति से अवश्य होना चाहिए। अन्यथा विद्यार्थी को विषय समझ में नहीं आयेगा जिससे विद्यार्थी रटता रहेगा और भूलता जायेगा (आगे पाठ पीछे सपाट) जिससे वह तनाव, डिप्रेसन स्ट्रेस, चिन्ता, शंका, भय, फोबिया, नर्वसनेस, घबराहट,एग्जाम एंगजाइटी, एकाग्रता का अभाव, शिक्षा में अरूचि, शिक्षा से जी चुराना, शिक्षा को बोझ रूप में अनुभव करना, घर से भाग जाना से लेकर आत्महत्या का शिकार हो सकता है। शिक्षा की परीक्षा या असफलता उसकी वास्तविक जीवन की ही परीक्षा या असफलता बन सकती है।

¼3-½ ;kn j[ku% d:mik;&विद्यार्थी को उपर्युक्त सही पद्धति से क्षमता के अनुसार सतत अध्ययन करना चाहिए। परीक्षा के समय कृत्रिम उपाय से(चाय, कॉफी, सिगारेट आदि पीकर) रात्रि में अधिक जगकर अध्ययन नहीं करना चाहिए। ऐसी पढाई से तेजगति से मस्तिष्क में सूचनाओं का प्रोसेस नहीं हो पाता है। इससे यह अनुभव होता है कि जैसे कुछ याद नहीं हो रहा है। मस्तिष्क में दो प्रकार की मेमोरी होती है। (1) शॉर्ट टर्म (2) लॉन्ग टर्म मेमोरी । शॉर्ट टर्म मेमोरी में सीमित क्षमता होने से नई सूचनाएं आने पर पुरानी सूचनाएं (याद किया विषय) गायब हो जाती है। शॉर्ट टर्म मेमोरी (कम अवधि के याद) को धारणा/दीर्घ अवधि के याद (लॉन्ग टर्म मेमोरी) में बदलने का एकमात्र तरीका है विषय को समझ–समझ कर बार–बार रिवाइज (फिर–फिर पढना)करना। धारणा एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया है जो मस्तिष्क के तन्तुओं के मध्य नए कनेक्शन (सम्बन्ध) बनने एवं विशेष प्रकार के प्रोटीन्स के संश्लेषित होने पर होती है जो कि एक धीमी प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया एक निश्चित गति से अधिक तीव्र गति से नहीं होती है। दीर्घकालीन स्मरण में ही अधिक सूचनाओं (जानकारियाँ विषय) को एकत्र करने की क्षमता होती है। जिससे याद किये हुए विषय अच्छी तरह बहुत समय तक बिना कंफ्युजन मस्तिष्क में रहते हैं। कठिन, गहन, सूक्ष्म, महत्वपूर्ण विषयों का अध्ययन धीरे–धीरे, समझ–समझ कर बार–बार पढना चाहिए।

और उसे अपनी भाषा में नोट करके याद करता रहना चाहिए परन्तु सरल विषय को भी बार–बार नहीं रटना चाहिए। दिमाग के विचार के अनुसार शरीर, तंत्रिकाएं, मांसपेशियाँ काम करती हैं। इसलिए यदि दिमाग में रूचि उत्साह याद, सकारात्मक विचार है तो परिणाम भी तदनुकूल मिलेगा और विपरीत है तो विपरीत मिलेगा।

¼4-½ ?kkrd ,Xtke LVªl lcp&शिक्षार्थी, शिक्षक, अभिभावक, सहपाठी, मित्रमण्डली आदि को तो सही शिक्षा एवं उसके अच्छे परीणाम के बारे में चिन्तन, पुरूषार्थ, सहयोग करना चाहिए परन्तु चिन्ता, तनाव, दबाव, अति महत्वकांक्षा, जल्दबाजी, टोकाटोकी, ईर्ष्या, अस्वाथ्य तुलना, प्रतिस्पर्द्धा आदि नकारात्मक घातक कारकों से बचना चाहिए। अन्यथा ''चौव्वे छव्वे होने के लिए गये रह गये दुव्वे'' ''माया मिली न राम '' की संभावना रहती है। कॉन्वेन्टरी युनिवर्सीटी के मनोचिकित्सकों का कहना है कि एक्जाम स्ट्रेस बडा घातक होता है। युनिवर्सीटी ऑफ हैल्थ एण्ड सोशल साइंसेस से जुडे रोब वाइल्ड और डॉ. ओरला डुन ने ए लेवल के विद्यार्थीयों पर एक अध्ययन किया और पाया कि उनमें से आधे से ज्यादा के लिये परीक्षाएं अत्यधिक तनावपूर्ण होती है । बहुत से विद्यार्थीयों ने कहा कि एक्जाम स्ट्रेस के कारण उन्हें भूख न लगने, किसी काम में मन न लगने , चक्कर आना, नींद न आना और सिर दर्द आदि समस्याएं झेलनी पडती हैं। और आठ फीसदी ने यह कहा कि एग्जाम स्ट्रेच उन पर इतना हावी हो जाता है कि उनके जहन में आत्म हत्या करने तक की बात आती है। परीक्षा के समय अच्छी तैयारी करने के बाद भी यदि परीक्षा को लेकर चिन्ता रहने पर प्रश्न पत्र सामने आने पर दिमाग का एंग्जाइटी लेवल इतना बढ जाता है कि दिमाग विचार शून्य हो जाता है जिससे प्रश्न आते हुऐ भी कई बार विद्यार्थी भूल जाते हैं या उत्तर गलत लिख देते हैं। तनाव, अवसाद,से दिमाग के हिप्पोम्पस भग की कोशिकायें क्षय होती हैं जो कि सीखने, याद रखने और भवनाओं से सम्बधित है इसलिए इन कोशिकाओं के क्षय से सीखने, याद रखने और भावनाओं में भी कमि होती है । इस भाग में आजीवन नई कोशिकायें बनती रहती हैं। कोशिकायें तनाव से तुरन्त नहीं मरती है किन्तु 24 घंटे से भी अधिक समय लगता है। कोशिकाओं के क्षय दौरान ही इलाज से उन्हें बचाया जा सकता है। इसलिये स्वयं भी चिन्ता से दूर रहे तथा अन्य लोग भी ऐसा कोई व्यवहार, चर्चा आदि न करे जिससे चिन्ता उत्पन्न हो।

¼5½ ijh{kk dh lgh r;kjh;k&उपर्युक्त दोषों से रहित एवं गुणों से सहित सतत अध्ययन आदि करना चाहिये परन्तु परीक्षा के समय रात को अधिक जग कर पढने से और उचित विश्राम , भोजन , भ्रमण , योग, ध्यान, प्रार्थना, दैनिक चर्या आदि नही करने से शरीर अस्वस्थ, थका हुआ हो जाता है। मन मे तनाव, तन्द्रा के साथ–साथ याददाश्त कम हो जाती है। अमरीका के प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों के अनुसार नींद पूरी नहीं होने का असर व्यक्ति के दिमाग पर पड़ सकता है। इससे उन कोशिकाओं का निर्माण रूक सकता है, जो याददाश्त जीवित रखने में मदद करते हैं। ब्रिटेन के एक वैज्ञानिक का यह कहना था कि यह जानना दिलचस्प होगा कि क्या रात भर नहीं सो पाने का भी उतना ही असर होता है, जितना कि कम नींद ले पाने का। नींद पूरी नहीं होने की वजह से थकान वाला रसायन

बढ़ता है और वही यादें या स्मृतियां सम्बन्धी सेल्स बनने से रोकता है। सेल निर्माण की प्रक्रिया दो सप्ताह तक शुरू नहीं हो सकी थी, ये सेल्स बनाने के लिए दिमाग को खासी कसरत करनी पड़ी। अतः रात को पर्याप्त निद्रा लेने के बाद उचित समय में जगकर प्रातः कालिन क्रियाओं से निवृत होकर मुख्य मुख्य विषयों का ध्यानपूर्वक रिवाइज करना चाहिये। शान्ति पूर्वक सात्विक, शुद्ध, ताजा, भोजन या अल्पाहार करके परीक्षा के आवश्यक उपकरण लेकर निर्धारित परीक्षा समय से 10–15 मिनट पहले परीक्षा स्थल पर पहूँच जाना चाहिये जिससे थकान दूर हो एवं अव्यवस्था न हो । उस समय मन को शान्त एवं एकाग्र करने के लिये प्राणायाम–ध्यान पूर्वक भगवान का स्मरणे करना चाहिये या निम्न मंत्र को जपना चाहिये।

Å gh ,i gh Å IjLoR;i ue% AA

इस मंत्र को रोज 108 बार जप करना चाहिये । परीक्षा देने के पहले या अध्ययन के पहले 9 से 21 या 27 बार जाप करना चाहिये । इसके अनन्तर प्रश्न पत्र को ध्यानपूर्वक क्रमशः पढते जाना चाहिये और जिसका उत्तर मालुम है उसमे राइट चिन्ह देते जाना चाहिये । पूर्ण प्रश्न पत्र पढने के बाद जिसका उत्तर पूर्ण सही आता है उसका उत्तर लिखना चाहिये । इससे आत्म विश्वास एवं उत्साह बढेगा जिससे आगे के उत्तर लिखने में सकारात्मक प्रभाव पडेगा। पहले–पहले ही उत्तर गलत लिखने से आगे के उत्तर में नकारात्मक प्रभाव पडेगा। इसके साथ ही साथ परीक्षा पेपर जांच करने वालो के ऊपर भी प्रभाव पडता है। परीक्षार्थी एवं परीक्षा स्थल का वातावरण भी शान्त , उत्साहवर्धक, आत्म विश्वास पूर्ण होना चाहिये। इधर उधर बिना सोचे, देखे, सुने, बोले, नकल, चोरी किये पूर्ण उत्तर तथा आवश्यक रोल नंबर आदि लिखना चाहिये । यदि परीक्षा का समय बचा हो तो उत्तर पुस्तिका चेक कर लेना चाहिये। कुछ कठिन शब्दो के स्पेलिंग नहीं आते हैं तो प्रश्न पत्र में उसके सही स्पेलिंग है तो उसे वहाँ से देखकर लिखना चाहिये। परीक्षा में अधिक लिखना रहता है इसलिये धीरे धीरे तो नहीं लिखना चाहिये अन्यथा कुछ के उत्तर छूट सकते हैं तथापि राइटिंग शुद्ध, स्पष्ट, पढने योग्य होना चाहिये अन्यथा नंबर कटते हैं।

उपर्युक्त प्रणाली से तो परीक्षा में अच्छे परिणाम आते हैं। मान लो कुछ कारण वशतः अच्छे परिणाम नहीं आने पर नकारात्मक विचार या कार्य न करके पुनः सफलता के लिये पुरूषार्थ करना चाहिये। अनेक समय विफलता से भी शिक्षा, प्रेरणा लेकर अनेक व्यक्ति महान् सफलता को प्राप्त किये हैं। केवल शैक्षणिक परीक्षा में सफलता कोई जीवन की सफलता का माप दण्ड नहीं है । शिक्षा में पिछडे हुऐ भी एडिसन ने प्रायः 1100 वैज्ञानिक उपकरण बनाये, न्यूटन ने भौतिक के तीन नियम की खोज की, आईन्स्टीन $E=mc^2$ सापेक्ष सिद्धान्त की खोज करके महान् वैज्ञानिक बने, मोहनदास महात्मा गाँधी बने, रविन्द्रनाथ ठाकुर नोबल पुरस्कार विजेता विश्व कवि बने, केदारनाथ पाण्डे महापंडित राहुल सांस्कृतायन बने, धीरूभाई अम्बानी उद्योगपति बने, बिल गेट्स पृथ्वी के सबसे अमीर बने, वाल्मीकी, कबिर, सुरदास, तुलसीदास आदि महान् कवि बने हैं।

संदर्भ- सूची

I T.V., वैज्ञानिक साहित्य

(1) डिस्कवरी चैनल
(2) नेशनल जियोग्राफि चैनल
(3) ब्रह्माण्ड दर्शन
(4) अन्तरिक्ष की रोचक बातें
(5) मानव की रोचक बातें
(6)पृथ्वी की रोचक बातें
(7) आहा जिदंगी
(8) अनेक वैज्ञानिक शोध लेख
(9) इतिहास दर्शन
(10) अनेक पत्र-पत्रिकायें
(11)आदमी की कहानी
(12) आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान
(13)Cosmology of old and new

II जैन धर्म के साहित्य

(1) गो. जीव काण्ड (2) भगवती आराधना
(3) आत्मानुशासन (4)कार्तिकेयानुप्रेक्षा (5)प्रवचनसार
(6)जीवाजीवाधीगम सूत्र (श्वेत. जैन) (7)उत्तराध्ययन सूत्र (श्वेत.जैन)

III वैदिक साहित्य

(1) विष्णु पुराण (2) ब्रह्मवैवर्त पुराण
(3)योग वाशिष्ठ (4) उपनिषद
(5) योग दर्शन

VI आ. कनकनन्दी गरुदेव (लेखक के) साहित्य

(1) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा (2) ब्रह्माण्ड एवं प्रति ब्रह्माण्ड
(3) आध्यात्मिक मनोविज्ञान (इष्टोपदेश)
(4) ध्यान का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण
(5) धर्म दर्शन एवं विज्ञान
(6) आदर्श विचार-विहार-आहार

आचार्य कनकनन्दी जी के विविध शोध पूर्ण-ग्रन्थ

I आध्यात्मिक

	मुल्य
1) अनेकान्त सिद्धान्त (द्वि.सं.)	41
2) अहिंसामृतम् (द्वि. सं.)	25
3)अनेकान्त के प्रकार्श में मोक्षमार्ग	21
4) अपुनरागमन पथ: मोक्षमार्ग	05
5)आदर्श नागरिक की प्रायोगिक क्रियायें	05
6)आहार दान से अभ्युदय	9
7)उपवास का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण	15
8) जीवन्त धर्म सेवा धर्म	11
9) तत्त्वानुचिन्तन (द्वि. सं.)	30
10) दिगम्बर साधु का नग्नत्व एवं केशलोंच (हिन्दी, मराठी, गुजराती, उर्दू (11सं.)	5
11) धर्म, जैन धर्म तथा भ. महावीर	25
12) बन्धु बंधन के मूल	41
13) विनय मोक्ष द्वार	6
14)विश्व धर्म सभा (समोवशरण)	21
15) क्षमा वीरस्य भूषणम् (तृ.सं.)	25
16) श्रमण संघ संहिता	30
17) त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य (द्वि. सं.)	25

II आध्यात्मिक-विज्ञान(गणित)

1) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा	201
2) धर्म विज्ञान बिन्दु	15
3)धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.1) स.सं.	15
4)धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.2) ष.सं.	20
5)धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका-(पु.3) ष.सं.	30
6)धर्म दर्शन एवं विज्ञान (द्वि.सं.)	51
7)ब्रह्माण्डीय जैविक-भौतिक एवं रसायन विज्ञान-	125
8) ब्रह्माण्ड के रहस्य	25
9) ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्ड : धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण-	15

10) विश्व विज्ञान रहस्य	100
11)विश्व प्रति विश्व एवं श्याम-विवर	25
12) वैज्ञानिक आईन्स्टीन के सिद्धान्तों को पुन: परीक्षण की आवश्यकता-	15
13)ब्रह्माण्ड-काल-आकाश एवं जीव: अनन्त (बडा)	201
14)ब्रह्माण्ड-काल-आकाश एवं जीव: अनन्त	25

(III) आध्यात्मिक मनो-विज्ञान

1)अतिमानवीय शक्ति (द्वि. सं.)	31
2) क्रान्ति के अग्रदूत (द्वि. सं.)	21
3) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेशण (द्वि. सं.)	45
4) ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण (द्वि. सं.)	31
5) लेश्या मनोविज्ञान (द्वि. सं.)	11

(IV) शिक्षा-मनोविज्ञान

1) आचार्य कनकनन्दी दृष्टि में शिक्षा	11
2) नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान	40
3) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान(बृहत्)	201
4) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (छोटा)	21

(V)शोध (धार्मिक,दार्शनिक,वैज्ञानिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक)

1) अग्नि परीक्षा	11
2) अनुभव चिन्तामणि	10
3) ऊठो ! जागो ! प्राप्त करो (हिन्दी, कन्नड)	11
4) करें साक्षात्कार यथार्थ सत्य का	50
5) करें साक्षात्कार यथार्थ धर्म एवं भाव का	40
6) जैन धर्मावलम्बी संख्या और उपलब्धि	21
7) जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र	10
8) जैन धर्मावलम्बिओं की दिशा-दशा-आशा	5
9) जैन एकता एवं विश्व शान्ति	5
10) धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन (द्वि.सं.)	10
11) नग्न सत्य का दिग्दर्शन	15
12) निकृष्टतम स्वार्थी तथा क्रूरतम प्राणी मनुष्य	10
13) प्रथम शोध बोध-आविष्कार एवं प्रवक्ता-	25

14) प्राचीन भारत की 72 कलायें 11
15) भ्रष्टाचार उन्मूलन 5
16) भारत को गारत एवं महान् भारत बनाने के सूत्र 5
17) भारत के सर्वोदय के उपाय 5
18)मानवीय निकृष्ट संघर्ष का इतिहास 10
19)मेरा लक्ष्य-साधना एवं अनुभव 10
20) ये कैसे धर्मात्मा, निव्यसनी राष्ट्र सेवी 11
21) व्यसन का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण (तृ.सं.) 30
22)विज्ञान को भी अविज्ञात सत्य 20
23)शाश्वत समस्याओं का समाधान 18
24) शिक्षा, संस्कृति एवं नारी गरिमा 61
25) संगठन के सूत्र (द्वि.सं.) 25
26) संस्कार (हिन्दी, गुजराती,मराठी, कन्नड) 15 वां. सं. 10
27) संस्कार (बृहत्) 30
28) सत्यान्वेषी आ. कनकनन्दी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व 5
29) संस्कृति की विकृति 10
30)संस्कार और हम 25
31)हिंसा की प्रतिक्रिया है : प्राकृतिक प्रकोपादि 25
32)क्षमा वीरस्य भूषणम् (तृ. सं.) 21
33)विभिन्न क्रम विकासवाद एव परम आध्यात्मि विकासवाद 25
34) भारत की अन्तरंग खोज 10
35) विभिन्न भावात्मक प्रदूषण एवं भ्रष्टाचार: कारण तथा निवारण 15
36) वर्तमान की आवश्यकता : धार्मिक उदारता न कि कट्टरता 15

VI अनुवाद, टीका,समीक्षा(आध्यात्मिक विज्ञान)

1)इष्टोपदेश (आध्यात्मिक- मनोविज्ञान) 51
2) पुरूषार्थसिद्धयुपाय (अहिंसा का विश्वस्वरूप) 101
3) विश्व द्रव्य-विज्ञान (द्रव्य संग्रह) 75
4)स्वतंत्रता के सूत्र (मोक्ष शास्त्र)द्वि. सं. 101
5) सत्यसाम्यसुखामृतम् (प्रवचनसार) 301

VII मीमांसा,समालोचना,संकलन

1)कौन है विश्व का कर्त्ता- हर्त्ता-धर्त्ता? 11
2)ज्वलन्त शंकाओं का शीतल समाधान (द्वि. सं.) 41
3)जिनार्चना पुष्प-1(तृ.सं.) 41
4) जिनार्चना पुष्प-2 21
5) निमित्त उपादान मीमांसा (द्वि.सं.) 7
6) पुण्य पाप मीमांसा (द्वि.सं.) 15
7) पूजा से मोक्ष, पुण्य, पाप भी 21
8) भाग्य एवं पुरूषार्थ (हिन्दी, मराठी) पं.सं. 15
9) शोधपूर्ण ग्रन्थ तथा ग्रन्थ कर्त्ता आ.कनकनन्दी- 10
10)अमृतत्त्व की उपलब्धि के हेतु समाधि - मरण 40
11) परोपदेश कुशल बहुतेरे.... 5

VIII इतिहास

1) अयोध्या का पौराणिक, ऐतिहासिक एवं राजनैति विश्लेषण 11
2) ऋषभ पुत्र भरत से भारत (द्वि. सं.) 21
3) धर्म प्रर्वतक 24 तीर्थंकर (द्वि. सं.) 21
4)पार्श्वनाथ का तपोपसर्ग कैवल्य धाम बिजौलिया 15
5)भारतीय आर्य कौन कहाँ से- कब से कहाँ के ? 25
6)युग निर्माता भ.ऋषभदेव (द्वि. सं.) 41
7)युग निर्माता भ.ऋषभदेव (पद्यानुवाद) 5
8)विश्व इतिहास 25

(IX)स्मारिका (वैज्ञानिक संगोष्ठी)

1) कर्म सिद्धान्त और उसके वैज्ञानिक मनोविज्ञान एवं सामाजिक आयाम- 60
2) शिक्षा-शोधक-स्मारिका- 100
3)स्मारिका (स्वतंत्रता सूत्र में विज्ञान) 81
4)स्मारिका (स्वतंत्रता के सूत्र में विज्ञान) 51
5)जैन धर्म में विज्ञान 150
6) भारतीय संस्कृति में विश्व शान्ति और पर्यावरण सुरक्षा के सूत्र 20

X स्वप्न,शकुन-भविष्य विज्ञान, मंत्र,सामुद्रिक शास्त्र (शरीर से भविष्य ज्ञान)

1) भाव-भाग्य तथा अंग-विज्ञान (सर्वांग विज्ञान की वैज्ञानिक गवेषणा) 151
2)भविष्य फल विज्ञान (द्वि.सं.) 101
3) मंत्र-विज्ञान (द्वि.सं.)- 25
4)शकुन-विज्ञान 30
5) स्वप्न-विज्ञान (द्वि.सं.) 51

XI स्वास्थ्य विज्ञान

1)समग्र स्वास्थ्य के उपाय: तपस्या 25
2)आर्दश विचार-विहार-आहार 35
3)धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान (पु.1) तृ.सं. 50
4)धर्म एवं स्वास्थ्यविज्ञान (पु.2) 21
5) शारीरीक-मानसिक-आध्यात्मिक स्वास्थ्य के विविध आयाम 101

XII प्रवचन

1)क्रान्ति दृष्टा प्रवचन 11
2)जीने की कला 7
3)भ. महावीर तथा उनका दिव्य संदेश 5
4)भारत को पुन:विश्वगुरु बनाने के लिए समग्र क्रान्ति चाहिए 11
5)मनन एवं प्रवचन 5
6)विश्व शान्ति के अमोघ-उपाय (द्वि.सं.) 10
7)विश्व धर्म के दस लक्षण 41
8)व्यक्ति एवं समाज निर्माण के आद्य कर्तव्य 15
9)शान्ति क्रान्ति के विश्व नेता बनने के उपाय 41
10)समग्र क्रान्ति के उपाय 15
11)सत्य धर्म 5

XIII)कथा

1)कथा सुमन मालिका 15
2)कथा सौरभ 21
3) कथा पारिजात 15
4) कथा पुष्पाञ्जली 15

5) कथा चिन्तामणि 15
6) कथा त्रिवेणी 8

XIV अंग्रेजी साहित्य

1) Fate and efforts 15
2) Leshya Psychology 11
3) Moral Education 25
4)Nakedness of Digambar Jain Saints and Kesh Lonch 5
5) SansKaras 5
6) Sculopr the Rishabhadev 51
7) Phylosophy of Scientific religion 51
8) What kinds of Dharmatma (piousman) these are 51

(XV) डॉ. एन. एल. कछारा के साहित्य (संस्थान के सचिव)

1) जैन कर्म सिद्धान्त: आध्यात्म और विज्ञान 50
2) समवशरण (आ. कनकनन्दी से भेट वार्ता)
3) Jain Doctrine of Karma 21

XIV प्रकाशनार्थे तैयार

1) विश्व के परम विचित्र प्राणी: मानव,-पृष्ट 400
2)पंचविध एकेन्द्रिय जीव,- पृष्ट- 200
3) विविध दीक्षा विधि,- पृष्ट -50

XVI आगामी प्रकाशनाधीन ग्रंथ

1)**न्याय,राजनीति,अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान:** पृष्ठ संख्या लगभग 1000
2)**भारत का दिव्य संदेश :** पृष्ठ लगभग 500 से 750 तक
4) **परम्परा, धर्म एवं विज्ञान :**- परम्पराओं में धर्म क्या है? अधर्म क्या है? विज्ञान क्या है? अविज्ञान क्या हैं? यह सिद्ध किया जायेगा। पृष्ठ-प्राय: 100
8)**परम पर्यावरण वैज्ञानिक तीर्थंकर एवं पर्यावरण की सुरक्षा:** पृष्ठ प्राय: 400 से 500
10) **कल्याणकारक** : जैन आयुर्वेद विज्ञान-पृष्ठ प्राय:1100 (वैज्ञानिक समीक्षा)
11)भाव ही-कल्पवृक्ष, चिंतामणि,कामधेनु - पृ. 200

जैन धर्म की कुछ विशेषतायें/ मौलिकतायें

1) जैन धर्म विश्व एवं विश्व के समस्त चेतन-अचेतन द्रव्यों को अकृत्रिम, शाश्वतिक मानता है, अतः इसके निर्माता, पालक , संहार कर्ता को नहीं मानता है।

2) प्रत्येक जीव स्व-स्व कर्म के अनुसार जन्म- मरण, सुख- दुःख को भोगता है, अतः जीव को सुख-दुःखादि देने में अन्य कोई शक्ति/ ईश्वर आदि की मान्यता नहीं है। ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त अशुद्ध संसारी जीव हैं तो अनन्तानन्त शुद्ध मुक्त जीव हैं।

3) प्रत्येक भव्य जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के माध्यम से पुरूषार्थ करते हुए भगवान् / परमात्मा बन सकता है। परमात्मा संख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त है। परमात्मा पुनः जन्म ग्रहण/ अवतार ग्रहण नहीं करते हैं।

4) जैन धर्मावलम्बी केवल मनुष्य ही नहीं हो सकते हैं परन्तु पशु- पक्षी, देव, नारकी, भूत, प्रेत, राक्षस भी हो सकते हैं। केवल इसमें शर्त है सत्य-निष्ठा, भाव की पवित्रता, व्यवहार में आदर्शता।

5) स्व कर्मानुसार मनुष्य मरकर भगवान्, देव, नारकी, पशु- पक्षी, कीट-पतंग आदि बन सकता है तो पशु मरकर देव, मनुष्य, नारकी और देव मरकर मनुष्य, पशु- पक्षी बन सकता है। देव मरकर देव एवं नारकी तथा नारकी मरकर नारकी एवं देव नहीं बन सकते हैं। पशु-पक्षी, देव, नारकी, वनस्पति, कीट - पतंग भी कालान्तर में भगवान् बन सकते हैं। भगवान् बनने के पूर्व तक प्रायः प्रत्येक जीव अनन्त बार मनुष्य, देव, नारकी, पशु-पक्षी, वृक्ष बन चुका होता है।

6) सूर्य, चंद्र, ग्रह आदि असंख्यात-असंख्यात हैं अर्थात् इनकी संख्या अनेक करोडों-अरबों से भी अधिक हैं।

7) जैनधर्म कर्म को केवल भावात्मक संस्कार मात्र ही नहीं मानता परन्तु उसमें भौतिक-कर्म परमाणुओं को भी स्वीकार करता है।

8) विश्व के प्रत्येक चेतन, अचेतन द्रव्य परस्पर सहयोगी /उपकारी /प्रभावकारी होते हैं अर्थात् केवल **परस्परोग्रहो जीवानाम्** ही नहीं परन्तु **परस्परोपग्रहो द्रव्याणाम्** भी है। इसके बिना किसी भी द्रव्य की सत्ता, अवस्था, परिणमनशीलता, क्रिया, अस्तित्व , वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि संभव नहीं हैं, तथापि प्रत्येक द्रव्य वस्तु स्वातंत्रता की अपेक्षा पृथक्-पृथक्/ मौलिक है।

9) जैन धर्म में आंशिक सत्य को **नय** एवं पूर्ण सत्य को **प्रमाण** माना है। आंशिक को आंशिक एवं पूर्ण को पूर्ण सापेक्ष दृष्टि से मानने पर सत्य मानता है परन्तु निरपेक्ष दृष्टि से मानने पर मिथ्या / असत्य मानता है। इसको जैन धर्म के महान् सिद्धान्त अनेकान्तवाद / सापेक्षवाद या नयवाद/ स्याद्वाद कहते हैं।

10)भाव की शुद्धता के लिए सब धार्मिक व्रत-नियम, पूजा-पाठ, रीति-रिवाज, क्रिया-काण्ड हैं। यदि भाव शुद्धि के लिए व्रतादि कारण नहीं बने तो उस व्रतादि को धर्म नहीं कहा जाएगा।

11)असत् से सत् की या चेतन से अचेतन या अचेतन से चेतन की उत्पत्ति जैनधर्म स्वीकार नहीं करता है। परन्तु प्रत्येक द्रव्य में, गुणों में परिवर्तन मानता है।

12)जैन धर्म में अहिंसा , सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, मार्दव, सरलता, निर्लोभता, संयम, तप, त्याग, सत्-विश्वास, सच्चा-विज्ञान, सदाचार जीव रक्षा के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु के स्वशुद्ध - स्वरूप को सार्वभौम धर्म माना है।

आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरूदेव ससंघ के विशेष कार्यक्रम (मार्च **2007** *तक)*

1.w.w.w. jainkanaknandhi. org
2.E-mail-info@jainkanaknandhi. org.
3.राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठियाँ-8
4. धर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन-28
5. धार्मिक प्रशिक्षण कक्षाएँ-**सैकडों**
6. स्वसंघ-परसंघ के साधुओं के अध्ययन-अध्यापन के कार्यक्रम- **सैकडों**
7. प्रश्नमंच एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम, भजन, भाषण, सेवा-**सैकडों**
8. बच्चों, युवक-युवतियों को संस्कारवान् बनाना एवं उनसे आहार लेना-**हजारों**
9. हर क्षेत्र में अच्छे व्यक्तियों को एवं संस्थाओं को पुरस्कृत करना-**हजारों**
10. हर विधा के वैज्ञानिक शोधपूर्ण साहित्यों का सृजन एवं प्रकाशन 165ग्रंथ (छह भाषाओं में अनेक संस्करण) 11). कम्प्यूटराइज्ड प्रतियोगिता-11
12. अनेक विश्व विद्यालय में "**आ. कनकनन्दी साहित्य कक्ष**" की स्थापना।
13 गरीब, असहाय, रोगी, विपन्न मनुष्य एवं पशु-पक्षियों की सेवा-सहायता करना।
14 व्यक्ति से लेकर राष्ट्र एवं विश्व में समता-सुख-शान्ति-मित्रता, संगठन आदि की स्थापना के लिए प्रयास 15) धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत, मुण्फरनगर, कोटा, उदयपुर, सलूम्बर, प्रतापगढ, मुंबई, अमेरिका, सागवाडा) 16) धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर, अमेरीका) 17) जैन, हिन्दू , मुसलमान शोध छात्रों द्वारा आ. कनक नन्दी साहित्यों के ऊपर शोध (PH.D) कार्य ।

संस्थान की नियमावली

1 विवक्षित पुस्तक के प्रकाशक, द्रव्यदाता को उसे किताब की दशामांश प्रतियाँ दी जायेगी।
2 ग्रंथ प्रकाशक (द्रव्यदाता) ग्रंथमाला का आजीवन सदस्य रहेगा तथा ग्रंथमाला से प्रकाशित पुस्तक की एक-एक प्रति निःशुल्क दी जायेगी।
3 साधु साध्वी, विशिष्ट विद्वत्जन और विशिष्ट धर्मायतनों को पुस्तकें निःशुल्क दी जायेगी।
4 संस्थान से संबंधित कार्यकर्ताओं को प्रकाशित पुस्तकों की एक-एक प्रति निः शुल्क दी जायेगी।
5 संस्थान की वार्षिक सदस्यता 501 रु . एवं आजीवन सदस्यता 7001 रु . है।